CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय इतिहास संकलन समिति पत्रिका

युगाब्द ५०८७ ईस्वी १९८५ अंक ३

5657

अवध का क्षेत्रीय इतिहास विशेषांक

सम्पादक

प्रो० बी० एन० श्रीवास्तव

डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा

डॉ० देवी प्रसाद सिंह

प्रकाशक

भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश

विजयगढ़ हाउस, अस्सी

वाराणसी-२२१००५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश

विजयगढ़ हाउस, अस्सी, वाराणसी-५

समन्वयक

श्री० अनन्त रामचन्द्र गोखले
केशव स्मृति भवन
८४/११३ कार्बालो नगर,
कानपुर-२०८००३

अध्यक्ष

डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा
विजयगढ़ हाउस, अस्सी
वाराणसी-५

महामंत्री

डॉ० देवी प्रसाद सिंह
श्री गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मालटारी, आजमगढ़

कोषाध्यक्ष

प्रो० देवेन्द्र प्रताप सिंह
खनन अभियांत्रिकी विभाग
प्राद्योगिक संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५

कार्यालय मंत्री

श्री काशीनाथ शास्त्री
विजयगढ़ हाउस, अस्सी
वाराणसी-५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय इतिहास संकलन समिति पत्रिका

अंक ३

ईस्वी १९८५

युगाब्द ५०८७

अवध का क्षेत्रीय इतिहास विशेषांक

5651

BHARATIYA ITIHASA SAMKALANA SAMITI

भारतीय इतिहास संकलन समिति

उत्तर प्रदेश

सम्पादक

प्रो० बी० एन० श्रीवास्तव

डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा

डॉ० देवी प्रसाद सिंह

प्रकाशक

भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश

विजयगढ़ हाउस, अस्सी

वाराणसी-२२१००५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक :
महामंत्री
भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश
विजयगढ़ हाउस, अस्सी-
वाराणसी–५

© महामंत्री
भारतीय इतिहास संकलन समिति उत्तर प्रदेश

5651

सहयोग राशि : ६०) साठ रुपये मात्र

MUSEUM, LUCKNOW
5651

मुद्रक :
रत्ना प्रिन्टिंग वर्क्स, वाराणसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

प्रथम अनुभाग—अवध का इतिहास — पृष्ठ

अयोध्या का पारम्परिक इतिहास : मनु से महाभारत तक—जीवन उपाध्याय १-१९
कोशल की प्राचीन वंश परम्परा : महाभारत युद्ध के पश्चात्—वेदप्रकाश मिश्र २०-२७
अयोध्या का इतिहास (लगभग ३०० ई० से १२०० ई० तक)—अरविन्द कुमार सिंह २८-३५
बुद्ध के समय कोशल की धार्मिक-सामाजिक स्थिति—कृष्णदत्त बाजपेयी ३६-३८
प्राचीन कोशल के भारद्वाज ब्राह्मण—कृष्णानन्द त्रिपाठी ३९-४०
ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों की समन्वय भूमि "अवध"—श्रीकान्त पाठक ४१-४४
वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में नदी गोमती—विपुला दूबे ४५-५०
रामायण कालीन कतिपय उत्तर भारतीय यात्रा-पथ—महेशचन्द्र श्रीवास्तव ५१-५४

द्वितीय अनुभाग—पुरातत्व, स्थापत्य मूर्तिकला एवं मुद्राशास्त्र

Archaeological Significance of Sanchankot—*Amar Singh & Rakesh Srivastava* ५७-५९
सीतापुर जनपद की पुरातात्विक समीक्षा—अम्बिका प्रसाद सिंह ६०-६३
जाजमऊ उत्खनन से प्राप्त प्राचीनतम पूजा सरोवर—गिरीश चन्द्र सिंह ६४-६९
भारतीय संस्कृति का उपेक्षित केन्द्र 'सरवन'—अंगने लाल ७०-७२
जौनपुर का स्थापत्य—पारस नाथ मिश्र ७३-७६
भारतीय वास्तुकला में जौनपुर की भूमिका—रुदल प्रसाद यादव ७७-८०
तुर्कपट्टी की सूर्य प्रतिमायें एवं सूर्य मन्दिर—शशिबाला श्रीवास्तव ८१-८६
A Typological Study of Coins of Kausambi—*N. D. Dwivedi* ८७-८९

तृतीय अनुभाग—जनपदीय इतिहास

सीतापुर जनपद का इतिहास—गणेशदत्त सारस्वत ८३-१०३
लखीमपुर खीरी जनपद : ऐतिहासिकता तथा सांस्कृतिक विरासत—मानिक लाल गुप्त १०४-१०५
पिथौरागढ़ जनपद का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास—श्यामलाल १०६-११२

चतुर्थ अनुभाग—प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम

तात्याटोपे की कथित फाँसी—गजेन्द्र सिंह सोलंकी ११५-१२१
१८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में गोंडा के राजा देवीबख्श सिंह का योगदान—ओमप्रकाश शुक्ल १२२-१२७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में आजमगढ़ जनपद का योगदान—शालिग्राम शुक्ल 'नीर' १२८-१३१
१८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में गोरखपुर जनपद का योगदान—विभ्राट चन्द्र कौशिक १३२-१३५
१८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में बदायूँ का योगदान—बृजमोहन सिंह १३६-१३८

पंचम अनुभाग—प्रथम स्वतन्त्र्य संग्रामोत्तर इतिहास

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में लखनऊ की भूमिका—पारसनाथ मिश्र १४१-१४३
किसान आन्दोलन और रायबरेली (१९२०-२१ ई०)—गिरीश चन्द्र १४४-१५३
बरेली जनपद का इतिहास (१९३९-५० ई०)—कु० राकेश पन्त १५४-१५७
आजमगढ़ का राजनीतिक इतिहास—देवी प्रसाद सिंह १५८-१६५

षष्ठ अनुभाग—सामान्य

Date of the Vedic Kalpsūtra—*K. C. Varma* १६७-१९४
Comparative Philology and Arya Problem—*Shyam Sunder Mishra* १९५-२०२
Zend-Avesta : An Aryan Scripture—*K. B. Kaushik* २०३-२०६
कपिलवस्तु (पिपरहवा) से प्राप्त बुद्ध के धातु अवशेष—ठाकुर प्रसाद वर्मा २०७-२१०
महावस्तुगत राज-धर्म : स्वरूप एवं समीक्षा—रामायण प्रसाद द्विवेदी २११-२१४
प्रारम्भिक बौद्ध सङ्घ में नगर एवं ग्रामीणों का अनुपातिक प्रतिनिधित्व—सीता राम दूबे २१५-२१९
प्राचीन भारतीय साहित्य में मृत्तिका पात्र—राजाराम पाल २२०-२२७
दूरी की माप : योजन, ली, कोस, फरसङ्ग—ईश्वर शरण विश्वकर्मा २२८-२३४
साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर प्रयाग का तीर्थराजत्व—अतुल कुमार सिनहा २३५-२४०
जौनपुर की धार्मिक परम्परा—वीरेन्द्र बहादुर राव २४१-२४३
दास-जीवन एवं परिवर्तन की प्रक्रिया—देवी प्रसाद सिंह २४४-२५५
घोडमंगर शैलाश्रय का गैंडे का आखेट दृश्य सिर्जापुर—राकेश तिवारी २५६-२५८
Toying with Indian History & Culture—*K. D. Bajpai* २५९-२६१
समीक्षा २६२-२६३
सङ्कल्प मन्त्राः २६४-२६८

सप्तम अनुभाग—कार्यवाही

महामंत्री की आख्या २७१-२७२
चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन तथा अवध के क्षेत्रीय इतिहास संगोष्ठी पर स्वागत भाषण २७३-२७४
उद्घाटन भाषण २७५
फलक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम अनुभाग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अयोध्या का पारम्परिक इतिहास-मनु से महाभारत युद्ध तक

जीवन उपाध्याय*

प्राचीन भारतीय इतिहास की संरचना में महाकाव्यों तथा पुराणों से प्रभूत सहायता मिलती है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय की उपेक्षा से भारत के इतिहास की रचना सम्भव नहीं। वायुपुराण[1] के उल्लेख—'सकल पुराण राजर्षि चरिताभिज्ञाः'—के आधार पर अनेक विद्वानों ने पुराणों की वंशावली को श्रद्धा पूर्वक स्वीकार किया है। प्राचीन भारत का परम्परागत इतिहास मनु पुत्रों से विस्तीर्ण माना गया है। पार्जिटर महोदय ने वैवस्वत मनु के नौ पुत्रों में इक्ष्वाकु को जेष्ठ पुत्र माना है।[2] इसी इक्ष्वाकु के पुत्र विकुक्षि ने इक्ष्वाकु वंश (सूर्य वंश) की स्थापना की।[3] मनु ने अपने साम्राज्य को १० भागों में विभक्त कर दिया और इस विभाजन में इक्ष्वाकु को मध्यदेश[4] मिला जिसकी राजधानी अयोध्या थी और जो कालान्तर में कोशल के नाम से विख्यात हुआ।

ऋग्वेद में कोशल जनपद का उल्लेख नहीं है, लेकिन इसके दो महान विजयी राजाओं इक्ष्वाकु और मान्धाता के नाम उल्लिखित हैं। उत्तर वैदिक काल में शतपथ ब्राह्मण सदानीरा नदी (बड़ी गंडक) को कौशल और विदेह की सीमा बताता है।[5] अथर्ववेद में अयोध्या का वर्णन है।[6] ऐसा लगता है कि अथर्ववेद की रचना के बाद कोशल नाम काफी प्रचलित हो गया था। महाकाव्यों और पुराणों में न केवल कोशल का नामोल्लेख है बल्कि उसका पूरा इतिहास भी वर्णित है।

अयोध्या के इक्ष्वाकु शासकों की वंशावली लगभग सभी पुराणों में मिलती है।[7] लेकिन सभी पुराणों में यह वंशावली एक सी वर्णित नहीं है। कभी-कभी एक ही राजा के विभिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न नाम भी मिले हैं, जो कालक्रम सम्बन्धी महत्वपूर्ण भ्रम उत्पन्न करते हैं, जैसे—काकुत्स्थ के उत्तराधिकारी सुयोधन को ब्रह्म, भागवत, वायु और हरिवंश पुराणों में अनेना कहा गया है।[8] जबकि अन्य पुराण उन्हें अरिनाभ कहते हैं।[9]

हमारे पास ऐसा कोई आधार नहीं जिसके अनुसार हम किसी एक पुराण की वंशावली और कालक्रम को स्वीकार कर सकें। अतः अधिकाधिक वर्णन-साम्य को आधार मानकर ही यहाँ वंशावली और कालक्रम प्रस्तुत करेंगे।

---

* प्रा० भा० इ० सं० एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५

१. **वायु पुराण**, ३।८७।
२. पार्जिटर, एफ० ई०, **ऐंन्सियेन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन्स**, पृ० ८२-८३।
३. मजूमदार, रमेश चन्द्र, **दि वैदिक एज**, पृ० २७६।
४. मजूमदार, आर० सी०, **उपरोक्त**, पृ० २७९।
५. **शतपथ ब्राह्मण** १।४।१-१ आदि।
६. अष्ट चक्रा नवद्वारा देवाना पूः अयोध्या।
तस्यां हिरण्ययमः कोशः स्वर्गोज्योतिषावृतः ॥ **अथर्ववेद**, १०।२।३२
७. **ब्रह्माण्ड पुराण**, ३।६३।८-२१४; **ब्रह्म**, ७-८; **वायु**, ८८।८-२१३; १२।२५-२७; **पद्म**, ५।८।१२४-१६२; **हरिवंश पुराण**, १।१०-१५; **शिव पु०** भाग २।५।३५-३९; **लिंग पुराण**, ६५-६६; **कूर्म पुराण** १।२०-२१, **विष्णु**, ४।२-४, **कल्कि**, भाग ३।३-४।
८. **ब्रह्म पु०**, ७।५२; **भागवत**, ९।६।२०; **वायु पु०**, ८८।२५; **हरिवंश**, १।११।२०।
९. **शिव पुराण**, २।५।३७।७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अयोध्या की इक्ष्वाकु-वंशावली वैवस्वत मनु से प्रारम्भ होती है जो सत्रह पीढ़ियों तक लगभग सभी पुराणों में समान रूप से वर्णित है; यथा :—

(१) मनु

पुराण विभिन्न आरम्भिक राजवंशों का उद्भव वैवस्वत मनु से बताते हैं। शतपथ ब्राह्मण में मनु का उल्लेख हुआ है।[१] भारतीय परम्पराओं में उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी कहा गया।[२] मनु ने अपना सम्पूर्ण साम्राज्य १० भागों में, नौ पुत्रों और एक पुत्री, इला, के मध्य बाँट दिया था। ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु को मध्यदेश[३] मिला, जिसकी राजधानी अयोध्या थी। इन्हीं इक्ष्वाकु से अयोध्या के इक्ष्वाकु वंश की उत्पत्ति हुई।

(२) इक्ष्वाकु

यह अयोध्या (कोशल) के प्रथम राजा हुए। पुराण इनके सौ पुत्रों का उल्लेख करते हैं।[४] इनमें शकुनि-प्रमुख पचास पुत्र उत्तरापथ में राज्य करते थे[५] और वसाति-प्रमुख[६] अड़तालिस पुत्र दक्षिणापथ में। इनके सभी पुत्रों में प्रमुख थे—विकुक्षि, निमि और दण्डक। इनमें विकुक्षि ज्येष्ठ थे।

(३) विकुक्षि

इनका अन्य नाम शशाद भी मिलता है।[७] कुछ पुराण इनके १५ पुत्रों का उल्लेख करते हैं[८] जो मेरू पर्वत के उत्तर और दक्षिण में शासन करते थे।

(४) पुरंजय या परंजय

यह विकुक्षि के ज्येष्ठ तनय थे। पुराण इन्हें काकुत्स्थ कहते हैं।[९] रामायण में इनका एक अन्य नाम बाण भी उल्लिखित है।[१०] पुराणों के वर्णानुसार इन्होंने देवासुर-संग्राम में देवताओं की सहायता की थी। यह सम्भवतः छठा देवासुर संग्राम था। इनका पुरंजय या परंजय नाम भी इन्हें अनेक नगरों और शत्रुओं को जीतने वाला सिद्ध करता है।

(५) सुयोधन

इनका अन्य नाम अनेना भी मिलता है।[११] शिव पुराण में इनको अरिनाभ कहा गया है।[१२] महाभारत के आदि पर्व में प्राचीन राजाओं की नामावली में इनका भी उल्लेख है।[१३]

(६) पृथु

यह अनेना के पुत्र थे।[१४]

---

१. **शतपथ ब्राह्मण**, १३।४।३।३।
२. पाठक, विशुद्धानन्द, **हिस्ट्री आफ कोशल अप टू दि राइज आफ मौर्याज**, पृ० ११५।
३. **ब्रह्म पुराण**, ७।२०; **मत्स्य**, १२।१९; **शिव**, २।५।३५।१९-२०; **हरिवंश**, १।१०।२०-२१। **पद्म**, ५।८।१२४; **वायु**; ८५।२१; **ब्रह्माण्ड**, ३।६०।२०; **लिंग**, १।६५।२८।
४. **विष्णु**, ४।२।११-१३, **ब्रह्म**, ७।४५-४८, **ब्रह्माण्ड**, ३।६३।८-११।
५. **विष्णु**, ४।२।१३।
६. पं० भगवद्दत्त, **भारत वर्ष का वृहत इतिहास**, पृ० ६० पर इसे विराट् पढ़ते हैं।
७. **भागवत् पुराण**, ९।६।६-११, **ब्रह्माण्ड**, ३।६३।१२-२०।
८. **मत्स्य**, १२।२६-२८, **पद्म**, ५।८।१३०-३३; **लिंग**, १।६५।३१-३२।
९. **पद्म**, ५।८।१३३, **मत्स्य**, १२।२८; **ब्रह्म**; ७।५१; **भागवत**, ९।६।१२।
१०. **वाल्मीकीय रामायण**, १।६६।२०।
११. **विष्णु पुराण**, ४।२।३३; **वायु**, ८८।१५; **हरिवंश**, १।११।२०।
१२. **शिव पुराण**, २।५।३७।७।
१३. **महाभारत**, १।१७२।
१४. **महाभारत**, आरण्यक पर्व, १९३।२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७) विश्वगश्व

पाठ भेद के कारण इनके विश्वावसु, विष्ट्राश्व, विष्टराश्व, विश्वक आदि नाम भी मिलते हैं। वायु पुराण में वृषदश्व पाठ है।[१] मत्स्य पुराण में इनका विश्वगश्व नाम ही उल्लिखित है।[२] महाभारत इन्हें पृथवी का पुत्र कहता है।[३] रामायण में इन्हें त्रिशंकु कहा गया है जो उचित नहीं लगता।

(८) आर्द्र

पं० भगवद्दत्त इन्हें विश्वगश्व का पुत्र मानते हैं।[४] डा० पाठक इनके भिन्न-भिन्न नामों का उल्लेख करते हैं[५] यथा आर्द्रक, चंद्रक, आन्ध्र और आयु।

(९) युवनाश्व प्रथम

इनका नामोल्लेख भर ज्ञात होता है।

(१०) श्रावस्त अथवा शाव

पुराणों से ज्ञात होता है कि इन्होंने श्रावस्ती नाम की नगरी बसाई थी।[६] महाजनपद काल में कोशल की राजधानी यही श्रावस्ती नगरी थी। मत्स्य और पद्म पुराण के अनुसार श्रावस्ती गौड़ देश में थी।[७] श्रावस्ती की पहचान विद्वान उत्तर प्रदेश के आधुनिक सहेत-महेत से करते हैं।

(११) वृहदश्व

महाभारत में इन्हें महाबली और सर्वास्त्रविदों में अग्रणी कहा गया है।[८] इन्होंने उत्तङ्क ऋषि[९] के आग्रह पर अपने पुत्र कुवलाश्व को धुन्धु नामक राक्षस, जिसने उत्तङ्क ऋषि के आश्रम में विध्वंस मचा रखा था, को मारने के लिए भेजा और स्वयं वन में चले गये।[१०]

(१२) कुवलाश्व या कुवलयाश्व

धुन्धु दैत्य[११] पर विजय प्राप्त करने के कारण इन्हें धुन्धुमार भी कहा जाता है। धुन्धु ने उत्तङ्क ऋषि के आश्रम में विध्वंस मचा रखा था। ऋषि के आग्रह पर राजा ने अपने पुत्र कुवलयाश्व को भेजा। कुवलयाश्व अपने २१ हजार पुत्रों (सम्भवतः सेना) के साथ राक्षस को समूल नष्ट करने के लिए प्रस्तुत हुए। पुसालकर महोदय इसको वन्य-कथा मानते हैं।[१२]

इनके तीन पुत्र थे—दृढ़ाश्व, कपिलाश्व, और चन्द्राश्व।[१३]

(१३) दृढ़ाश्व

यह कुवलाश्व के ज्येष्ठ तनय थे।

तेरहवीं पीढ़ी के बाद मत्स्य, पद्म, कूर्म और लिंग पुराण प्रमोद को दृढ़ाश्व का पुत्र और हर्यश्व का पिता बताते हैं। यहाँ मूल पाठ गड़बड़ लगता है। अग्नि पुराण का पाठ, उचित है जिससे दो अर्थों की सम्भावना बनती हैं; प्रथमतः

---

१. **वायु पुराण**, ८८।२६।
२. **मत्स्य पुराण**, १२।२९।
३. **महाभारत**, वन पर्व १९३।३।
४. पं० भगवद्दत्त, **पूर्वोक्त**, पृ० ७२।
५. पाठक, विशुद्धानन्द, **पूर्वोक्त**, पृ० ८४।
६. **ब्रह्म**, ७।५३; **वायु**, ८८।२७; **विष्णु**, ४।२।३७।
७. निर्मिता येन श्रावस्ती गौड़देशे द्विजोत्तमाः। **मत्स्य**, १२।२०।
   निर्मितायेन श्रवास्ती गौड़देशे नराधिपाः। **पद्म**, ५।८।१३५।
८. **महाभारत**, आरण्यक पर्व १९३।८।
९. **वही**, आरण्यक पर्व १९३।८।
१०. **महाभारत**, वन पर्व २०५-२०७।
११. **वायु**, ८८।२९ और आगे; **विष्णु**, ४।२।३९ और आगे।
१२. पुसालकर, ए० डी०, हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पिपुल, **दि वैदिक एज**, पृ० २७५।
१३. **विष्णु पुराण**, ४।२।४२, **शिव पुराण**, २।५।३७।३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दृढ़ाश्व से हर्यश्व हुआ[१] जो सुखदायी था।[२] द्वितीयतः दृढ़ाश्व से हर्यश्व और प्रमोदक हुए। प्रथम अर्थ में प्रमोदक, हर्यश्व का विशेषण लगता है और दूसरे अर्थ में अनुज। इस प्रकार ज्येष्ठ पुत्र हर्यश्व ही उत्तराधिकारी ठहरते हैं प्रमोदक नहीं।[३]

(१४) हर्यश्व

(१५) निकुम्भ

(१६) संहताश्व

इनको विष्णु और कूर्म पुराण में अमिताश्व[४] एवं भागवत पुराण में वर्हणाश्व कहा गया है।[५]

(१७) कृशाश्व

ब्रह्माण्ड पुराण इनकी पत्नी हैमवती दृषद्वती का उल्लेख करता है।[६]

विष्णु, ब्रह्म, वायु, शिव एवं भागवत पुराण[७] कृशाश्व के बाद प्रसेनजित् का नामोल्लेख करते हैं। पर्जिटर,[८] डी० आर० मंकद,[९] और भगवदत्त[१०] ने भी अपनी सूची में प्रसेनजित का स्थान दिया है। जबकि पद्म, कूर्म, लिंग, मत्स्य, अग्नि और हरिवंश पुराणों से इस तरह की कोई सूचना नहीं मिलती।[११] विष्णु पुराण प्रसेनजित का नामोल्लेख तो करता है लेकिन कृशाश्व से उनके सम्बन्धों पर प्रकाश नहीं डालता। भागवत पुराण प्रसेनजित को कृशाश्व का पुत्र कहता है। वायु पुराण उन्हें हेमवती का पुत्र बताता है[१२] जो सम्भवतः कृशाश्व की रानी थी।

शिवपुराण हेमवती को कृशाश्व की पुत्री कहता है। इस प्रकार प्रसेनजित् कृशाश्व की पुत्री के पुत्र हुए। शिव पुराण गौरी को प्रसेनजित की पत्नी कहता है[१३] जबकि वायुपुराण में गौरी को युवनाश्व की पत्नी कहा गया है।[१४] इन भ्रमोत्पादक सूचनाओं को देखते हुए डा० पाठक ने प्रसेनजित् को इक्ष्वाकु वंशावली में स्थान नहीं दिया है।[१५]

(१८) युवनाश्व द्वितीय

इन्हें पुराण महान राजा[१६] और धार्मिक विचारों वाला व्यक्ति कहते हैं।[१७] युवनाश्व वह प्रथम शासक हैं जिनके लिये 'महान' विशेषण का प्रयोग किया गया है। पुराणों में इन्हें अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति कहा गया है। लेकिन पुराणों से एक मात्र 'ऐन्द्रइष्टि' यज्ञ की सूचना मिलती है, जिसे उन्होंने ऋषियों के अभिमत पर पुत्र प्राप्ति के लिए किया था।

१. धुन्धुमारा स्त्रयो भूपा दृढ़ाश्वो दण्ड एव च।
कपिलोऽथ दृढ़ाश्वातु हर्यश्वश्च प्रमोदकः॥ **अग्नि पुराण**, २७२।२२।
२. **विष्णु**, ४।२।४५।
३. देखें पाठक, वि० न०, **वही** पृ० ८५।
४. **विष्णु**, ४।२।४५; कूर्म १।२०।२३।
५. **भागवत**, ९।६।२५।
६. **ब्रह्माण्ड पुराण**, २।६३।६५-६६।
७. **विष्णु**, ४।२।४७; **भागवत**, ९।६।२५; **शिव**, २।५।३७।४२; **वायु**, ८८।६४।
८. पर्जिटर, एफ० ई०, **एन्सियेन्ट इण्डियन हिस्ट्रोरिकल ट्रेडिशन्स** पृ० १४५।
९. मंकद, डी० आर०, **पुराणिक क्रोनोलाजो**, पृ७ ३४५।
१०. पं० भगवदत्त, **पूर्वोद्धृत** पृ० ७३।
११. पाठक, वि० न०, **वही**, पृ० ८६।
१२. **वायु**, ८८।६३-६४।
१३. **शिव पुराण**, २।५।३७।४१-४३।
१४. **वायु**, ८८।६५।
१५. पाठक, वि० न०, **वही**, पृ० ८६-८७।
१६. **ब्रह्म**, ७।१७।
१७. **वायु**, ८८।८५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाभारत के अनुसार इन्होंने सहस्र अश्वमेध एवं अन्य यज्ञों द्वारा धर्म की रक्षा की, तथा प्रभूत दान दिये। पुराणों के अनुसार इन्होंने पौरव मतिनार की कन्या गौरी से विवाह किया[१] जिनसे मान्धाता उत्पन्न हुए।

(१९) मान्धाता

मान्धाता के काल तक कोशल एक साम्राज्यीय शक्ति बन चुका था जिसका भरपूर लाभ इन्होंने उठाया। यह अयोध्या के इक्ष्वाकु कुल के प्रथम चक्रवर्ती नरेश थे। गोपथ ब्राह्मण में इन्हें सप्तद्वीप पृथ्वी का विजेता कहा गया है।[२] अपने विस्तृत अभियानों द्वारा मान्धाता ने न केवल अपनी शक्ति, प्रतिष्ठा और प्रभुता में वृद्धि किया बल्कि अपने साम्राज्य का विस्तार भी किया जो सीधे अयोध्या से शासित होता था। पुराणों[३] एवं महाभारत में[४] मान्धाता को त्रैलोक्य विजयी कहा गया है जिन्होंने इन्द्र के आधे राज्य को हस्तगत कर लिया था।[५] महाभारत[६] में इनके द्वारा विजित राजाओं की सूची में अङ्गार, मरूत, असित, गय, अङ्ग और बृहद्रथ बताए गए हैं। इन राजाओं की पहचान अनिश्चित है। अङ्गार द्रह्यु राजा था, जिससे मान्धाता का दीर्घकाल (एक वर्ष) तक युद्ध हुआ था।[७]

कुछ भी हो इतना निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि मान्धाता ने विस्तृत विजयें की थीं जिनका उल्लेख पुराणों[८] और महाभारत[९] में हुआ है।

महाभारत में[१०] मान्धाता को एक सौ राजसूय तथा विभिन्न यज्ञों का कर्त्ता कहा गया है, जिनमें ब्राह्मणों को प्रभूत मात्रा में सोना और मत्स्य दान में प्राप्त हुआ था। इन्होंने राजपूताना की यादव शाखा के शासक शशविन्दु की कन्या विन्दुमती से अपना विवाह किया था।[११] शशविन्दु द०प० राजपूताना और गुजरात का शासक था।

(२०) पुरूकुत्स

इन्होंने भी अपने पिता की विजय-नीति का अनुसरण किया। विष्णु पुराण[१२] नागकन्या नर्मदा से इनके विवाह की सूचना देता है, जो दक्षिण में नर्मदा नदी तक इनके प्रभाव विस्तार को सूचित करता है। इन्होंने एक अश्वमेध यज्ञ भी किया था।[१३]

पुरूकुत्स का परवर्तीकाल कोशल के इतिहास में दुर्वलता और संकट का काल था। सम्भवतः इसका कारण दक्कन में कृतवीर्य और उसके पुत्र अर्जुन के काल में हैहयशक्ति का प्रादुर्भाव प्रतीत होता है। अयोध्या के दौर्बल्य का प्रमाण कान्यकुब्ज द्वारा, जिसे मान्धाता ने विजय अभियानों में रौंद डाला था; जाह्नु के अधीन पुनः संप्रभुता प्राप्त करना भी है। पुरुकुत्स के वाद चक्रवर्ती सगर के सिंहासन पर बैठने के पूर्व तक के राजाओं का नामोल्लेख मात्र प्राप्त होता है। इस काल के कुछ राजाओं के नाम निम्नवत हैं।

---

१. **ब्रह्माण्ड पुराण,** ३।६३।६७-६८; **वायु,** ८८।६५-६७।
२. **गोपथ ब्राह्मण,** १।२।१०।
३. **वायु,** ८८।६७; **ब्रह्माण्ड,** ३।६३।६८।
४. **महाभारत,** ३।१२६।२ और ३५, ७।६२।१, २।२९।८२।
५. **वही,** ३।१२६।३८।
६. **वही,** १३।२९।८८।
७. पुसाल्कर, ए० डी०, **पूर्वोक्त,** पृ० २७९।
८. **वायु,** ८८।६७-६८; **विष्णु,** ४।२।६५; **भागवत,** ९।६।३७।
९. **महाभारत,** ७।६२।११-१२।
१०. **वही,** १२।२९।९१।
११. **वायु,** ८८।७०-७१; **हरिवंश,** १।१२।७; **विष्णु,** ४।२।६६।
१२. **विष्णु,** ४।३।७ और १६।
१३. **शतपथ ब्राह्मण,** १४।५।४।४५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२१) त्रसदस्यु

ऋग्वेद में इनको पौरूकुत्स्य कहा गया है।[१] यह मंत्रद्रष्टा थे, ऋग्वेद ४।१२ और ८।११० इन्हीं के सूक्त हैं।[२]

(२२) संभूत

(२३) अनरण्य

अग्नि[३] और हरिवंश[४] पुराण अनरण्य की जगह सुधन्वा का नामोल्लेख करते हैं। इसी क्रम में ब्रह्म और मत्स्य पुराण त्रिधन्वा तक किसी नाम का उल्लेख नहीं करते। शिव पुराण में भी एक दीर्घ अन्तराल है—पुरूकुत्स से त्रैय्यारूणि तक—इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस काल में कोई शासक ही नहीं हुआ। मुख्य पुराणों में निम्न वंशावली मिलती है।

(२४) पृषदश्व या वृह्‌दश्व[५]

(२५) हर्यश्व

(२६) असुमनस्

विष्णु पुराण में सुमत[६] और वायु पुराण में वसुमत[७] नाम भी उल्लिखित हैं।

(२७) त्रिधन्वा

(२८) त्रैय्यारूण

त्रैय्यारूणि[८] और अरूण[९] पाठ भी मिलते हैं।

(२९) सत्यव्रत (त्रिशंकु)

तीन पापों (पिता को नाराज़ करना, गुरु की गाय की हत्या और एक कन्या को गलत ढंग से पत्नी करार देना) के कारण इन्हें त्रिशंकु कहा गया है।[१०] सम्भवतः इसी कारण इनके राजर्षि पिता ने इनको चाण्डालवास दिया था।[११]

(३०) हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र अयोध्या की इक्ष्वाकु शाखा के अति प्रसिद्ध एवं प्रातापी राजा थे। इनके द्वारा सप्तद्वीप-विजय का उल्लेख महाभारत में मिलता है।[१२] राजर्षि उशीनर की कन्या सत्यवती ने उन्हें स्वयंवर में वरा था।[१३] उशीनर का राज्य शिविपुर में था।[१४] अतः सत्यवती शैव्या भी कहलाती है। त्रिशंकु पुत्र हरिश्चन्द्र से सम्बन्धित विस्तृत कथा महाकाव्यों और पुराणों में वर्णित है जिसका विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है।

(३१) रोहित

रोहित के बारे में मात्र 'रोहितपुर' नगर बसाने की सूचना मिलती है। रोहितपुर की पहचान बिहार प्रान्त में सहसराम जिला के रोहतास से की जाती है।

रोहित के उपरान्त रुरूक तक पद्म, कूर्म, मत्स्य, अग्नि एवं शिव पुराण में एक दीर्घ अन्तराल है। रोहित और वृक

---

१. **ऋग्वेद**, ४।४२।८।९।
२. भगवदत्त, **पुर्वोध्दृत**, पृ० ९८।
३. **अग्नि**, २७२।२५।
४. **हरिवंश**, १।१२।१०।
५. भगवदत्त इसे त्रसदश्व पढ़ते है, **वही**, पृ० ६६।
६. **विष्णु पुराण**, ४।३।२०।
७. **वायु**, ८८।७६।
८. **शिव पुराण**, २।५।३७।४७।
९. **भागवत पुराण**, ९।७।४।
१०. **वायु**, ८८।१०८-९; **हरिवंश**, १।१३।१८-१९।
११. **वायु**, ८८।८२-८४।
१२. **महाभारत**, सभापर्व, १२।१५।
१३. **वही**, वन पर्व, ७७।२८-२९।
१४. भगवद्दत्त, **पूर्वोक्त**, पृ० ८८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के मध्य चार नामों की सूचना हमें विष्णु, लिंग, भागवत, वायु, और हरिवंश पुराणों से मिलती है ।

(३२) हरित

(३३) चञ्चु

इनको हारीत[१] और चम्प[२] भी कहते थे । इन्होंने चम्पा नगरी बसाया था ।[३] चञ्चु का हारीत नाम उनका हरित का पुत्र होना सूचित करता है जबकि पार्जिटर महोदय, हारीत और चञ्चु को एक ही पीढ़ी में रखते हैं ।[४]

(३४) विजय

(३५) रूरूक

भिन्नता के साथ इनके रूचक[५] मरूक[६] और कुरूक[७] नाम भी मिलते हैं ।

(३६) वृक

(३७) बाहु

वाल्मीकीय रामायण में इन्हें असित कहा गया है ।[८] वायु पुराण इनको व्यसनी कहता है ।[९] ब्रह्माण्ड पुराण में तालजंघों से पराजित हो कर इनके वन में पलायित होने का उल्लेख है ।[१०]

(३८) सगर

सगर अयोध्या की इक्ष्वाकु शाखा को भाग्य विधाता और लुप्त प्रतिष्ठा के पुर्नप्रतिष्ठापक थे । उनका बचपन औवं ऋषि के आश्रम में व्यतीत हुआ था । स्वयं औवं ने उनके जात कर्मादि संस्कार किये थे ।[११] वायु पुराण में सगर द्वारा भार्गव, जामदग्न्य राम, से आग्नेयास्त्र लेने का उल्लेख है ।[१२] ब्रह्माण्ड पुराण उनके द्वारा भार्गव के महारौद्रास्त्र के प्रयोग में लाए जाने की बात कहता है । ऐसा लगता है कि या तो औवं ने स्वयं ये अस्त्र सगर को प्रदान किए या सगर ने उनके समीप ही अस्त्र विद्या प्राप्त की । इन्हें हैहयों, तालजंघों और उनके सहयोगी उत्तर पश्चिमी कबीलों का दमन करने वाला कहा गया है ।[१३] पुराणों से सूचना मिलती है कि सगर इन्हें समूल नष्ट कर देना चाहते थे लेकिन उन्होंने समर्पण कर दिया ।[१४] अपने राज-पुरोहित वशिष्ठ की सम्मति से, सगर ने विभिन्न प्रकार के दण्ड देकर ही उन्हें छोड़ दिया । दण्ड स्वरूप इन जातियों को अपने संस्कारों से विमुख होना पड़ा । यथा-कुछ ने दाढ़ी-मूंछ मुड़वा लिया और कुछ को इसे बढ़ाना पड़ा । उत्तर पश्चिमी कबीलों में—यवन, कम्बोज, शक, पारद और पह्लवों का उल्लेख आया है । नाम के आधार पर इनकी पहचान सम्भव नहीं है । क्योंकि ये जातियाँ भारत में काफी बाद में आई । ऐसा लगता है कि ये कुछ सीमावर्ती कबीले थे जिनका वास्तविक नाम दे सकने में पुराण समर्थ नहीं हैं ।

---

१. **वायु,** ८८।१९; **ब्रह्म,** ८।२६ ।
२. **भागवत,** ९।८।१ ।
३. पुसालकर, ए० डी०, **पूर्वोक्त,** पृ० २८६ ।
४. पार्जिटर, **पूर्वोक्त,** पृ० १४७ ।
५. **लिंग,** ६६।१३ ।
६. **भागवत,** ९।८।२ ।
७. **सौर पुराण,** ३०।३८ ।
८. **वाल्मीकीय रामायण,** बाल काण्ड ६६।२४, अयोध्या काण्ड १२३।१५ ।
९. **वायु,** ८८।१२२, १२७ ।
१०. **ब्रह्माण्ड,** ६।स७।७८ ।
११. **वही,** ३।४७।८७ ।
१२. **वायु** ८८।१२४ ।
१३. **वायु** ८८।१६५-१४३; **ब्रह्म,** ८।४३।५१; **भागवत,** ९।८।५-६; **ब्रह्माण्ड,** ३।६३।१३४-१४१; **महाभारत** ३।१०६।८ ।
१४. **वही** ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भागवत पुराण सगर को चक्रवर्ती कहता है।[१] ब्रह्म, वायु, शिव पुराण एवं महाभारत महाकाव्य में इन्हें सौ अश्वमेघ यज्ञों का कर्त्ता कहा गया है।[२] महाभारत में भारत पर एक छत्र शासन करने वाले १६ राजाओं में मान्धाता की तरह सगर का भी उल्लेख हुआ है।[३]

सगर द्वारा अश्वमेघ यज्ञ किए जाने और अश्व के चोरी होने तथा कपिल ऋषि एवं साठ हजार सगर पुत्रों की कथा दीर्घकाल से प्रचलित है। सम्भवतः यहाँ साठ सहस्त्र का तात्पर्य साठ से है।

(३९) असमंजस

महाभारत में वर्णित कथा के अनुसार ये शिष्टाचार विहीन प्रजापीड़क थे जिन्हें सगर ने निर्वासित कर दिया था।[४]

(४०) अंशुमान

भागवत पुराण[५] में स्पष्ट उल्लेख है कि सगर ने अपने पौत्र अंशुमान के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया था। ऐसा लगता है कि अपने पितामह के सामरिक अभियानों में अंशुमान साथ रहे होंगे।

(४१) दिलीप प्रथम

वाल्मीकीय रामायण के अनुसार दिलीप ने तीस सहस्र वर्ष तक पृथ्वी का पालन किया।[६] यह सम्भवतः ३० वर्ष होना चाहिए। ब्रह्माण्ड पुराण में दिलीप का वनस्थ होना उल्लिखित है।[७] इसकी पुष्टि महाभारत से भी होती है।[८]

(४२) भगीरथ

महाभारत में भगीरथ को चक्रवर्ती कहा गया है।[९] पुराण[१०] और महाकाव्य[११] भगीरथ द्वारा हिमालय से गङ्गा को मैदानी भागों में लाने की मनोरम कथा प्रस्तुत करते हैं। वायु पुराण में गङ्गा को भागीरथी –भगीरथ की पुत्री– कहा गया है।[१२]

यह समस्त पौराणिक वर्णन भगीरथ के अधीन कोशल की शक्ति और साम्राज्य के उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण पूर्व में गङ्गा-सागर (जहाँ गङ्गा-समुद्र से मिलती है) तक, विस्तार की ओर संकेत करते हैं। महाभारत के रचयिता ने १६ सम्राटों की सूची में भगीरथ का भी उल्लेख किया है।[१३]

(४३) श्रुत

इनका उल्लेख मत्स्य, पद्म और अग्नि पुराण में नहीं मिलता है।

(४४) नाभाग

(४५) अम्बरीष

नाभाग के पुत्र अम्बरीष ने अपने पूर्वजों की धार्मिक

---

१. **भागवत,** ९।८।५।
२. **ब्रह्म,** ८।६१; **वायु** ८८।१५२; **शिव,** २।५।३८।५७; **महाभारत,** १२।२६।१६२।
३. **महाभारत,** १२।२९।१३२।
४. **महाभारत** , आरण्यक पर्व १०६।१०-१५।
५. **भागवत पुराण,** ९।८।३०-३१।
६. **वाल्मीकि रामायण,** बाल काण्ड, ३६।९।
७. **ब्रह्माण्ड पुराण,** ३।५६।३३।
८. **महाभारत,** आरण्यक पर्व, १०६।४०।
९. **वही,** ३।१०८।१।
१०. **ब्रह्म,** ८।७५।७ और ७८।४८।७७; **ब्रह्माण्ड,** ३।५६।३२-५३ और ६३।१६७-१६९; **भागवत,** ९।९।२:१५; **पद्म,** ६।२२।१०:२८ और २६७।५२-५४; **वायु,** ४७-२४-४०।
११. **महाभारत,** ३।१०८।२ से १०९-११६, १२।२९।६९; **वाल्मीकि रामायण,** १।४२-४४।
१२. **वायु पुराण,** ८८।१६३।
१३. **महाभारत,** १२।२९।६४-७०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परम्पराओं को कायम रखा और अनेक यज्ञ किये । अम्बरीष के काल में पृथ्वी तापत्रय (दैहिक, दैविक और भौतिक) से मुक्त थी ।[१]

(४६) सिन्धुद्वीप

इनके विषय में इतना ही ज्ञात है कि यह ऋषि थे । ऋग्वेद १०।९ इनका एक सूक्त है ।[२]

(४७) अयुतायु

अग्नि पुराण में श्रुतायु[३] ब्रह्म, हरिवंश और शिव पुराण में इनके अयुताजित नाम भी उल्लिखित हैं ।[४]

(४८) ऋतुपर्ण

वायु पुराण इनको वीरसेनात्मज नल का सखा कहता है ।[५] महाभारत के नलोपाख्यान में ऋतुपर्ण को अयोध्या में राज्य करने वाला कहा गया है ।[६] इन्हें महाभारतकार कोशलराज भी कहता है ।[७] डॉ० एस० एन० प्रधान इनको शफालों का राजा मानते हैं । शफालों का राज्य दक्कन में था ।

लेकिन डॉ० प्रधान का कथन उचित नहीं लगता । महाभारत में ऋतुपर्ण को अयोध्या में राज्य करने वाला कहा गया है ।[८] बहुत सम्भव है अयुतायु का एक नाम भङ्गाश्विन भी हो । इसो आधार पर भाङ्गाश्विन ऋतुपर्ण का विशेषण हो गया ।

(४९) सर्वकाम[९]

ब्रह्मपुराण का आत्तपर्णि[१०] और हरिवंशपुराण का आर्तपर्णि[११] इनके गोत्र नाम माने जा सकते हैं ।

(५०) सुदास

अग्नि, शिव, मत्स्य और पद्म पुराण में इनका उल्लेख नहीं है । इनकी सूचना हमें बाल्मीकीय रामायण से ही मिलती है ।[१२]

(५१) मित्रसह

यह सौदास, कल्माषपाद[१३] और कुल्साषाघ्रि[१४] नाम से भी जाने जाते हैं । डॉ० एस० एन० प्रधान कल्माषपाद को दक्षिण कोशल का शासक मानते हैं,[१५] जो उचित नहीं है । महाभारत इन्हें अयोध्या का शासक कहता है ।[१६] वाल्मीकीय रामायण इनका उल्लेख राम के पूर्वज राजा के रूप में करता है । पुराणों और महाभारत के संयुक्त अध्ययन से दो शाखाएँ उभर कर सामने आती हैं । पद्म, ब्रह्म, मत्स्य, अग्नि,

१. **वायु पुराण**, ८८।१७२ ।
२. भगवद्दत्त, **पूर्वोध्दृत**, पृ० ११० ।
३. **अग्नि**, २७२।३० ।
४. **ब्रह्म**, ८।७९; **हरिवंश**, १।१५।१८, **शिव**, २।५।३९।१० ।
५. **वायु**, ८८।१७४-१७५ ।
६. **महाभारत**, वनपर्व ६८।२-३ ।
७. **वही**, ७२।८ ।
८. **वही**, ६८।२-३ ।
९. **हिस्ट्री ऑफ कोशल अप टू दो राइज़ ऑव दी मौर्याज़ में** पृ० ५१ पर सर्वकर्मा मुद्रित है । सम्भव है यह मुद्रण-दोष हो ।
१०. **ब्रह्म**, ८।८० ।
११. **हरिवंश**, १।१५।२० ।
१२. **वाल्मीकि रामायण**, ७।६५ ।
१३. **विष्णु**, ४।४०; **लिङ्ग**, ६६।२६; **ब्रह्म**, ८।८१; **हरिवंश**, १।१५-२१; **वायु**, ८८।१७६ ।
१४. **भागवत**, ९।९।१८ ।
१५. प्रधान, एस० एन०, **क्रोनोलॉजो ऑफ एन्शियैन्ट इण्डिया**, पृ० १५० ।
१६. **महाभारत**, १।१७७।३६ और ३८ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हरिवंश और शिव पुराण जिस शाखा का प्रतिपादन करते हैं सम्भवतः वह ज्येष्ठ शाखा थी जिसका शासन अयोध्या में था। विष्णु, कूर्म, लिङ्ग, भागवत, कल्कि, वायु और सौर पुराण जिस शाखा का प्रतिपादन करते हैं वह कनिष्ठ शाखा थी।[1] महाभारत से कल्माषपाद के दो पुत्रों का ज्ञान होता है—सर्वकर्मा[2] और अश्मक।[3] अश्मक ने पौदन्य नामक नगरी बसाई थी जिसकी पहचान प्रधान महोदय ने[4] बौद्ध साहित्य में वर्णित अश्मकों की राजधानी पौतन्न से की है जिसे दक्कन में गोदावरी तट पर होना चाहिए। अगर महाभारत के आधार पर अश्मक की पहचान अश्मकों के पूर्वज और आदि पुरुष के रूप में कर लिया जाय तो कोई समस्या नहीं रह जाती और इस प्रकार सर्वकर्मा से आरम्भ होने वाली शाखा उत्तरी कोशल की इक्ष्वाकु शाखा मानी जा सकती है। यथा :—

(५२) सर्वकर्मा

(५३) अनरण्य

(५४) निघ्न

इसके दो पुत्र थे अनमित्र और रघु। मत्स्य पुराण में कहा गया है कि अनमित्र वन को चले गये।[5] अतः इनके अनुज रघु राजा बने।

(५५) रघु प्रथम

(५६) दुलिदुह

यह अनमित्र के पुत्र थे।[6] महाभारत के आदिपर्व में इनका उल्लेख हुआ है।[7] इनको शिव पुराण में मुण्डिदह भी कहा गया है।

(५७) दिलीप द्वितीय

इन्हें खट्वाङ्ग भी कहा जाता था।[8] दिलीप, मित्रसह कल्माषपाद के बाद वंशावली बताने वाली पुराण की दोनों शाखाओं में उल्लिखित है। कल्माषपाद के बाद कोशल दो भागों में विभक्त हो गया था जिसे दिलीप ने एक साथ मिला दिया।[9] दिलीप को महाभारत में वर्णित १६ सम्राटों की सूची में महान दान दाता और धार्मिक कार्यो का सम्पादन करने वाला कहा गया है।[10] महाभारतकार आगे कहते हैं कि दिलीप के दरबार में तीन स्वर सदा गूंजते रहते थे—स्वाध्याय, धनुषटङ्कार, और याचकों की 'हमें दो-हमें दो'।[11]

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि दिलीप ने न केवल अपने साम्राज्य को सुदृढ़ एवं व्यवस्थिति किया, बल्कि सांस्कृतिक उत्थान में भी उन्होंने रूचि लिया। उनको पत्नी सुदक्षिणा मगध की राजकुमारी थीं जिनसे रघु उत्पन्न हुए। दिलीप की प्रजा सुखी थी।[12] और उन्होंने सौ अश्वमेध यज्ञ किये।[13]

दिलीप के उपरान्त पुराणों के पाठ में महत्वपूर्ण अन्तर दिखाई पड़ता है। कुछ पुराण दीर्घबाहु[14] को स्वतन्त्र शासक

---

१. पाठक, वि० न०, **पूर्वोध्दृत**, पृ० ९२।
२. **महाभारत,** १२।४९।७७-७८।
३. **वही,** १।१४७।४७।
४. प्रधान, एस० एन०, **पूर्वोध्दृत**, पृ० १५०।
५. **मस्त्य,** १२।४८।
६. **वायु,** ७०।४७-४८, ९८।८९-९२।
७. **महाभारत,** १।१७३।
८. **विष्णु,** ४।४।८१; **वायु,** ८८।१८२, **कल्कि,** ३।३।२१।
९. पाठक, वि० न०, **पूर्वोध्दृत**, पृ० १५२।
१०. **महाभारत,** १२।२९।७।८०।
११. **महाभारत,** १२।२९।७९।
१२. **रघुवंश,** १।६३।
१३. **वही,** ३।३८-३९।
१४. **विष्णु,** ४।८३; **कूर्म,** १।२१।१६; **लिङ्ग,** ६६।३७; **शिव** २।५।३९।१६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उल्लिखित करते हैं। ब्रह्म पुराण[१], हरिवंश पुराण[२] और कल्कि पुराण[३] दीर्घवाहु को रघु की उपाधि बतलाते कालिदास भी रघु को दिलीप का सीधा उत्तराधिकारी बतलाते हैं।[४]

(५८) रघु द्वितीय

कालिदास ने रघुवंश में रघु के चरित्र का विशद् वर्णन किया है। कालिदास ने रघु द्वारा जिन जातियों के पराजित होने का उल्लेख किया है वे भारत में काफी बाद में आईं, जैसे शक, पहलव आदि। अतः हम इतना ही कह सकते हैं कि रघुवंश का वर्णन यद्यपि अतिशयोक्ति पूर्ण है फिर भी इतना अवश्य है कि रघु महान थे और उन्होंने विस्तृत विजयें की थीं जिनका वर्णन कालिदास ने बढ़ा-चढ़ा कर किया है।

(५९) अज

अज को किसी भी युद्ध का जेता नही कहा गया है। ऐसा लगता है कि अज को जो कुछ भी अपने पिता से उत्तराधिकार में मिला, इन्होंने उसे सुरक्षित रखा।[५] विदर्भ राज ने अपनी बहन इन्दुमती के स्वयंवर में इन्हें आमंत्रित किया था।[६] इन्दुमती की अल्पायु में ही मृत्यु हो गई। शोक-विह्वल अज ने गङ्गा और सरयू के संगम के निकट आत्म बलि दे दिया।[७]

(६०) दशरथ

दशरथ कोशल की इक्ष्वाकु शाखा के महान शासक थे। वाल्मीकीय रामायण में दशरथ की कथा विस्तार से दी गई है।[८] दशरथ ने पुत्र प्राप्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ किया। यज्ञ की सारी व्यवस्था शृङ्ग और वशिष्ठ ऋषि की देख-रेख में की गई। जब सारी व्यवस्था हो गई तब सभी मित्र पड़ोसी राजाओं को निमंत्रण भेजा गया। इन राजाओं में मिथिला के जनक, काशीराज, दशरथ के श्वसुर कैकेय और उनके पुत्र अश्वपति, अंग राज रोमपाद, तथा सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र और दक्कन के अनेक राजाओं के आमंत्रित किये जाने का उल्लेख है। ऐसा लगता है कि इन राजाओं में से कुछ तो उनके मित्र होंगे और कुछ उनकी सम्प्रभुता स्वीकार करते होंगे।

दशरथ महान यज्ञकर्ता थे। उन्हें रामायण में अनेक अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञों का करने वाला कहा गया है।[९] दशरथ के अन्तिम दिन अत्यन्त कष्टमय बीते। उनकी दो रानियाँ-कौशल्या और सुमित्रा—पहले से ही थीं। जब उनसे सन्तान नहीं हुई, तो दशरथ ने कैकेय कुमारी कैकेयी से तीसरा विवाह कर लिया। स्वभावतः इससे पारिवारिक कलह उत्पन्न हुआ, जो अन्त में उत्तराधिकार के प्रश्न में बदल गया।[१०]

(६१) राम

राम अयोध्या की इक्ष्वाकु शाखा के महानतम राजा थे। वृतान्त वाल्मीकि रामायण में वर्णित है। यहाँ हम कुछ बातें अति संक्षेप में कहेंगे।

राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र और वास्तविक उत्तराधिकारी थे। लेकिन उन्हें अपनी विमाता कैकेयी के कारण पितृ आज्ञा का पालन करते हुए, पत्नी सीता और अनुज लक्ष्मण के साथ १४ वर्ष के लिए दण्डकारण्य में निर्वासित होना पड़ा। कुछ स्थानों को छोड़कर, जहाँ ऋषि मुनियों ने आश्रम बना रखे

---

१. **ब्रह्म,** ८।८५।
२. **हरिवंश,** १।१५।२५।
३. **कल्कि,** ३।३।२१।
४. **रघुवंश,** तृतीय सर्ग।
५. पाठक, वि० न०, **पूर्वोध्दृत,** पृ० १५६।
६. **रघुवंश,** ५।३९।
७. **वही,** ८।३७-६५।
८. **वाल्मीकि रामायण,** १।१३।२१-२७।
९. **वाल्मीकि रामायण,** २।५।११।५।
१०. पाठक, वि० न०, **पूर्वोध्दृत,** पृ० १६०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे, दण्डकारण्य एक अत्यन्त अगम्य वन था। राम प्रयाग होते हुए नर्मदा पार गये (सम्भवतः छत्तीस गढ़ क्षेत्र), जहाँ उन्होंने १० वर्ष व्यतीत किये। तत्पश्चात् राम राक्षसों के उपनिवेश जनस्थान गये। राक्षस मुनियों को परेशान किया करते थे। मुनियों की रक्षा हेतु राम ने अनेक राक्षसों का वध किया। राक्षसराज रावण राम से बदला लेने के लिए सीता को लङ्का उठा ले गया। दक्षिण में सीता की तलाश में राम पम्पा, ऋष्यमुख पर्वत, पहुँचे। यहाँ उन्होंने वानरराज वालि द्वारा निष्काषित सुग्रीव से मैत्री किया। वालि को मारकर सुग्रीव को राजा बनाया और वानर सेना की सहायता से लङ्का पर आक्रमण कर राक्षसों को पराजित किया। राक्षसराज रावण इस युद्ध से मारा गया। रावण के अनुज विभीषण को लङ्का का राजा बना कर सीता के साथ राम वापस अयोध्या लौट आये। राम के वनवास के दिनों में भरत अयोध्या में राम के प्रतिनिधि के रूप में शासन करते रहे। राम का राज्याभिषेक हुआ। इन्होंने अनेक वर्षों तक शासन करके स्वेच्छा से इस लोक का त्याग किया।

राम कथा राम को एक आदर्श व्यक्ति एवं राजा के रूप में प्रस्तुत करती है जिसमें दो संस्कृतियों का संघर्ष दिखाया गया है। 'रामराज्य' आज भी स्वर्णयुग के रूप में लोक प्रसिद्ध है।[1]

प्रायः सभी स्रोत इस बात पर एकमत हैं कि राम के दो पुत्र थे—कुश और लव।[2] वाल्मीकि रामायण[3] और रघुवंश[4] के अध्ययन के बाद पुराणों[5] के इस कथन पर कोई सन्देह नहीं रह जाता कि राम ने अपना सम्पूर्ण साम्राज्य अपने और अपने भाइयों के पुत्रों के मध्य विभाजित कर दिया था।

राम ने अपने विजित प्रदेशों को अपने और अनुज पुत्रों में बाट दिया था।[6] कुश और लव क्रमशः कुशावती[7] और शरावती[8] या श्रावस्ती में अभिषिक्त किये गये। वाल्मीकि रामायण में यह उल्लेख है कि अपनी नवीन राजधानियों में अभिषिक्त होने के बाद कुश और लव ने अयोध्या छोड़ दिया।[9] अयोध्या के पुनर्निवेशन के प्रश्न पर पुराण मौन हैं। कालिदास के अनुसार राजधानी परित्याग से दुर्दिन में डूबी प्रजा की प्रार्थना पर कुश ने कुशावती को त्याग दिया और पुनः अयोध्या से शासन करने लगे।[10] कुश और लव के बाद की इक्ष्वाकु वंशावली दो शाखाओं में विभक्त होकर अलग-अलग चलती है। कुश से चलने वाला वंशवृत्त निम्नवत है—

(६२) कुश

कुश राम के ज्येष्ठ पुत्र थे। वह पिता की आज्ञा से कुशावती में अभिषिक्त हुए। प्रजा के आग्रह पर उन्होंने पुनः अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया और कुशावती ब्राह्मणों को दे दिया।[11] 'रघुवंश' नागराज की बहन कुमुद्वती

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिए देखें—पाठक, वि० ना०, **हिस्ट्रीऑफ कोशल अप टू दि राइज ऑफ दी मौर्याज।**
२. **विष्णु पुराण,** ४।४।१०४; **वायु,** ८८।१९८; **भागवत,** ९।११।११; **मत्स्य,** १२।५१; **रघुवंश,** १५।३२; **वाल्मीकि रामायण,** ७।६६।९।
३. **वाल्मीकि रामायण,** ७।१०।१-२ और १०७-८।
४. **रघुवंश,** १५।८९-८९, १६।३।
५. **वायु,** ८८।१८४-१९० और १९९-२००; **पद्म,** ६।२७१।५४-५५।
६. **वाल्मीकि रामायण,** ७।१०१-२ और १०७; **रघुवंश,** १५।८९-८९ और १६।३।
७. **वही,** ७।१०७।१७ और ७।१०८।४; **रघुवंश,** १५।९७; **वायु पुराण,** ८८।१९९।
८. **वाल्मीकि रामायण,** ७।१०८।५; **रघुवंश,** १५।९७; **वायु,** ८८।२००।
९. **वाल्मीकि रामायण,** ७।१०८।४-५।
१०. **रघुवंश,** १६।२५।
११. **रघुवंश,** १६।२५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से उनके विवाह का उल्लेख करता है।[१] देवासुर संग्राम में इन्द्र की मदद करते हुए वह युद्ध भूमि में मारे गये थे।[२]

(६३) अतिथि

रघुवंश से यह नेषध राज के जामाता ज्ञात होते हैं।[३]

(६४) निषध

(६५) नल

(६६) नभा

इनको नाभ भी कहा जाता था।

(६७) पुण्डरीक

कूर्म पुराण में इनका पुण्डरीकाक्ष नाम मिलता है।[४]

(६८) क्षेमधन्वा

अग्नि पुराण में इन्हें सुधन्वा कहा गया है।[५] पंचविंश ब्राह्मण में इनको क्षेमधन्वन् पौण्डरीक कहा गया है।[६]

(६९) देवानीक

(७०) अहीनगु

अहीनगु तक पुराणों की वंशावली में साम्य है लेकिन इसके बाद वे अलग-अलग वर्गों में विभक्त होकर भिन्न-भिन्न वंशावलियों का वर्णन करते हैं। पं० भगवद्दत्त के अनुसार अहीनगु का कुल दो वर्गों में विभक्त हो गया।[७] विष्णु, भागवत, हरिवंश, वायु और शिव पुराण एक वर्ग की वंशावली प्रस्तुत करते हैं जो अयोध्या के ऐक्ष्वाकु राजाओं की है। पद्म, कूर्म, लिंग, मत्स्य और अग्नि पुराण राजाओं की दूसरी सूची प्रस्तुत करते हैं। मैंने दोनों ही वंशावलियों का वर्णन राजावली में स्पष्ट रूप से किया है।

विष्णु पुराण अहीनगु और पारियात्र के मध्य रुरू का उल्लेख करता है लेकिन इसकी पुष्टि अन्य स्रोतों से नहीं हो पाती। वायु पुराण पारियात्र को अहीनगु का पुत्र कहता है।[८] अगर हम वायु पुराण के इस कथन को स्वीकार करलें तो अहीनगु के पश्चात अयोध्या की ऐक्ष्वाकु वंशावली भागवत, विष्णु, हरिवंश, वायु और शिव पुराणों के आधार पर निम्न रूप में प्रस्तुत की जा सकती है।

(७१) पारियात्र या पारिपात्र[९]

सम्भवतः यह हरिवंश[१०] और ब्रह्म[११] पुराणों में वर्णित सुधन्वा हैं।

पारियात्र के पश्चात पुराण पुनः असमंजस की स्थिति उत्पन्न करते हैं। विष्णु पुराण पारियात्र के उपरान्त दो नाम क्रमशः —देवल (दल), तथा वच्छल (या चल) का उल्लेख करता है।[१२] हरिवंश पुराण में सुधन्वा का पौत्र अनल वर्णित है।[१३] भागवत पुराण से क्रमशः वल और स्थल की

---

१. **वही**, १६।८५।
२. **वही**, १७।५।
३. **वही**, १८।१।
४. **कूर्म पुराण**, १।२१।५७।
५. **अग्नि पुराण**, २७२।२७।
६. **पंचविंश ब्राह्मण**, २२।१८।७।
७. पं० भगवद्दत्त, **पूर्वोक्त**, पृ० १३६।
८. **वही**, पृ० १३६।
९. प्रधान, एस० एन०, **पूर्वोक्त**, पृ० १२१ में इसकी पहचान **महाभारत** (३।१९२।३) में वर्णित परीक्षित से करते हैं।
१०. **हरिवंश**, १।१५।३०।
११. **ब्रह्म**, ८।९१।
१२. **विष्णु**, ४।४।१०६।
१३. **हरिवंश**, १।१५।३०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूचना मिलती है।[१] ब्रह्म पुराण सुधन्वा को शल का पितामह कहता है।[२]

इन सूचनाओं से सुधन्वा के तीन पुत्र प्रतीत होते हैं— दल, बल या वल्लाहक और शल। शल की पहचान डॉ० पाठक ने भागवत पुराण के स्थल, विष्णु पुराण के चल तथा हरिवंश पुराण के अनल से किया है।[३] इनमें अग्रज और अनुज का भेद करना कठिन है। विष्णु पुराण पहले देवल या दल नामोल्लेख करता है। संभव है दल पारियात्र के ज्येष्ठ पुत्र हों।

(७२) दल····बल····शल

(७३) उक्थ

इनके भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं। कालिदास ने उन्नाम लिखा है।[४] उक्थ को वायु पुराण में औंक,[५] ब्रह्माण्ड पुराण में उलूक,[६] ब्रह्म पुराण में उक्थ,[७] और भागवत पुराण में अर्क[८] कहा गया है। डॉ० प्रधान इनकी पहचान महाभारत में वर्णित दीर्घयज्ञ से करते हैं[९] जिनको भीम ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पूर्व पराजित किया था।[१०]

भागवत,[११] विष्णु[१२] और लिंग पुराणों[१३] से सूचना मिलती है कि महाभारत युद्ध में वृहद्रथ कौरवों की ओर से लड़ा था और अर्जुन पुत्र अभिमन्यु द्वारा मारा गया था। वृहद्रथ श्रावस्ती की इक्ष्वाकु शाखा का शासक था। इस प्रकार हम उक्थ और वृहद्रथ को समकालीन मान सकते हैं।

पुराणों से हमें उक्थ के बाद चार नामों की सूचना और मिलती है जो निम्न हैं :

(७४) वज्रनाभ

कल्कि पुराण इनको राजनाभ कहता है।[१४]

(७५) शंखन

इनको खगण,[१५] शंख,[१६] और अगुण[१७] नामों से भी उल्लिखित किया गया है

(७६) ध्युषिताश्व

इनको व्युषिताश्व,[१८] विधृत[१९] और विध्रीत[२०] नाम से भी उल्लिखित किया गया है।

१. **भागवत**, ९।१२।२।
२. **ब्रह्म**, ८।९१।
३. पाठक, विशुद्धानन्द, **पूर्वोक्त**, पृ० १०२।
४. **रघुवंश**, १८।१७।
५. **वायु**, ८८।२०५।
६. **ब्रह्माण्ड**, ३।६३।२०५।
७. **ब्रह्म**, ८।९२।
८. **भागवत**, ९।१२।२।
९. प्रधान, एस०एन०, **पूर्वोक्त**, पृ० १२७-१२८।
१०. **महाभारत**, २।३०।१-२।
११. **भागवत**, ९।१२।८।
१२. **विष्णु**, ४।४।११२।
१३. **लिंग**, ६६।४२।
१४. **कल्कि**, ३।४।२।
१५. **भागवत**, ९।१२।३।
१६. **हरिवंश**, १।१५।३२।
१७. **शिव**, २।५।३९।२४।
१८. **विष्णु**, ४।४।१०६।
१९. **भागवत**, ९।१२।३।
२०. **कल्कि**, ३।४।३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७७) विश्वसह

इनकी सूचना वायु[१] और विष्णु पुराण[२] से मिलती है।

(७८) हिरण्यनाभ

यह अयोध्या की इक्ष्वाकु शाखा के अन्तिम राजा थे। हिरण्यनाभ के पश्चात पुराणों ने श्रावस्ती की शाखा को भी अयोध्या से जोड़ दिया है। वैदिक साहित्य से स्पष्ट सूचना मिलती है कि हिरण्यनाम के पुत्र अट्णार थे[३] न कि पुष्प।[४]

डॉ० एस० एन० प्रधान के अनुसार पुष्प इक्ष्वाकु की श्रावस्ती शाखा के शासक और लव के वंशज थे।[५]

श्रावस्ती शाखा

राम ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को अपने और अनुज-पुत्रों के मध्य विभक्त कर दिया था। राम की आज्ञा से उनके ज्येष्ठ पुत्र कुश कुशावती में और कनिष्ठ पुत्र लव शरावती या श्रावस्ती में अभिषिक्त हुए। राम के पश्चात लव से प्रारम्भ होने वाली श्रावस्ती की इक्ष्वाकु शाखा में भारत युद्ध तक निम्नलिखित राजा हुए।

(६२) लव

(६३) पुष्य

कल्कि[६] और हरिवंश[७] पुराण इन्हें पुष्प नाम से उल्लिखित करते हैं।

(६४) ध्रुवसन्धि

इनको कल्कि पुराण में ध्रुव[८] और हरिवंश पुराण में अर्थसिद्धि[९] नामों से भी उल्लिखित किया गया है।

(६५) सुदर्शन

(६६) अग्निवर्ण

(६७) शीघ्रग

(६८) मरु

वायु पुराण इन्हें मनु कहता है[१०] और शिव पुराण में इनको मरूत[११] कहा गया है।

(६९) प्रसुश्रुत

(७०) सुसन्धि

(७१) अमर्ष या अमर्षण

(७२) महास्वान या अहस्वान

इनको शिव पुराण में मरूत्वन[१२] और वायु पुराण में सहस्वान[१३] नामों से उल्लिखित किया गया है।

(७२) विश्व साह्व

डॉ० पाठक इनकी पहचान विष्णु और वायु पुराणों के विश्रुतवान से करते हैं।[१४]

---

१. **वायु**, ८८।२०६।
२. **विष्णु**, ४।४।१०६।
३. **शतपथ ब्राह्मण**, १३।५।४।४।
४. पुराण पुष्य को हिरण्यानाभ का पुत्र वर्णित करते हैं। दे० **कल्कि**, ३।४।३; **हरिवंश**, १।१५।३२।
५. प्रधान, **पूर्वोक्त**, पृ० १२९ और आगे।
६. **कल्कि**, ३।४।३।
७. **हरिवंश**, १।१५।३२।
८. **कल्कि**, ३।४।३।
९. **हरिवंश**, १।१५।३२।
१०. **वायु**, ८८।२१०।
११. **शिव**, २।५।३९।२८।
१२. **शिव**, २।५।३९।३०।
१३. **वायु**, ८८।२११।
१४. पाठक, विशुद्धानन्द, **पूर्वोक्त**, पृ० १०५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७४) प्रसेनजित् प्रथम

(७५) तक्षक

(७६) बृहद्बल

यह श्रावस्त्री की इक्ष्वाकु शाखा के अन्तिम राजा थे जिन्होंने कौरवों की ओर से महाभारत युद्ध में भाग लिया था। विष्णु, भागवत और लिंग पुराणों से ज्ञात होता है कि बृहदबल महाभारत युद्ध में अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु द्वारा मारे गये थे।[1]

अयोध्या की ऐक्ष्वाकु राजावली : मनु से महाभारत युद्ध पर्यन्त

(१) मनु (नौ पुत्र और एक पुत्री)

(१) (२) इक्ष्वाकु | (२) नाभाग | (३) धृष्ट | (४) शर्याति | (५) नरिष्यन्त | (६) प्रांशु | (७) नाभानेदिष्ट | (८) करूष | (९) पृषघ्न | (१०) इला (पुत्री)

(२) इक्ष्वाकु के पुत्र: (३) विकुक्षि | निमि | दण्डक

(३) विकुक्षि

(४) पुरंजय

(५) सुयोधन = अनेना

(६) पृथु

(७) विष्वगश्व = वृषदश्व

(८) आर्द्र

(९) युवनाश्व प्रथम्

(१०) श्रावस्त = शाव

(११) वृहदश्व

(१२) कुवलाश्व = धुन्धुमार

(१३) दृढाश्व

(१४) हर्यश्व | प्रमोदक

१. **विष्णु,** ४।४।११२, **भागवत,** ९।१२।८; **लिंग,** ६६।४२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१५) निकुम्भ

(१६) संहताश्व

(१७) कृशाश्व*

(१८) युवनाश्व द्वितीय

(१९) मान्धाता

(२०) पुरुकुत्स

(२१) त्रसदस्यु

(२२) संभूत

(२३) अनरण्य

(२४) पृषदश्व = वृहदश्व

(२५) हर्यश्व

(२६) वसुमनस्

(२७) त्रिधन्वा

(२८) त्रैय्यारुण

(२९) सत्यव्रत = त्रिशंकु

(३०) हरिश्चन्द्र

(३१) रोहित

(३२) हरित

(३३) चञ्चु = हारीत

(३४) विजय

(३५) रूरुक

* कुछ विद्वान कृशाश्व के पश्चात् प्रेसर्नजित् का नामोल्लेख करते हैं लेकिन साक्ष्यों से वह श्रावस्ती शाखा का शासक प्रतीत होते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

|
(३६) वृक
|
(३७) बाहु
|
(३८) सगर
|
(३९) असमञ्जस
|
(४०) अंशुमान
|
(४१) दिलीप प्रथम
|
(४२) भगीरथ
|
(४३) श्रुत
|
(४४) नाभाग
|
(४५) अम्बरीष
|
(४६) सिन्धुद्वीप
|
(४७) अयुतायु
|
(४८) ऋतुपर्ण
|
(४९) सर्वकाम
|
(५०) सुदास
|
(५१) मित्रसह = कलमाषपाद
|
(५२) सर्वकर्मा — अश्मक

(५२) सर्वकर्मा
|
(५३) अनरण्य
|
(५४) निघ्न
|
अनमित्र — (५५) रघु प्रथम

अनमित्र
|
(५६) दुलिदुह

(५५) रघु प्रथम
|
(५७) दिलीप द्वितीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(५८) रघु द्वितीय
(५९) अज
(६०) दशरथ

- (६१) राम
  - (६२) कुश (कुशावती, अयोध्या)
    - (६३) अतिथि
    - (६४) निषध
    - (६५) नल
    - (६६) नभा
    - (६७) पुण्डरीक
    - (६८) क्षेमधन्वा
    - (६९) देवानीक
    - (७०) अहीनगु
      - (७१) पारियात्र = पारिपात्र
        - (७२) बल
          - (७३) उक्थ
          - (७४) वज्रनाभ
          - (७५) शंखन
          - (७६) व्युषिताश्व
          - (७७) विश्वसह
          - (७८) हिरण्यनाभ
        - दल
        - शल
      - सहस्राश्व
        - चन्द्रावलोक
        - तारापीड
        - चन्द्रगिरि
        - भानुश्चन्द्र
        - श्रुतायु
  - (६२ लव (शरावती = श्रावस्ती)
    - (६३) पुष्य
    - (६४) ध्रुवसन्धि
    - (६५) सुदर्शन
    - (६६) अग्निवर्ण
    - (६७) शीघ्रग
    - (६८) मरू = मनु
    - (६९) प्रसुश्रुत
    - (७०) सुसन्धि
    - (७१) अमर्ष = अम्बरीष = अमर्षण
    - (७२) महस्वान = सहस्वान
    - (७३) विश्वसाह्व
    - (७४) प्रसेनजित् प्रथम्
    - (७५) तक्षक
    - (७६) बृहद्बल
- भरत
- लक्ष्मण
- शत्रुघ्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोशल की प्राचीनवंश परम्परा–महाभारत युद्ध के पश्चात्

वेदप्रकाश मिश्र*

प्राचीन भारतीय इतिहास में महाभारत युद्ध का काल एक ऐसा महत्वपूर्ण विन्दु है जिस पर विद्वानों का ध्यान केन्द्रित होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

महाभारत युद्ध का काल यद्यपि अब तक भी निश्चित नहीं हो पाया है तो भी विद्वानों ने उस समस्या को सुलझाने का प्रयास किया है। डा० राधा कुमुद मुखर्जी[1] ने विद्वानों की मान्यताओं के आधार पर महाभारत युद्ध का काल १४०० ई० पू० निर्धारित किया है तथा एक पीढ़ी के लिए स्वीकृत अवधि को ३३ वर्ष का मानकर गणना किया है। इस आधार पर सर्वप्रथम बुद्ध से २४ पीढ़ी पूर्व की गणना द्वारा (२४ × ३३ + ६२३) = १४१५ ई०पू० में महाभारत युद्ध की तिथि पर वह पहुंचते हैं। दूसरी गणना के अनुसार, महापद्मनन्द से ३१ पीढ़ी गिनने से उस घटना का समय (३१ × ३३ + ४०२) = १४२५ ई० पू० निश्चित होगा। तीसरे, महापद्मनन्द के अभिषेक से १०५० वर्ष जोड़ने से भी वह तिथि (१०५० + ३८२) = १४३२ ई० पू० होती है। यद्यपि ये तीनों प्रमाण विभिन्न स्रोतों से संग्रहीत है तो भी लगभग एक ही तिथिक्रम सम्बन्धी परिणाम पर पहुंचते हैं।" कुछ विद्वानों ने महाभारत युद्ध तिथि ८३६[2] ई० पू० निर्धारित की है। परन्तु तिथियों के इस अनिश्चित क्रम में किसी निष्कर्ष पर पहुंचना सम्भव नहीं है।

महाभारत युद्ध के समय कोशल में दो समानान्तर वंशावलियों का ज्ञान हमें पौराणिक साक्ष्यों से होता है। प्रथम कुश[3] से प्रारम्भ होने वाली अयोध्या शाखा की वंशावली तथा दूसरी लव से प्रारम्भ होने वाली श्रावस्ती शाखा[4] की वंशावली। पार्जिटर ने इन दोनों वंशावलियों को एक साथ मानते हुए बृहद्बल तक २९ राजाओं की गणना की है। किन्तु विशुद्धानन्द[5] पाठक[6] तथा भगवतदत्त[7] ने उसकी छानबीन करके दो समानान्तर वंशावलियों को स्वीकार किया है। प्रथम

---

* प्रा० भा० इ० सं० एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. **हिन्दू सभ्यता**, अनु० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० १६७; राजकमल प्रकाशन, पटना, सं० १९७१, में महाभारत तिथि का विस्तृत उल्लेख है।

२. लाल, बी० बी०, **इण्डियन ऐन्टीक्वेरी**, १९८१; तथा इस मत के खण्डन के लिये देखें विश्वकर्मा, ईश्वर शरण, **स्मारिका**, इतिहास संकलन समिति, १९८२, पृ० ६१।

३. कुशस्य नगरी रम्या विन्ध्यपर्वतरोधसि।
कुशावतीति नाम्ना साकृता रामेण धीमता॥
रामायण, ७।१०८।४॥

४. श्रावस्तीति पुरी रम्या श्रविता च लवस्य च।
अयोध्या विजनां कृत्वा राघवो भरतस्तदा॥ **रामा०**, ७।१०८।५॥
रघुवंश, १६।११; २५, से ज्ञात होता है कि कुश ने अयोध्या वापस आकर राज्य किया था।

५. पार्जिटर, ई० एफ०, **ऐन्सियन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन्स**, पृ० १४९।

६. **हिस्ट्री आफ कोशल अप टु द राइज आफ मौर्याज**, पृ० ९८-१०३;

७. **भारतवर्ष का बृहद् इतिहास**, २, पृ० १३५-३६; डा० सीतानाथ प्रधान ने भी उस व्यतिक्रम को दूर करने का प्रयास किया है। देखें—**क्रोनोलाजी आफ ऐन्सियन्ट इण्डिया**, पृ० ११९ तथा आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अयोध्या में कुश से प्रारम्भ होकर हिरण्यनाभ तक जाती है तथा दूसरी श्रावस्ती में लव से प्रारम्भ होकर वृहद्बल तक जाती है।

कुश[1] से प्रारम्भ होने वाली अयोध्या शाखा की वंशावली का अहिनागु तक स्पष्ट उल्लेख मिलता है किन्तु अहिनागु के बाद स्थिति संदिग्ध दिखायी देती है। अहिनागु के बाद दो समानान्तर वंशावलियाँ देखने को मिलती हैं प्रथम पारियात्र से प्रारम्भ होकर अट्णार = हिरण्यनाभ तक जाती है तथा दूसरी सहस्राव से प्रारम्भ होकर श्रुतायु तक जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुश से प्रारम्भ होने वाली इस वंशावली में अहीनागु के बाद उत्तराधिकार के लिए कोई युद्ध हुआ होगा जिसमें अहीनागु के बाद पारियात्र तथा उसके उत्तराधिकारियों ने जीतकर शासन किया जिसका अन्तिम राजा अट्णार = हिरण्यनाभ हुआ जिसका भगवद्दत्त[2] ने महाभारत युद्ध में विद्यमान रहना स्वीकार किया है। उनका मत है कि हिरण्यनाभ के पश्चात इस पुराणस्थ कोशल वंशावली को लेजाना एक पुरानी भूल है।[3] हिरण्यनाभ के बाद जो वंशावली पुराणों से प्राप्त होती है वह प्रधानतः इक्ष्वाकु वंश के श्रावस्ती शाखा से सम्बन्धित है। इस प्रकार कुश से लेकर हिरण्यनाभ तक लगभग १७ राजाओं का ज्ञान होता है।

श्रावस्ती शाखा को वंशावली में महाभारत युद्ध के पूर्व डा० पाठक[4] ने १४ राजाओं[5] की गणना की है जिसका अन्तिम राजा वृहद्बल था जिसके महाभारत युद्ध में अभिमन्यु द्वारा मारे जाने का उल्लेख मिलता है।[6] ऐसा लगता है कि अयोध्या को शाखा महाभारत युद्ध में समाप्त हो गयी तथा कोशल को वंशावली श्रावस्ती में चलती रही।

महाभारत युद्ध के पश्चात् कोशल की वंशावली (श्रावस्ती शाखा) में पाचवीं पीढ़ी में दिवाकर का नाम आता है। पुराणों[7] में इसे अयोध्या को जीतने वाला कहा गया है। जयचन्द विद्यालंकार[8] ने पौराणिक आख्यानों के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि पारीक्षित वंश के राजा अधिसीम कृष्ण के समकालीन अयोध्या में दिवाकर तथा मगध में सेनजित राज्य कर रहा था। दिवाकर ने किन परिस्थितियों में श्रावस्ती के स्थान पर अयोध्या को अपना केन्द्र बनाया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। परन्तु निश्चित रूप से यह प्रक्रिया किसी विशेष परिस्थिति का परिणाम रही होगी।[9] ऐसा लगता है कि यह स्थिति केवल दिवाकर के समय तक ही रही, क्योंकि दिवाकर के पश्चात जिन राजाओं का ज्ञान होता है वे निश्चित रूप से श्रावस्ती से जुड़े हुए थे।

दिवाकर के बाद इस वंशावली में जिन राजाओं का ज्ञान होता है उनमें संजय[10] जिसे विद्वानों ने महाकोशल माना है तथा प्रसेनजित जो संभवतः महाकोशल का पुत्र[11] था, अत्यन्त प्रभावशाली थे। प्रसेनजित के बाद इस वंशावली में विडूडभ का नाम ज्ञात होता है जिसे संभवतः पुराणों में

१. **वायु पुराण,** ८८।२०१।१; **भागवत,** ९।१२।१; **पद्म,** ५।८।१५६; **विष्णु,** ४।४।१०५; **हरिवंश,** १।१५। २६; **मत्स्य** १२।५२;

२. **वैदिक वाङ्मय का इतिहास,** १, पृ० २५९।

३. **भारतवर्ष का वृहद इतिहास,** २, पृ० १३६।

४. पाठक, विशुद्धानन्द, **हिस्ट्री आव कोशल,** पृ० १०४।

५. भगवतदत्त ने बारह राजाओं का नाम गिनाया है। देखें, **भारतवर्ष का वृहद इतिहास,** २, पृ० १३९।

६. **भागवत,** ९।१२।८; **विष्णु,** ४।४।११२; **लिंग** ६६।४२;

७. **मत्स्य,** २७०।५; **वायु,** ९९।२८२।

८. **भारतीय इतिहास की रूपरेखा,** पृ० २८६।

९. देखें—**हिस्ट्री आव कोशल,** पृ० १०६-७।

१०. पाठक, विशुद्धानन्द, **वही,** पृ० १०६; भगवदत्त, **पूर्वोक्त,** पृ० २३६; पार्जिटर, **डायनेस्टो आव कलि एज,** पृ०, ६७। **मत्स्य, पुराण,** २७१।११।

११. **जातक,** भाग २, पृ० १६४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शूद्रक[१] कहा गया है। शूद्रक के पश्चात् कोशल की वंशावली में कुलक, सुरथ और सुमित्र का नाम ज्ञात होता है। सुमित्र को पुराणों में वृहद्बल के परिवार का अन्तिम प्रतिनिधि कहा गया है।[२] इस प्रकार कम से कम सुमित्र तक कोशल के सूर्यवंशी राजाओं की वंश परम्परा चलती रही। यद्यपि सुमित्र के पश्चात् कोशल के राजाओं का उल्लेख हमें नहीं प्राप्त होता है तो भी हम यह नहीं कह सकते कि सुमित्र के पश्चात् कोशल के राजाओं की वंश परम्परा का अस्तित्व ही समाप्त हो गया था।

सातवीं-छठी शताब्दी ई० पू० में उरत्त भारत की राजनैतिक स्थिति में अनेक उतार चढ़ाव आये। इस समय महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हो चुका था। जनपदों का स्थान महाजनपदों ने ले लिया था। बौद्ध ग्रन्थ 'अंगुत्तर निकाय'[३] में सोलह महाजनपदों की सूची मिलती है वह निम्नवत् है :

(१) अंग (२) मगध (३) कासी (४) कोशल (५) वज्जि (६) मल्ल (७) चेटि (चेदि) (८) वंस (वत्स) (९) कुरू (१०) पंचाल (११) मच्छ (मत्स्य) (१२) सूरसेन (१३) अस्सक (अस्मक) (१४) अवन्ति (१५) गंधार (१६) कम्बोज।

महात्मा बुद्ध के समय उत्तर भारत के चार बड़े राज्यों कोशल, मगध, अवन्ति और वत्स का उल्लेख विस्तार पूर्वक मिलता है। इस समय साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के परिणाम स्वरूप प्रत्येक राज्य अपने साम्राज्य विस्तार के लिए पड़ोसी राज्यों को हड़प लेना चाहता था। इसी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप काशी कोशल का अंग बन चुका था जिसका उल्लेख हमें जातक कथाओं[४] में मिलता है। इस समय कोशल में महाकोशल नामक राजा राज्य कर रहा था। मगध नरेश[५] विम्बिसार की अनुमानित तिथि लगभग ६०३-५५१ ई० पू० है। संभवतः महाकोशल की तिथि भी लगभग यही मानी जा सकती है। महाकोशल ने अपनी पुत्री का विवाह मगध नरेश विम्बिसार से किया तथा उसे काशी ग्राम दहेज के रूप में दिया था। कोशल तथा काशी के बीच सत्ता संघर्ष का उल्लेख हमें बौद्ध साहित्य में मिलता है।[६] अन्त में कोशल ने काशी को जीतकर अपनी सीमा में मिला लिया।

महाकोशल के बाद उसका पुत्र पसेनदी (प्रसेनजित) कोशल का राजा हुआ तथा उसने काशी पर अपना प्रभुत्व बनाये रखा।[७] इस समय महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव हो चुका था। वह बुद्ध का भक्त[८] ही नहीं अपितु बुद्ध का समकालीन एवं समान आयु[९] का भी था।

राधा कुमुद मुखर्जी[१०] ने भरहुत के एक दृश्य पर उत्कीर्ण लेख के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि प्रसेनजित बुद्ध का भक्त था जिनका अंकन धर्मचक्र के रूप में किया गया है। ऐसी संभावना व्यक्त की जा सकती है कि प्रसेनजित ने अन्तिम बार बुद्ध से यहीं भेंट किया था। परन्तु

१. **विष्णु पुराण,** ४।२२।९; **शिव पुराण,** ५।३९।४०।
२. सुमित्रस्तासुतो भावि वंश निष्ठान्त् एव हि ॥ **शिव पुराण,** २, ५।३९।४१।
इक्ष्वाकुणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति ॥ **भागवत पुराण,** ९।१२।१५-१६; इत्यादि।
३. **अंगुत्तर निकाय,** १।२१३; ४।२५२।
४. **हरितमात जातक,** नं० २३९; **वद्धकीसूकर जातक** नं० २८३।
५. **हिन्दू सभ्यता,** अनु० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० २००।
६. **दोधाति कासल जातक,** (जासवाल सं०) खंड ३, पृ० ४८७; **कुनालजातक,** नं० ५२६; **ब्रह्मदत्त जातक,** नं० ३३६ **सोननन्द** नं० ५३२ आदि।
७. **दीघनिकाय,** बम्बई वि० वि० प्रकाशन, खंड १, पृ० २६१।
८. **संयुक्त निकाय,** १।६८; १०२।
९. **मज्झिम निकाय,** २।१२४; भगवाऽपि आसीतिको अहंपि आसीतिको।
१०. **हिन्दू सभ्यता,** हिन्दी, अनु० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १९४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संयुक्त निकाय[1] में प्रसेनजित को अपनी वृद्धावस्था में साकिय जनपद के भेदलुप ग्राम के भेंट करने का उल्लेख मिलता है। इसी समय दीर्घकारायण (मंत्री) तथा पुत्र विड़ूडभ ने विद्रोह करके सत्ता हस्तगत कर लिया था जिसके परिणामस्वरूप प्रसेनजित को अपने जामाता अजातशत्रु से सहायता याचना के लिये यात्रा करनी पड़ी और उसकी राजधानी राजगृह के द्वार पर ही मृत्यु हो गयी।[2] प्रसेनजित की मृत्यु के बाद कोशल की राज्यसत्ता विड़ूडभ के हाथों में आ गयी। प्राशासनिक बुद्धि के अभाव तथा पूर्वाग्रहों से ग्रसित होने के कारण विड़ूडभ कोशल राज्य की सत्ता को स्थायी न रख सका।[3] परिणामस्वरूप कोशल का वह समृद्धिशाली साम्राज्य मगध की साम्राज्यवादी शक्ति की लपेट में आ गया।

प्रसेनजित की मृत्यु का निश्चित समय तो ज्ञात नहीं है किन्तु यह निश्चित है कि जब वह बुद्ध से मिला था उस समय उसकी अवस्था अस्सी वर्ष की थी, जो बुद्ध की अवस्था थी। उसी के तुरन्त बाद चूंकि वह राजगृह गया था, जहाँ उसके जामाता की राजधानी थी, इसलिए यह कहा जा सकता है कि उसकी मृत्यु लगभग ८० वर्ष की अवस्था में हुई होगी। डॉ० विशुद्धानन्द पाठक[4] प्रसेनजित की मृत्यु तथा बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करने की तिथि ४८३ ई० पू० स्वीकार करते हैं। लगभग यही तिथि विड़ूडभ के राज्यारोहण की भी मानी जा सकती है। इस प्रकार प्रसेनजित तथा बुद्ध की मृत्यु तथा विड़ूडभ द्वारा शाक्यों पर आक्रमण तथा लौटते समय नदी में डूब जाने की घटनायें कुछ समय के अन्तराल के साथ लगभग एक ही काल की मानी जा सकती हैं।

विड़ूडभ की मृत्यु के उपरांत कोशल की वंशावली में पुराणों[5] से चार नामों की जानकारी होती है जिनमें शूद्रक, कुलक, सुरथ तथा सुमित्र का नाम ज्ञात होता है। इनके समय की कोई महत्वपूर्ण घटना की जानकारी नहीं होती है अतः यह कहा जा सकता है कि इन चार पीढ़ियों का काल अत्यन्त अल्प था। इस प्रकार कोशल साम्राज्य मगध साम्राज्य के अन्तर्गत समाहित हो गया था तथा मगध साम्राज्य का इतिहास ही कोशल साम्राज्य का इतिहास बनकर रह गया।

नन्दों तथा मौर्यों के काल में कोशल का स्वतन्त्र उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार कुछ समय के लिए कोशल का इतिहास पूरी तरह अन्धकारमय हो जाता है। फिर भी उसे कोशल राजवंश का समूल नाश हो गया ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि राजवंशों की साम्राज्यिक सत्ताएँ तो छिनती रहती थीं परन्तु वंशोन्मूलन आवश्यक नहीं था। हो सकता है कि नन्दों तथा मौर्यों के काल में भी कोशल के राजा वहाँ अधीनस्थ के रूप में शासन करते रहे हों।

मौर्य साम्राज्य का पतन तथा शुंगवंश का उदय :

नन्दों तथा मौर्यों ने लगभग २०० वर्षों तक कोशल राज्य का सुख भोग किया। यद्यपि मौर्य काल में संभवतः सर्व प्रथम सम्पूर्ण देश एक शासन सूत्र में आबद्ध किया गया था किन्तु बाद में उनके अयोग्य उत्तराधिकारियों तथा आपसी कलह ने साम्राज्य को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होने का अवसर दिया। यह पतनोन्मुखी प्रक्रिया अशोक महान की मृत्यु के उपरान्त ही प्रारम्भ हो गयी थी। ऐसा माना जाता है कि अशोक की अयुद्ध एवं धर्म विजय की नीति ने साम्राज्य की सैनिक शक्ति को अत्यन्त ही क्षीण बना दिया था। साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाकर दूरस्थ राजाओं एवं जनराज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करनी प्रारम्भ कर दी थी। साथ ही उत्तर पश्चिमी सीमाओं पर विदेशी

---

१. **संयुक्त निकाय**, २:८९, पृ० ११८।
२. **'धम्मपद अट्ठकथा'** ४।३; **मज्झिम निकाय**, भाग २१४।९ तथा **वही**, सारनाथ सं० पृ० ३६७।
३. देखें—**डिक्शनरी आव पालि प्रापर नेम्स**, २, पृ० ८७७ तथा पाटक, विशुद्धानन्द, **हिस्ट्री आव कोशल**, पृ० २३५, तथा पाद टिप्पणी १।
४. **वही**, पृ० २३४।
५. **भागवत**, IX. १२।१५; **शिव**, ५।३९।४१; **विष्णु** IV २२।१०-११ **मत्स्य**; २७०।१४-१५; तथा **डी० के० ए०**, पृ० ६७-६८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शक्तियाँ भी अपना प्रभाव जमाने लगीं थीं। अन्तिम मौर्य नरेश बृहद्रथ अत्यन्त अयोग्य शासक सिद्ध हुआ जिसके परिणाम स्वरूप उसके प्रधान सेनापति पुष्यमित्र ने एक सैन्य संचलन के समय सेना के सामने ही सम्राट की हत्या कर दी।[1] इस घटना का उल्लेख पुराणों[2] में भी विशद रूप से मिलता है। पुराणों में पुष्यमित्र को सेनानी तथा ३६ वर्ष तक राज्य करने वाला कहा गया है तथा कलियुग में अश्वमेध यज्ञ का पुनरूद्धार करने वाला भी बताया गया है।

सेनापति पुष्यमित्र ब्राह्मण[3] धर्मावलम्बी था। विद्वानों की मान्यता है कि उसने १८४ ई० पू० में शासन ग्रहण किया। इसी तिथि को बृहद्रथ की हत्या तथा मौर्य साम्राज्य के अन्त की तिथि मानी जा सकता है।

पुष्यमित्र ने मौर्य सम्राट बृहद्रथ की हत्या करके साम्राज्य हस्तगत किया था जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। किन्तु ऐसा लगता है कि पुष्यमित्र साकेत का रहने वाला था तथा साकेत ही उसकी राजधानी थी जहाँ से उसने अश्व-मेध यज्ञ किया था।[4] इस सन्दर्भ में पतञ्जलि का महाभाष्य, गार्गीसंहिता का युगपुराण तथा धनदेव का अयोध्या अभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जिनसे इस मत की पुष्टि होती है।

पुष्यमित्र के जीवन काल में यवन आक्रमण की चर्चा पतञ्जलि तथा युगपुराण दोनों ही करते हैं[5] जिसमें यवनो द्वारा साकेत को जीतने का उल्लेख हैं। ऐसा लगता है कि उसी यवन आक्रमण के परिणामस्वरूप ही उसने बृहद्रथ की हत्या की होगी क्योंकि यवनों ने उसके पैतृक राज्य साकेत पर आक्रमण कर दिया था जो उसके लिए अपमानजनक बात थी क्योंकि वह मौर्यो की सेना का प्रधान सेनापति था। गार्गीसंहिता का युगपुराण यवन आक्रमण सम्बन्धी जो सूचना देता है वह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण होते हुए भी आज एक विवाद का विषय बना है। लेकिन इससे यह तो निश्चित हो जाता हैं कि यवनों ने साकेत, पांचाल, मथुरा तथा कुसुमध्वज (कुसुमपुर) को पादाक्रान्त किया था। किन्तु यह ज्ञात नहीं हो पाता कि यह आक्रान्ता कौन था। परन्तु युगपुराण में जिस आक्रमण की चर्चा है उसमें आक्रान्ता को 'बौद्ध धर्ममीत'[6] कहा गया है जिसे मिनांडर की ओर संकेत माना जा सकता है। मिनान्डर निश्चित रूप से बौद्ध धर्मावलम्बी था। तो भी यह एक विचारणीय प्रश्न है जिसपर इतिहास अध्येताओं को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

पुष्यमित्र के जीवनकाल में ही उसका एक पुत्र अग्निमित्र विदिशा में राज्यपाल के रूप में राज्य कर रहा था जिसकी पुष्टि मालविकाग्निमित्रम्[7] नामक नाटक से होती हैं। साथ ही अग्निमित्र के पुत्र सुमित्र[8] का उल्लेख भी हर्षचरित में मिलता है। इस प्रकार शुंग राजाओं की दो परम्पराओं का ज्ञान हमें होता है। प्रथम, सिक्कों से ज्ञात शुंगराजा तथा दूसरे, मालविकाग्निमित्रम् तथा पुराणों से ज्ञात शुंग राजा। सिक्कों से सात शुंग राजाओं की समानता पुराणों में उल्लिखित राजाओं से करना किसी प्रकार संभव नहीं है परन्तु मालविकाग्निमित्रम में सुमित्र की हत्या करने वाले जिस मित्रदेव[9] का वर्णन है वह निश्चितरूप से सिक्कों का मूलदेव

---

१. प्रज्ञा दुर्बलं च बला दर्शन व्यपदेश दर्शित शेष सैन्यः सेनानीऽनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम् ॥ **हर्षचरित**, षष्ट उच्छवास, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, पृ० ३५३।
२. **मत्स्य पुराण**, २७२।२७; **डो० के० ए०**, पृ० ३१, **भागवत पुराण**, खंड १२, पृ० ६; **हरिवंश पुराण**, भविष्यपर्व, २।४०।
३. **हरिवंश पुराण**, ३।२।४०।
४. **स्मारिका**, भारतीय इतिहास संकलन समिति उ० प्र०, पृ० ८६-८९।
५. **महाभाष्य**, भाग २, पृ० ११९; **जे० बी० ओ० आर० एस०**, १६, पृ० १८-६६।
६. धर्ममीत तथा बौद्धाः भीक्षयन्ते निर्भया जनान् ॥ १०९ ॥ **जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग**, १६, १९३०, पृ० १८-६६।
७. **मालविकाग्निमित्रम्**, अंक ५, पृ० १५; तथा शंकर पांडुरंग सं० बम्बई १८६९, पृ० १५३।
८. **हर्षचरित**, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, पृ० ३५२।
९. **वही**।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो है। इस प्रकार सुमित्र की समानता वसुमित्र से करके तथा मित्रदेव को मूलदेव माना जा सकता है। ऐसा लगता है कि पुष्यमित्र के साम्राज्य अधिग्रहण के समय भी अयोध्या में उसकी पितृ शाखा शासन करती रही और इसी परम्परा में मित्रदेव(मूलदेव) ने किसी समय उपयुक्त अवसर पर वसुमित्र (सुमित्र) की हत्या करके स्वतन्त्रता घोषित कर दिया होगा क्योंकि वह अत्यन्त विलासी[1] था। अयोध्या की इसी शाखा में धनदेव पुष्यमित्र से छठवीं पीढ़ी में हुआ जिसका उल्लेख उसने अपने अभिलेख में किया है।[2]

अयोध्या से प्राप्त होने वाले सिक्के प्रधानतया दो वर्गों में बांटे जा सकते हैं: प्रथम, देव नामान्त सिक्के तथा दूसरे, मित्रनामान्त सिक्के। इन देव नामान्त सिक्कों पर प्राप्त होनेवाले लेखों की लिपियों तथा प्रतीकों के अंकन के आधार पर, उसे पुष्यमित्र से जोड़ते हुए हमने जो तालिका तैयार की है वह निम्नवत है—पुष्यमित्र (१) मूलदेव, (२) वासुदेव (३) विशाखदेव (४) फल्गुदेव (५) धनदेव (६) शिवदेव (७) पाथ (प्रौष्ठ) देव (८) नरदत्त (९) जेष्ठदत्त। बेलालहरी[3] का मत है 'कि यदि अयोध्या की धनदेव शाखा पुष्यमित्र के जीवन काल में ही आरम्भ हो गयी मानी जाय तो धनदेव की शाखा का शासन काल का अन्त, जैसा कि वह स्वयं को छठीं पीढ़ी में बताता है, प्रथम शताब्दी ई० पू० के अन्त में मानें तो बाद के अन्य राजाओं का शासनकाल लगभग सौ वर्ष या इससे कुछ कम होगा। इस प्रकार समस्त राजाओं के शासन का अन्त प्रथम शताब्दी ई० के अन्तिम चरण तक पहुँचता है।' किन्तु कनिंघम[4] तथा एलन[5] ने इन राजाओं को ईसा की द्वितीय शताब्दी में माना है। निसार अहमद[6] की धारणा है यदि अयोध्या के देव नामान्त राजाओं का आरम्भ १२३ ई०पू० में रखें तथा उनका सम्पर्ण शासन काल सौ वर्ष माने तो उनके शासन का अन्त प्रथम शताब्दी ई० पू० के अन्त में दत्त नामान्त राजाओं द्वारा माना जा सकता है।' जगन्नाथ[7] का मत है कि 'मूलदेव से प्रारम्भ होने वाले ये सिक्के प्रथम शताब्दी ई० पू० के अन्त में मिलने बन्द हो जाते हैं तथा द्वितीय शताब्दी ई० के अन्त तक इन राजाओं का कोई सिक्का नहीं प्राप्त होता है। अतः निश्चित रूप से कोशल का यह क्षेत्र प्रथम शताब्दी ई० में कुषाण राजाओं के हाथों में चला गया। कुषाणों ने इस क्षेत्र पर सौ या इससे कुछ अधिक वर्षों तक शासन किया होगा।'

पुराणों द्वारा शुंग राजाओं की जो सूची ज्ञात होती है उनमें अनिश्चय की स्थिति अधिक है। कुछ पुराणों में दस राजाओं का नाम तथा उनकी सम्पूर्ण शासन काल ११२ वर्ष दिया गया है।[8] परन्तु कुछ पुराणों में दस राजाओं का नाम तथा अलग अलग शासन वर्ष का उल्लेख मिलता है। उनमें यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये सभी राजा शुंग वंशी ही हैं फिर भी उनमें कुछ राजाओं को शुंग वंशी राजा माना जा सकता है।

उपरोक्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अयोध्या के उन स्थानीय राजाओं का शासन प्रथम शताब्दी ई० तक निश्चित रूप से था। चूंकि प्रथम शताब्दी ई० के अन्तिम चरण से लेकर द्वितीय शताब्दी ई० के मध्य तक स्थानीय राजाओं की मुद्राएं नहीं प्राप्त होती हैं अतः यह कहा जा सकता है कि इस समय अयोध्या का क्षेत्र कुषाण साम्राज्य का अङ्ग बन गया था। सहेत महेत (श्रावस्ती) से प्राप्त कनिष्क के काल का अभिलेख जो प्रथम शताब्दी ई० के अन्तिम चरण का है, इस क्षेत्र पर कुषाणों के शासन का प्रमाण है। बहुत सम्भव है कि अयोध्या पर शासन कर रहे उस स्थानीय

१. **हर्षचरित**, पृ० ६५२।
२. **इपिग्राफिया इण्डिका**, भाग २०, पृ० ५७।
३. **इन्डिजिनस स्टेटस् आव नादर्न इण्डिया**, पृ० १०५।
४. **सी० ए० आई०**, पृ० ९०-९१।
५. **बी० एम० सी०, ए० आई०**, पृ० । XXXIX.
६. **डी० डी० कौशम्बी कमोमोरेशन वाल्यूम्**, १९७७, पृ० ११२.
७. **ए काम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री आव इण्डिया**, पृ० १०५-६;
८. सरकार डी० सी, **सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स**, पृ० १४०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शाखा का अन्त स्वयं कनिष्क ने किया हो।[१] भास्कर चट्टोपाध्याय[२] ने भी चीनी परम्पराओं के आधार पर मत व्यक्त किया है कि कनिष्क ने साकेत और पाटलिपुत्र के राजाओं से युद्ध किया था। परन्तु टी० पी० वर्मा' का मत है कि प्राप्त अभिलेखों का अध्ययन करने पर ऐसा अनुमान करने के प्रबल प्रमाण मिल रहे हैं कि कनिष्क के पिता अथवा चाचा विमकडफिसेस ने सबसे पहले उस विशाल क्षेत्र को विजित किया था जिसके प्रमाण स्वरूप विम के अनेक सिक्के सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश से प्राप्त होते हैं।' उस प्रकार यदि यह मान लिया जाय कि उत्तर प्रदेश का यह सम्पूर्ण भूभाग सर्व प्रथम विमकडफिसेस ने विजित किया था तो इस क्षेत्र पर कुषाणों का शासन ५५ ई०[४] में ही स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु इस सन्दर्भ में कुछ भी निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं है।

विमकडफिसेस के पश्चात कुषाण राजवंश का अधिकारी कनिष्क प्रथम ७८ ई० में गद्दी पर बैठा।[५] उसके काल के अनेक अभिलेख तथा सिक्के हमें उत्तर भारत से प्राप्त होते हैं। इनमें संवत ३ का लेख सारनाथ से, संवत २ का लेख कौशाम्बी से, संवत ११ का लेख सुई विहार तथा जेदा से, संवत १८ का लेख माणिक्याला तथा संवत २३ का मथुरा से प्राप्त हुए हैं। कनिष्क काल के दो अभिलेख श्रावस्ती से भी मिले हैं किन्तु उनमें किसी संवत का उल्लेख नहीं है। ऐसी सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि श्रावस्ती से प्राप्त होने वाले लेख भी कनिष्क के आरम्भिक वर्षों के ही हों।

अभिलेखों के अतिरिक्त सम्पूर्ण उत्तर से कुषाण कालीन मुद्रा निधियाँ प्राप्त होती हैं उनमें मथुरा,[६] हरसिंगपुर[७] (मेरठ), कसया,[८] भीटा[९] (इलाहाबाद) सहेतमहेत[१०] (श्रावस्ती) तथा संकिसा[११] महत्पूर्ण हैं। इन मुद्रा निधियों में विभकाडफिसेस, कनिष्क-हुविष्क और वासुदेव की मुद्राएँ लगभग समानरूप से पायी जाती हैं। उत्तरप्रदेश से प्राप्त मुद्रा निधियों के सर्वेक्षण से यह ज्ञात होता है कि अधिकांश निधियों में कनिष्क के सिक्के विमकडफिसेस के साथ मिलते हैं उससे यह सम्भावना बलवती हो जाती है कि यह सम्पूर्ण क्षेत्र कनिष्क तथा उसके उतराधिकारियों को उतराधिकार में प्राप्त हुए होंगे। चट्टोपाध्याय[१२] तथा वर्मा[१३] ने भी यही मान्यता प्रतिपादित किया है। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश से प्राप्त होने वाले अभिलेख की क्रमबद्ध तिथियों के आधार पर यह मत व्यक्त किया जा सकता है कि यह सम्पूर्ण क्षेत्र उसके राज्यारोहण के समय से ही उसके अधिकार में था।

कुषाणों की मुद्राओं तथा प्राप्त अभिलेखों की तिथियों की क्रमबद्धता के आधार पर इस समूचे क्षेत्र पर लगभग सौ वर्षों तक उनका शासन माना जा सकता है। जगन्नाथ यह मानते हैं कि वासुदेव की अंतिम ज्ञात तिथि संवत ९८ अर्थात् १७६-७७ ई० है अतः इसी के आस-पास इनका शासन समाप्त हुआ होगा। अल्तेकर ने भी इसकी मृत्यु १८० ई०

१. **द एज आफ इम्पिरियल युनिटी**, पृ० १६२ तथा १४०।
२. चट्टोपाध्याय; भास्कर, **द एज आफ द कुषाणाज**, पृ० २४।
३. **उत्तरप्रदेश पत्रिका**, सूचना एवं जससम्पर्क विभाग, उ० प्र०, १९८१, पृ० ३६:४०;
४. **द एज आफ द कुषाणाज**, पृ० ४-५।
५. कनिंघम, **आर्केलाजिकल सर्वे रिपोर्ट**, भाग २०, पृ० ३७।
६. **इण्डियन आर्कियोलाजी**, १९५३-५४, पृ० ३९।
७. **ए० एस० आई० ए० आर०**, १९०४-५, पृ० ५२।
८. **वही**, १९११-१२, पृ० ६२-६५।
९. **वही**, १९०७-८, पृ० ८३; १९०८-९, पृ० ३३।
१०. **द एज आव द कुषाणाज**, पृ० १८।
११. **उत्तरप्रेदेश पत्रिका**, १९८१, पृ० ३६-४०।
१२. **काम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री आव इण्डिया**, पृ० २४७।
१३. **वाकाटक गुप्ता एज**, पृ० १३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में माना है। इस प्रकार कम से कम सौ वर्ष का काल हमें कुषाणों को देना पड़ेगा।

कुषाणों के पतन के साथ ही एक बार पुनः अयोध्या तथा अन्य क्षेत्रों में स्थानीय राजाओं के अभ्युदय का ज्ञान हमें उनकी प्राप्त होने वाली मुद्राओं से होता है। अयोध्या में दूसरी शती ई० के अन्त में पुनः स्थानीय सिक्के मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। ब्रिटिश संग्रहालय के वर्ग तीन के अयोध्या से प्राप्त सिक्के आकार एवं प्रतीकों की भिन्नता के कारण संभवतः किसी अन्य राजवंश के माने जाते हैं। परन्तु यह एक विवादास्पद समस्या है। हो सकता है कि ये स्थानीय राजा भी किसी न किसी रूप में पूर्व के शुंग राज़ाओं से जुड़े रहे हों। फिर भी यहाँ निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सामान्य तथा वर्ग तीन के सिक्कों के अग्र भाग पर बृषभ तथा पृष्ठ भाग पर नन्दिपद तथा कोई पक्षी (संभवतः हंस)[1] का अंकन प्राप्त होता है। इन सिक्कों से ज्ञात राजाओं के नाम इस प्रकार हैं। (१) अजवर्मन, (२) आयुमित्र, (३) देवमित्र, (४) कुमुदसेन, (५) माधववर्मन, (६) संघमित्र, (७) सत्यमित्र, (८) विजयमित्र।

उपरोक्त सिक्कों में केवल कुमुदसेन के लिए उसके सिक्को पर राजा की उपाधि मिलती है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि किन कारणों से कुमुदसेन के उतराधिकारियों ने यह उपाधि नहीं धारण किया। इन राजाओं का कोई निश्चित काल-क्रम तो ज्ञात नहीं है परन्तु ऐसी संभावना व्यक्त की जा सकती है कि कुषाणों के पश्चात् अयोध्या तथा उसके आस-पास के क्षेत्र पर लगभग सौ वर्षों या इससे कुछ अधिक समय तक उन राजाओं का शासन रहा होगा और गुप्तों ने अपने अभ्युदय के साथ ही इनका उन्मूलन किया होगा।

---

१. एलन, **बी० एम० सी०, ए० आई०**, पृ० १००।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अयोध्या का इतिहास

(लगभग ३०० ई० से लगभग १२०० ई० तक)

अरविन्द कुमार सिंह*

हिन्दुओं के सात पवित्र स्थलों[१] में अयोध्या या अजोध्या या अयुध एक है। ऐतरेय ब्राह्मण[२] तथा सांख्यायन श्रौतसूत्र[३] में इस नगरी को गाँव के रूप में वर्णित किया गया है। जैन ग्रन्थ विविधतीर्थकल्प[४] के अनुसार विनिता, साकेत, इक्ष्वाकु भूमि, रामपुरी और कोशल भी अयोध्या के ही नाम हैं। अथर्ववेद में[५] अयोध्या देवों द्वारा निर्मित स्वर्ग के समान गौरवशाली नगरी के रूप में वर्णित है। रामायण और महाभारत कालीन गौरवशाली नगरी अयोध्यापुरी के गुप्त काल में गौरव तथा गुप्त शासकों से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध की गाथा साहित्यिक एवं पुरातात्विक, दोनों ही प्रकार के साक्ष्य सुनाते हैं।

प्रख्यात बौद्ध लेखक परमार्थ ने सुविख्यात दार्शनिक वसुबन्धु का चरित लिखा है। उसमें जो कहा गया है, उसके अनुसार 'वसुबन्धु का जन्म पुरुषपुर (पेशावर) में एक कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण के घर हुआ था। सांख्य के संरक्षक अयोध्या नरेश विक्रमादित्य को वसुबन्धु ने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। राजा विक्रमादित्य ने अपने उत्तराधिकारी राजकुमार बालादित्य को वसुबन्धु के पास बौद्ध मत की शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा। रानी ने भी उनसे दीक्षा ली। गद्दी पर बैठने के बाद बालादित्य और उनकी माँ ने वसुबन्धु को अयोध्या बुलाया और उन्हें विशेष संरक्षण प्रदान किया। ८० वर्ष की अवस्था में वसुबन्धु की मृत्यु हुई।[६]

उपरोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के संरक्षक नरेश विक्रमादित्य और बालादित्य अयोध्या के नरेश थे तथा वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हुये थे। परन्तु वसुबन्धु का काल तथा इन दोनों शासकों की पहचान विवाद का विषय है।

नोयल पेरी,[७] स्मिथ,[८] मैकडानेल,[९] विण्टरनित्ज,[१०] मजूमदार आदि[११] वसुबन्धु को चौथी शती ईसवी में रखते

* प्रा० भा० इ० सं० एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

१. अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका॥ **वाचस्पत्यम्**, खण्ड १, पृ० ३४७।

२. **ऐतरेय ब्राह्मण**, १२, ३, १ और आगे।

३. **सांख्यायन श्रौतसूत्र**, १५, १७, २५

४. **विविधतीर्थकल्प**, पृ० ब४

५. **अथर्ववेद**, १०, २, ३

६. **जे० आर० ए० एस०**, १९०५, पृ० ३५

७. **बी० इ० एफ० इ० ओ०**, १९११, पृ० ३३९-४०

८. **इ० एच० आई०**, तृतीय सं० ३२८ और आगे।

९. **हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर**, पृ० ३२७

१०. **हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर**, भाग २, पृ० ३३५

११. **ए न्यू हिस्ट्री ऑफ दी इण्डियन पीपुल**, भाग ६, पृ० १५५; बसाक, **एच० एन० इ० आई**, पृ० ३३; एस० सी० वैद्यभूषण, **जे० ए० एस० बी०**, १९०५, पृ० २२७; विनयतोश भट्टाचार्या, **तत्त्वसंग्रह**, भूमिका, पृ० ६६ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। दूसरी ओर जे. ताकाकुसु,[१] वोगिहर,[२] हार्नले[३] आदि उसे पाँचवीं शती में मानते हैं। फ्राडलर[४] इस समस्या का विद्वतापूर्ण हल प्रस्तुत करते हुये वसुबन्धु नामक दो विद्वानों को मान्यता प्रदान करते हैं, जिनमें पहला चौथी शती में तथा दूसरा पाँचवी शती में हुआ था। विक्रमादित्य तथा बालादित्य द्वारा संरक्षित विद्वान द्वितीय वसुबन्धु था। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि वसुबन्धु के संरक्षक नरेश गुप्त-वंशीय शासक ही थे। परन्तु वसुबन्धु की तिथि की विषमता तथा अधिकांश गुप्त शासकों द्वारा विक्रमादित्य उपाधि धारण किये जाने के कारण यह विवाद का विषय बना हुआ है कि वे गुप्त शासक कौन थे।

विसेन्ट स्मिथ[५] तथा कनिंघम[६] का कहना है कि वसुबन्धु के संरक्षक विक्रमादित्य क्रमशः चन्द्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त थे। एच० पी० शास्त्री[७] बालादित्य का तात्पर्य 'युवा पुत्र' मानते हुये उनकी पहचान चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम से करते हैं। डी० आर० भण्डारकर,[८] सैलेटोर[९] तथा परमेश्वरीलाल गुप्त[१०] चन्द्रगुप्त द्वितीय और गोविन्दगुप्त से उनकी पहचान करते हैं। ताकाकुसु, वोगिहर, फ्राउलर[११] तथा के० वी० पाठक[१२] विक्रमादित्य और बालादित्य की पहचान स्कन्दगुप्त और नरसिंहगुप्त से करते हैं। एलन[१३] और बी० पी० सिनहा[१४] उनकी पहचान पुरुगुप्त और नरसिंहगुप्त बालादित्य से करते हैं। बिहार के स्तम्भलेख में स्कन्दगुप्त को कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' कहा गया है तथा भितरी की राजमुद्रा वाले लेख में पुरुगुप्त को कुमारगुप्त का 'तत्पदानुध्यात' उल्लिखित किया गया है। इससे दोनों एक ही व्यक्ति प्रमाणित होते हैं। पुरुगुप्त के कुछ सिक्कों के पुरोभाग पर 'श्री विक्रमः' उपाधि अंकित है, जिसे बी० सी० लाहा[१५] तथा रायचौधरी[१६] 'विक्रमादित्य' का संक्षिप्त रूप मानते हैं। किन्तु प्रो० एस० के० सरस्वती ने पहली बार इस मुद्रा पर एलन द्वारा किया गया पुरुगुप्त पाठ पर आपत्ति प्रकट की तथा उसे बुधगुप्त पढ़ा।[१७] सन् १९४८ में इस 'प्रकार' की दो अन्य मुद्राएँ प्राप्त हुई जिन पर पुरोभाग पर बुधगुप्त तथा पृष्ठभाग पर 'श्रीविक्रम' उत्कीर्ण है।[१८] इस प्रकार उपरोक्त विद्वानों के मत का खण्डन हो जाता है तथा वसुबन्धु के संरक्षक विक्रमादित्य और बालादित्य की पहचान बुधगुप्त और नरसिंहगुप्त बालादित्य से

१. **जे० आर० ए० एस०**, १९०५, पृ० ३६-४३
२. Ency. of Rel. & Ethics, १२, पृ० ५९५-९६
३. **जे० आर० ए० एस०**, १९०९, पृ० १०२; एलन, **बी० एम० सी०, जी० डी०**, पृ० ५१ और आगे।
४. **आन दी डेट ऑफ दी बुद्धिस्ट मास्टर ऑफ ला वसुबन्धु।**
५. **इ० एच० आई०** पृ० ३४७
६. **ए० एस० आई० आर०**, भाग ११, पृ० ९५
७. **जे० आर० ए० एस० बी०**, १९०५, पृ० २५३
८. **इ० ए०**, भाग ४१, पृ० १ और आगे।
९. **लाइफ इन दी गुप्ता एज**, पृ० २८
१०. **गुप्त साम्राज्य**, पृ० ३००
११. **उपरोक्त।**
१२. **इ० ए०**, भाग ४०, पृ० १७०
१३. **पूर्वोक्त**
१४. **डी० एम० के०**, पृ० ८१
१५. **इण्डोलाजिकल स्टडीज**, भाग ३, पृ० २३
१६. **पी० एच० ए० आई०**, छठा संस्करण, पृ० ५८६
१७ **इण्डियन कल्चर**, भाग १, पृ० ६९२
१८ अलतेकर, अ० स०, **द क्वायनेज ऑव गुप्त इम्पायर**, पृ० २६३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। मुद्रासाक्ष्य के अनुसार नरसिंहगुप्त ने 'बालादित्य' उपाधि धारण की थी। बहुत संभव है कि बुधगुप्त बौद्धमतावलम्बी हो गया हो, जैसा कि परमार्थकृत वसुबन्धु-जीवनी द्वारा भी आभासित होता है। यदि बुधगुप्त और नरसिंहगुप्त बालादित्य से विक्रमादित्य और बालादित्य का समीकरण सत्य है, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त साम्राज्य के अवसान काल में गुप्त राजवंश की राजधानी अयोध्या में थी।

वायुपुराण एवं ब्रह्माण्डपुराण में गुप्त साम्राज्य के सम्बन्ध में वर्णन मिलता है :

अनुगंगा प्रयागञ्च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान्सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः ॥[1]

पुराणों में वर्णित क्रम को स्वीकार करने पर यह मानना उचित रहेगा कि गुप्त वंश का अभ्युदय क्षेत्र अनुगंगा (पतञ्जलि के अनुसार हस्तिनापुर और वाराणसी अनुगंगा के प्रदेश थे), प्रयाग और साकेत (अयोध्या) आदि का प्रदेश था, जहाँ से पूर्व की ओर प्रसार करते हुये बाद में मगध भी गुप्त साम्राज्य का अंग बन गया था।

कालीदास द्वारा रघुवंश[2] में अयोध्या नामक पुर को राजधानी की संज्ञा प्रदान की गयी है। काठियावाड़ की एक गाथा से ज्ञात होता है कि अयोध्या नगरी गुप्त शासकों की राजधानी थी। विह्लण ने[3] अयोध्या को राजधानी की संज्ञा प्रदान की है। कालीदास ने[4] अयोध्या के भवनों के वातायनों में बैठी हुयी पुरसुन्दरियों का वर्णन किया है। पतञ्जलि के अनुसार सुकोशला (अयोध्या) के परकोटे के विभिन्न अवयव पाटलिपुत्र के प्राकार अवयवों के दृष्टान्त थे।[5] पतञ्जलि पुष्यमित्र के समकालीन थे तथा जिसने बाख्त्री यवनों के आक्रमण से ध्वस्त अयोध्या को एक नवीन प्राकार से परिवेष्ठित किया, जो पाटलिपुत्र के परकोटे के आदर्श पर निर्मित रहा होगा।

ए० फ्यूरेर[6] तथा कनिंघम[7] ने अयोध्या की परम्परा का वर्णन किया है, जिसके अनुसार वृहद्वल की मृत्यु के पश्चात् से उज्जैन के शासक विक्रमादित्य के समय तक अयोध्या उजड़ी पड़ी थी। नागेश्वरनाथ के मन्दिर के आधार पर उसे खोज कर विक्रमादित्य ने रामगढ़ नामक किला और ३६० मन्दिरों का निर्माण करवाया। इसी प्रकार की कथा देवी पाटन क्षेत्र में भी प्रचलित है। इस कथा के विक्रमादित्य की पहचान चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से की जाती है।

समुद्रगुप्त के गया ताम्रपत्र अभिलेख (गु० सं० ९) में अयोध्या का उल्लेख मिलता है जहाँ पर हस्ति, अश्व एवं नौका आदि विभागों से युक्त इस सम्राट् का सैन्य शिविर वर्तमान था। फैजाबाद जिले में करमदण्डा से कुमारगुप्त कालीन (गु० सं० ११७) एक लेख मिला है, जिसमें द्वितीय चन्द्रगुप्त के मन्त्री शिखरस्वामी एवं उसके पुत्र पृथ्वीषेण का उल्लेख है जो प्रथम कुमारगुप्त का अमात्य था। उसने ही करमदण्डा में अपने अराध्यदेव की प्रतिमा की स्थापना करायी, जिसके पादमूल में उसने उक्त लेख को उत्कीर्ण कराया। इसमें अयोध्या के प्रबुद्ध नागरिकों का वर्णन मिलता है जो तपोनिष्ठ, अध्ययनशील तथा भाष्य एवं प्रवचन आदि में पटु थे। गुप्त संवत् २२४ का दामोदरपुर से एक लेख प्राप्त हुआ है जिसमें श्वेतवराहस्वामिन् के मन्दिर की मरम्मत और बलि, चरु, सत्र आदि दैनिक पूजा व्यवस्था के स्थायी प्रबन्ध के निमित्त अयोध्या निवासी कुलपुत्र अमृतदेव को ५ कुल्यवाप भूमि क्रय करने की स्वीकृति दी गयी है।

---

१. एफ० ई० पार्जिटर, **पुराण टेक्सट ऑन दी डायनेस्टीज ऑफ दी कलि एज** पृ० ५३-५४
२. **रघुवंश**, सर्ग १३, ६१
३. **विक्रमांकदेव-चरित**, सर्ग १८, ९४
४. **रघुवंश**, सर्ग ६, २४
५. पतञ्जलि, **महाभाष्य**, ४।३।६६
६. **दी मानुमेण्टल एन्टीक्युटीज एण्ड इन्सक्रिप्सन्स आफ एन० डब्लू० प्राविन्सेस**, पृ० २९६
७. **ए० एस० आई० आर०**, भाग ११, पृ० ९६-९७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्मिथ ने[१] चन्द्रगुप्त के सिक्कों के उत्तर प्रदेश में अयोध्या, कौशाम्बी और अहिच्छत्रा से प्राप्त होने की बात लिखी है। कुमारगुप्त का एक सिक्का भी अयोध्या में मिला था।[२]

काशीप्रसाद जायसवाल[३] का अनुमान है कि समुद्रगुप्त ने जिस समय 'व्याघ्र-निहन्ता' वर्ग की मुद्राओं को प्रचलित किया, उस समय उसका राज्य अवध-जनपद तक ही सीमित था, जिसकी राजधानी अयोध्या थी। उदयनारायण राय[४] के अनुसार अयोध्या ब्राह्मण धर्म का केन्द्र था और गुप्त धारण-गोत्रीय ब्राह्मण थे, अतः यदि उन्होंने अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया हो तो यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। राधा गोविन्द वसाक[५] का मत है कि पाटलिपुत्र सम्भवतः समुद्रगुप्त के समय तक राजधानी बनी रही, परन्तु इस बात के संकेत हैं कि अयोध्या उसके उत्तराधिकारियों समय में राजधानी के लिये अधिक उपयुक्त हो गयी थी। समुद्रगुप्त के विजय अभियानों से परिपूर्ण प्रशस्ति के प्रयाग में मिलने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि राजधानी मध्यदेश और सम्भवतः अयोध्या में लाई गयी थी। समुद्रगुप्त की राजधानी भी कुछ समय तक अयोध्या में थी, जहाँ उसके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का टकसाल था। बी. पी. सिनहा[६] का मत है कि अयोध्या को गुप्तों के मूल राज्य की राजधानी मानना आतार्किक नहीं होगा। एक अन्य स्थल पर[७] सिनहा कहते हैं कि समुद्रगुप्त के समय से गुप्त शासन के अन्त तक पाटलिपुत्र गुप्त साम्राज्य की प्रमुख राजधानी तथा उज्जैन और अयोध्या द्वितीय राजधानियाँ थीं। इसी प्रकार का मत आर. एन. दण्डेकार[८] का भी है। सच्चिदानन्द भट्टाचार्या[९] समुद्रगुप्त के समय से लेकर पुरुगुप्त के समय तक (ई. स. ३३०-४७२) अयोध्या को दूसरी राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित मानते हैं। वी. सी. ला[१०] तथा राय चौधरी[११] स्कन्दगुप्त के बाद से मौखरियों के उदय तक अयोध्या को गुप्त शासकों की राजधानी स्वीकार करते हैं। अवधवासी लाला सीताराम[१२] का मत है कि मध्य भाग में होने तथा भागवत हो जाने के कारण चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अपनी राजधानी उज्जैन से उठाकर अयोध्या लाया था। स्मिथ का मत है कि इस सन्दर्भ में पर्याप्त साक्ष्य हैं कि पाटलिपुत्र नहीं बल्कि अयोध्या गुप्त साम्राज्य का प्रमुख नगर था।

उपरोक्त विद्वानों के मत-मतान्तरों के विवेचन तथा समुद्रगुप्त के गया ताम्र पत्र एवं प्रयाग प्रशस्ति, कुमारगुप्त प्रथम के करमण्डा अभिलेख, विष्णुगुप्त के दामोदरपुर अभिलेख के साक्ष्य, समुद्रगुप्त के आरम्भिक सिक्कों पर कुषाण प्रभाव, गुप्त शासकों के सिक्कों को अयोध्या क्षेत्र से प्राप्ति एवं रघुवंश, विक्रमांकदेवचरित, वायुपुराण तथा वसुबन्धु की जीवनी आदि साक्ष्यों के सूक्ष्म परीक्षण के उपरान्त यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि पूर्वी उत्तर-प्रदेश में विद्यमान गुप्तों के आदि राज्य की राजधानी तो अयोध्या थी ही लेकिन उसके उपरान्त भी गुप्त साम्राज्य के पतन काल तक उसे प्रथम

---

१. **जे० आर० ए० एस०**, १८८९, पृ० ४८-५१
२. **जे० आर० एस०**, १८८९, पृ० ४२
३. **जे० बी० ओ० आर० एस०**, भाग १६, पृ० ११७-१८
४. **गुप्त सम्राट और उनका काल**, पृ० ६१
५. **एच० एन० इ० आई०**, पृ० ४८
६. **जे० बी० ओ० आर० एस०**, भाग ६७, पृ० १४२-४४
७. **दी कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार**, पृ० ६५५
८. **दी एज ऑफ दी गुप्ताज एण्ड अदर एसेज**, पृ० ३६
९. **इण्डोलाजिक स्टडीज**, भाग ३, पृ० २३
१०. **पूर्वोक्त**
११. **पूर्वोक्त**, पृ० ५८६
१२. **अवध का इतिहास**, पृ० १३३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

या द्वितीय राजधानी होने का गौरव प्राप्त था, तो इसमें तनिक भी अतिरंजना नहीं होगी।

गुप्त-साम्राज्य के पतन के उपरान्त यह क्षेत्र मौखरी शासकों के अधीनस्थ हो गया था। बाण के हर्षचरित के विवरण से ज्ञात होता है कि मौखरी सत्ता का केन्द्र कन्नौज था। यह मौखरीवंश बड़वा (राजस्थान) तथा बराबर (बिहार) और नागार्जुनी गुहा (बिहार) अभिलेखों से ज्ञात मौखरी-वंश के बाद, सत्ता में आया था। अथवा सम्भवतः गुप्त शासकों के पतन काल में इन्होंने उत्तरप्रदेश के क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य जमा लिया हो।

कन्नौज के मौखरी शासक ईश्वरवर्मा का एक लेख जौनपुर से प्राप्त हुआ है तथा ईशानवर्मा का एक लेख बाराबंकी जिले में हड़हा नामक स्थान से। इसके अतिरिक्त आर. बर्न ने[1] ईशानवर्मा, शर्ववर्मा तथा अवन्तिवर्मा के सिक्कों के फैजाबाद जिले के भितौरा नामक निधि से प्राप्त होने का उल्लेख किया है। रिवर्ट कारनैक[2] को मौखरियों के कुछ सिक्के अयोध्या से प्राप्त हुए थे। अहिच्छत्रा से भी मौखरियों के कुछ सिक्के मिले हैं।[3] इससे यह ज्ञात होता है कि कन्नौज के मौखरियों का राज्य मुख्यतः उत्तरप्रदेश में बाराबंकी, फैजाबाद, जौनपुर, काशी तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों तक विस्तृत था। वसाक महोदय[4] इन्हें 'अयोध्या के मौखरी' के नाम से अभिहित करते हैं।

बहुत संभव है कि छठीं शती ईसवी के आरम्भ में, जबकि गुप्त साम्राज्य हूणों और कन्नौज के यशोधर्मा के आक्रमणों से त्रस्त था, प्रथम तीन मौखरी शासकों ने—महाराज हरिवर्मा, महाराज आदित्यवर्मा, महाराज ईश्वरवर्मा—जिन्होंने अधीनस्थ सूचक मात्र महाराज उपाधि धारण की थी, अयोध्या क्षेत्र पर अपना अधिकार कायम कर लिया हो। सी. वी. वैद्य[5] ब्यूलर[6] तथा आर. सी. त्रिपाठी[7] मौखरियों की राजधानी कन्नौज में तथा अवध को उनके राज्य में समाहित मानते हैं। साक्ष्यों के विवेचन से इतना तो निश्चित जाना पड़ता है कि भले ही अयोध्या की बजाय कन्नौज इस काल में उत्तर भारत का प्रमुख शासन केन्द्र बनता जा रहा था, फिर भी अयोध्या का महत्व कम नहीं हुआ था।

ग्रहवर्मा की मृत्यु के साथ मौखरीवंश की सत्ता समाप्त हो गयी। कन्नौज भी हर्ष के अधिकार में आ गया तथा उसके साम्राज्य का केन्द्र होने का गौरव प्राप्त किया। ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि वह नवदेवकुल शहर से ६०० ली चलकर गङ्गा को पारकर अ-यु-टो या अयोध्या शहर में पहुँचा था। जहाँ तक गङ्गा का प्रश्न है किसी भी बड़ी नदी को गङ्गा नदी की संज्ञा प्रदान की जाती है। यात्रा-विवरण में सही दिशा और दूरी का उल्लेख न होने के कारण कनिङ्घम महोदय[8] अ-यु-टो की पहचान कानपुर से २० मील दूर स्थित काकूपुर से करते हैं, परन्तु थामस वाटर्स[9] के अनुसार अ-यु-टो की पहचान अयोध्या से करना ही उचित है।

ह्वेनसांग अयोध्या के शासक के सन्दर्भ में मौन है। परन्तु आर. बर्न ने[10] भितौरा निधि से प्रतापशील के

१. **जे० आर० ए० एस०**, १९०६, पृ० ८४३-४४
२. **ए० एस० आर०**, भाग ९, पृ० २७; जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृ० ४४६-४८
३. **जे० आर० ए० एस०**, १८८९, पृ० १३६
४. **वही**, पृ० २७०
५. **हिस्ट्री ऑफ मेडिभल हिन्दू इण्डिया**, पृ० ३२२
६. **इ० ए०**, भाग १, पृ० ६९
७. **हिस्ट्री ऑफ कन्नौज**, पृ० ३३
८. **एन्सिएन्ट ज्याग्रफी ऑव इण्डिया**, पृ० ३२२
९. **आन युवान च्वाङ्ग ट्रैवेल्स इन इण्डिया**, पृ० ३३४-३६
१०. **पूर्वोक्त**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

९ सिक्कों और शीलादित्य के २८४ सिक्कों के प्राप्त होने का उल्लेख किया है। इन सिक्कों से ज्ञात प्रतापशील और शीलादित्य की पहचान वर्न महोदय[1] क्रमशः वर्धन-वंश के शासक प्रभाकरवर्धन तथा हर्षवर्धन से करते हैं। और इस समीकरण को स्वीकार करने पर यह निश्चितप्राय लगता है कि अयोध्या वर्धन शासकों के अधीनस्थ छठीं-सातवीं शती में थी, और इस काल में भी उसकी प्रतिष्ठा विद्यमान थी। ह्वेनसांग ने भी धन-धान्य से सम्पन्न नगरी के रूप में अयोध्या का वर्णन किया है।

हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य विशृंखलित हो गया। वाक्पतिराज के विवरण[2] से ज्ञात होता है कि यशोवर्मन नर्मदा और मरुदेश या मारवाड़ के रास्ते से होते हुए श्रीकण्ठ या थानेश्वर पहुँचा। उसके उपरान्त वह हरिश्चन्द्र के शहर अयोध्या की ओर मुड़ा और मन्दार गिरि में रहने वाले लोगों से उपहार ग्रहण किया। यशोवर्मन द्वारा अयोध्या में एक दिन में एक मन्दिर निर्माण करवाने की बात कही गयी है।[3]

बुद्ध प्रकाश[4] यशोवर्मा के पुत्र और उत्तराधिकारी आम की पहचान अवन्तिवर्मा से तथा उसके पुत्र दुन्दुक की पहचान दृढ़वर्मा से करते हैं, जिसे उद्योतन सूरी[5] ने अयोध्या का शासक बनाया था। इस आधार पर बुद्धप्रकाश दृढ़वर्मा के समय में राजधानी का स्थान्तरण कन्नौज से अयोध्या हुआ मानते हैं। जन साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि यशोवर्मा के उत्तराधिकारी आम ने अपनी राजधानी उज्जैन से ग्वालियर को स्थान्तरित की थी, न कि अयोध्या को। फिर भी यदि गौड़वहो की अयोध्या का समीकरण वर्तमान अयोध्या से स्वीकार कर लें तो यह कहा जा सकता है कि आठवीं शती में अयोध्या की प्रतिष्ठा विद्यमान थी।

कुवलय माला में अयोध्या के शासक दृढ़वर्मा का उल्लेख मिलता है जिसने महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण की थी। इसी ग्रन्थ में वर्णन मिलता है कि दृढ़वर्मा की मन्त्रि-परिषद में ८ सदस्य थे। इस शासक की पहचान सुनिश्चित नहीं है, फिर भी इस राजा की उपाधि यह सूचित करती है कि इसके काल में अयोध्या की प्रतिष्ठा काफी बढ़ गयी रही होगी।

९वीं शती के प्रारम्भ में गुर्जर-प्रतिहार शासक नागभट्ट ने उस समय कन्नौज पर शासन कर रहे आयुधों को मार भगाया और इस शहर को उन्नतोन्मुख प्रतिहार राज्य की राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित किया, जो कि मिहिरभोज के शासन काल (८३६-८८५ ई० सन्) में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी। सम्पूर्ण अवध क्षेत्र निश्चित ही उसके शासन में था। उसके उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल (८८५-९०८ ई० सन्) का एक अभिलेख भी इस क्षेत्र से मिला है। परन्तु महिपाल (९१२-९४४ ई० सन्) के समय से इस शक्ति का ह्रास होने लगा था और साम्राज्य अनेक टुकड़ों में बँट गया।

अवध भी इस समय विभिन्न प्रमुखों के अधीनस्थ बँट गया, जिनमें प्रमुख थे श्रावस्ती से सम्बन्धित अयोध्या के श्रीवास्तव्य। कुछ विद्वानों[6] का मत है कि उन्होंने सरयू को अपने नेता त्रिलोचन चन्द्र के नेतृत्व में पार किया और अयोध्या पर अधिकार कर ९१८ ई० में वहाँ अपने राज्य की स्थापना की। अवधवासी लाला सीताराम[7] का मत है कि गुप्तों के चले जाने पर अयोध्या का शासन सुदूर की राजधानी से होता था और श्रीवास्तव्य कभी पूरी और कभी अधूरी स्वतन्त्रता के साथ ईसवी सन् की ग्यारहवीं शती के अन्त तक अयोध्या पर शासन करते रहे।

---

१. **पूर्वोक्त**, पृ० ८४७
२. **गौड़वहो**, भूमिका, पृ० २०-२३
३. **वही**, पृ० ५०८
४. एस० एम० मिश्रा, **यशोवर्मन ऑफ कन्नौज**, पृ० १२६
५. **कुवलयमाल**, भाग १, पृ० १५४
६. **अवध गजेटीयर**, १८७७, भाग १, पृ० ३
पी० कार्नेगी, **ए हिस्टारिकल स्केच आफ तहसील फैजाबाद**, पृ० ७
७. **पूर्वोक्त**, पृ० १३८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गहड़वाल वंश के कुछ अभिलेख गर्व के साथ इस तथ्य को उजागर करते हैं कि कन्नौज के गहड़वाल वंश का वास्तविक संस्थापक नरेश चन्द्रदेव (१०८५-१११० ई० सन्) काशी, कुशिक, उत्तर कोशल और इन्द्रप्रस्थ को प्राप्त कर लेने के उपरान्त इन पवित्र स्थलों का संरक्षक था। उत्तर कोशल अयोध्या के समीपस्थ क्षेत्रों का प्राचीन नाम है। नियोगी[1] का मत है कि चन्द्रदेव के अभिलेखों के आन्तरिक और वाह्य दोनों ही प्रकार के भौगोलिक साक्ष्य बार-बार यह सिद्ध करते हैं कि उसने अपने राजनैतिक जीवन का प्रारम्भ वाराणसी-अयोध्या क्षेत्र से किया था। वि० सं० ११५० के चन्द्रावती अभिलेख में पाञ्चाल का चपल रूप में वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रदेव ने उसे निकट भूत में ही विजित किया था और वह राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित होने के लिये उस समय तक असुरक्षित थी। सम्भव है कि इस बुद्धिमान शासक ने प्रारम्भ में उसे अपनी राजधानी बनाना उचित न समझा हो और वैसी स्थिति में यह गौरव काशी या अयोध्या को प्राप्त रहा होगा। वि० सं० ११५६ से वि० सं० ११६१ के मध्य किसी समय कन्नौज में गहड़वाल-वंश की राजधानी स्थापित हुयी होगी।

इस वंश के अन्तिम प्रमुख शासक जयचन्द्र ने विक्रम संवत् १२४३ में अयोध्या के समीप स्थित कमौली या कुमैली नामक ग्राम को उसी ग्राम के निवासी भारद्वाज गोत्रीय ब्रह्मण अलंग को दान में दिया था। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि इस काल में अयोध्या गहड़वाल सत्ता के अधीनस्थ थी। ११९४ ई. में सिहाबुद्दीन गोरी से इटावा के निकट स्थित चन्दावर के मैदान में युद्ध करते हुये जयचन्द मारा गया। उनकी मृत्यु के उपरान्त कन्नौज के साथ-साथ अयोध्या पर भी तुर्कों का अधिकार हो गया।

भर—क्षेत्रिय परम्परा के अनुसार शताब्दियों तक अवध पर भरों का अधिकार था। भरों के आरम्भिक इतिहास और उनके उद्भव के सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त करने के लिये साक्ष्यों का एक प्रकार से अभाव ही है। भरों के इस क्षेत्र में राज्य विस्तार की बात मात्र डीहों के माध्यम से ज्ञात होती है। ए० फ्यूरेर[2] ने फैजाबाद से २२ मील दक्षिण-पूर्व में सिखा-पाली या सराय दूल, खीकर, आलापूर, बसौर और पक्रेला और उससे भी ४ मील आगे असमन बाग, रच्छपाल, पर्ननन्दपति उर्फ दहवा, कवारिसेर-पाल, सदइचा, नवियावान, इढोणा, चन्दापूर, कादीपुर गौरा और तोला पती नामक ग्रामों से भरों से सम्वन्धित डीह प्राप्त होने की बात कही है। इसके अतिरिक्त फैजाबाद से ५० मील दक्षिण पूर्व में कोरावान, चाण्डिपुर, समौर, रुधायी, हसनपुर धिपनी, सईदपुर लिखडीह, सोनहान, नाघमलपुर, वेधुरिया, खोखर भेट, सामडीह, करावान और खण्डासा से तथा फैजाबाद से २५ मील दक्षिण पश्चिम में सिरसेन्द, वखौती और जुरय्यान; फैजाबाद से ९ मील पश्चिम में सिरहरि, राय पुर, सुखावान, सरवारी, इब्राहीमपुर, कण्डायी, बिलखावान, देवराकोट, कलापरपुर, घरेरू, कोटडीह और महोली तथा पछिमराठ परगना और टाण्डा क्षेत्र के अनेक ग्रामों से भरों या भरों से सम्बन्धित डीह प्राप्त हुए हैं।

फैजाबाद जिले के विस्तृत क्षेत्र में फैले भरों से सम्बन्धित डीहों को देखने से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि यह क्षेत्र निश्चित रूप से भरों के अधिकार में कुछ समय तक था। भरों के इस राज्य की राजधानी के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। इ० वी० जोशी[3] का मत है कि कुसवपुर या कुसपुर (आधुनिक सुल्तानपुर) में भर रहते थे, जिनके अधीनस्थ यह क्षेत्र था। डब्ल्यू० क्रूक[4] के अनुसार अवध का उत्तरी क्षेत्र कुछ समय के लिये उन लोगों के अधिकार में चला गया था, जिन्हे परम्परा भर कहती है। आजमगढ़ तथा कालिंजर से प्राप्त अभिलेख और फरिस्ता के वर्णन के एक अंश के आधार पर डब्ल्यू० बेनेट[5] का तर्क था कि मलिक के

१. **दी हिस्ट्री ऑफ गहड़वाल डायनेस्टी**, पृ० २३९
२. **दी मानुमेन्टल एण्टिक्युटीज एण्ड इन्सक्रिपसन्स इन दी एन० डब्लू० प्राविन्स एण्ड अवध**, पृ० ३००-३०१
३. **उत्तर प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, फैजाबाद**, १९६०, पृ० ३८
४. **दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्स ऑफ इण्डिया**, पृ० ७५
५. **अवध गजेटीयर**, भूमिका, पृ० ३५; इ० ए० भाग १, पृ० ७५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाई दलिक ने कन्नौज के अन्तिम शासक को अपदस्थ कर दिया था और सम्पूर्ण दोआब को विजित कर लिया था। दक्षिणी अवध की परम्परा से सिद्ध है कि वे भर थे और दक्षिण के सम्पूर्ण भाग घाघरा तक उनके अधिकार क्षेत्र में था। परन्तु कनिंघम[१] द्वारा इनकी पहचान प्रसिद्ध बघेल राजा दलकेश्वर और मलकेश्वर से करने से यह मान्यता ढह गयी।

पश्चिमी सुन्दरवन से प्राप्त एक अभिलेख[२] से ज्ञात होता है कि डोम्मणपाल ने ११९६ ई० में खाड़ी के पूर्वी भाग (सुन्दरवन) में अपने आपको स्वतन्त्र शासक घोषित कर लिया था। अभिलेख से ज्ञात होता है कि डोम्मणपाल का पालवंश अयोध्या से स्थान्तरित होकर इस क्षेत्र में पहुँचा था। रमेशचन्द्र मजूमदार[३] का भी कुछ ऐसा ही विचार है। चालुक्यवंश के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। तैलप द्वितीय के दरबारी कवि ने 'गदायुद्ध' नामक अपनी कविता की भूमिका में चालुक्यों का अद्भव अयोध्यापुर से बताया है।[४] फ्लीट[५] के अनुसार यह निश्चित है कि चालुक्य मूलतः उत्तर भारतीय थे। इस प्रकार ज्ञात होता है कि अयोध्या से स्थान्तरित होकर अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की।

उदयमान के ८वीं शती ईसवी के एक अभिलेख[६] से ज्ञात होता है कि उस समय अयोध्या जैसे सुदूर क्षेत्र के व्यापारी भी ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह का प्रयोग सरलता के साथ करते थे तथा ताम्रलिप्ति से अयोध्या का सीधा रास्ता था।

११९४ ई० शिहाबुद्दीन गोरी द्वारा गहड़वाल शासक जयचन्द्र के पराजित हो जाने के उपरान्त कन्नौज के साथ-साथ अयोध्य पर भी तुर्कों का अधिकार हो गया। इस प्रकार गुप्त-युग में राजधानी के रूपमें प्रतिष्ठित गौरवमयी अयोध्या नगरी कभी प्रतिष्ठित शासकों द्वारा तो कभी क्षेत्रीय शासकों द्वारा शासित होते हुये उत्थान और पतन के रास्ते पर चलकर अन्त में तुर्क शासकों के अधीनस्थ हो गयी। अयोध्या का गौरवकाल पुनश्च मुगल काल से प्रारम्भ होता है। किन्तु अयोध्या ने कभी भी परकीय सत्ता स्वीकार नहीं की। अयोध्या वासियों ने बार बार अपनी तथा अपने आराध्य-देव भगवान राम की जन्म भूमि की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष किया जिससे इस नगरी का अयोध्या नाम सार्थक हो सके।

---

१. **ए० एस० आई०,** भाग० २१, पृ० १०५
२. **आई० एच० क्यू०,** भाग १०, पृ० ३२१ और आगे; **इ० ए०,** भाग ३७, पृ० ११९; **ए० ई०,** भाग ३०, पृ० ४२।
३. **हिस्ट्री ऑफ एन्सिएन्ट बंगाल,** पृ० २६७, पाद टिप्पणी।
४. **इ० ए०,** भाग ११, पृ० ४३-४५
५. **इ० ए०,** भाग ७, पृ० २४६
६. **ए० इ०,** भाग २, पृ० ३४५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बुद्ध के समय कोसल की धार्मिक स्थिति

कृष्णदत्त वाजपेयी*

शाक्यमुनि बुद्ध के समय उत्तर भारत में कई बड़े राज्य, महाजनपद थे, जिनमें एक कोसल था। मगध के बाद कोसल जनपद का विशेष महत्व था। इसका विस्तार उत्तर में नेपाल-तराई से लेकर दक्षिण में वत्स की उत्तरी सीमा (वर्तमान उन्नाव जिला से गाजीपुर जिला) तक था। पश्चिम में इसकी सीमा-रेखा स्यन्दिका (सई) नदी तथा पूर्व में गंडक नदी थी। इस विस्तृत क्षेत्र की राजधानी पहले अयोध्या थी। बाद में श्रावस्ती को उसका मुख्य नगर होने का सौभाग्य मिला। गौतम बुद्ध के समय श्रावस्ती का महत्व इसलिए बहुत बढ़ा कि उन्होंने एक लम्बे समय तक इस नगर के जेतवन नामक विहार में निवास किया और वहाँ अनेक महत्वपूर्ण उपदेश दिये थे।

प्राचीन बौद्ध साहित्य तथा अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कोसल क्षेत्र में महाजनपद काल में मुख्यतः वैदिक धर्म का प्रसार था। वहाँ बड़े रूप में यज्ञ किये जाते थे। कोसल के अनेक ब्राह्मण वेदविद्या में निष्णात थे। उन्हें शासन की ओर से विशेष ग्राम दिये गये थे, जिन्हें केंद्र बनाकर ब्राह्मण वैदिक शिक्षा का प्रसार कर रहे थे। इनमें से कई गाँवों तथा उनके मुख्य आचार्यों के नाम बौद्ध साहित्य में मिलते हैं। यहाँ बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय, सुत्तनिपात, मज्झिमनिकाय तथा संयुक्तनिकाय के आधार पर कोसल के कतिपय मुख्य ब्राह्मण-केंद्रों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इससे वैदिक-पौराणिक मान्यताओं का स्वरूप ज्ञात होता है। उक्त ग्रन्थों से यह जानकारी भी मिलती है कि गौतम बुद्ध ने अपने तर्कों के आधार पर किस प्रकार अनेक वैदिक आस्थाओं का प्रतिरोध किया और किस प्रकार बौद्धिक वर्ग के एक अंग को अपने विचारों से प्रभावित किया।

मनसाकट नामक गाँव में विशिष्ट एवं सम्पन्न (महासाल) ब्राह्मण निवास करते थे, जिनमें से तारुक्ख, जानुस्सोणि और तोदेय्य का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। ये ब्राह्मण यज्ञ करने में बहुत धन व्यय किया करते थे। जानुस्सोणि श्वेत सज्जा और रमणियों वाली चार श्वेत घोड़ियों द्वारा खींचे जाने वाले श्वेत रथ पर बैठकर चला करता था, जिसके ऊपर श्वेत छत्र लगा रहता था। वह स्वयं श्वेत पगड़ी, श्वेत वस्त्र और श्वेत पदत्राण धारण करता था और उसे श्वेत चँवर (वालवीजनी) डुलाया जाता था। इस वेष में वह श्वेत रथ (ब्रह्मयान) पर आसीन ब्रह्मा के सदृश दिखाई पड़ता था।

जिन सुत्तों में उपर्युक्त ब्राह्मण महासालों के बुद्ध से मिलने की चर्चा की गयी है वे सभी प्रायः एक ही प्रकार से प्रारम्भ किये गये हैं। उनमें से एक का उदाहरण यहाँ दिया जाता है। पोक्खरसादि नामक प्रमुख ब्राह्मण से बुद्ध के मिलने का वर्णन इस प्रकार किया गया है—बुद्ध ५०० भिक्षुओं के साथ कोसल के इच्छानंगल ब्राह्मण ग्राम पहुँचे। उक्कट्ठ के महासाल ब्राह्मण पोक्खरसादि को समण गोतम इच्छानंगल में आने का समाचार मिला। उसने उनकी यह विशद कीर्ति भी सुनी कि वे बड़े बुद्धिमान्, पूर्ण ज्ञानी, संसार तत्व को जानने वाले और मनुष्यों और देवों में श्रेष्ठ गुरु एवं पथ-प्रदर्शक हैं, तथा वे ऐसे सिद्धान्तों का उपदेश करते हैं जिनका आदि, मध्य और अन्त सभी उत्तम और कल्याणमय है और जिनसे शुद्ध और पवित्र जीवन प्राप्त होता है।

पोक्खरसादि का एक बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान् शिष्य अंबट्ठ था। पोक्खरसादि ने उसे पता लगाने के लिए भेजा कि क्या समण गोतम की जो कीर्ति सुनी गयी है वह सब सब सत्य है और क्या उनमें वे बत्तीसों लक्षण विद्यमान् हैं जो "चक्कवत्ती" अथवा "सम्मा सम्बुद्ध" में पाये जाने चाहिए। शिष्य अंबट्ठ बुद्ध से मिला और उसने उनके समक्ष यह सिद्ध

* एच।१५, पद्माकर नगर, मकरोनिया, सागर—४७०००२, म० प्र०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने का प्रयत्न किया कि ब्राह्मण जन्मना श्रेष्ठ होता है। बुद्ध ने अपने सुविदित तर्कों द्वारा इसका खंडन कर दिया। तब अंबट्ठ ने लक्ष्य किया कि बुद्ध में सभी बत्तीस लक्षण विद्यमान हैं। उसने लौटकर अपने गुरु पोक्खरसादि को इसकी सूचना दी और बुद्ध से जो शास्त्रार्थ किया था उसका भी वर्णन किया। पोक्खरसादि ने ऐसे महान् पुरुष से इस प्रकार का असंगत वार्तालाप करने के लिए अंबट्ठ को धिक्कारा। वह स्वयं उस स्थान पर गया जहाँ बुद्ध ठहरे हुए थे और उन्हें अपने निवास स्थान पर मध्याह्न के भोजन के लिए निमंत्रित किया। बुद्ध ने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन उसके यहाँ भोजन करने के पश्चात् धर्म का उपदेश दिया। पहले उन्होंने दान और शील का महत्व बताया और स्वर्गप्रद कर्मों तथा विषय-भोग के कुपरिणामों के विषय पर व्याख्यान दिया। फिर जब देखा कि श्रोताओं का मन कोमल और नयनशील हो गया है तब उन्होंने उन्हें चार श्रेष्ठ सत्यों का उपदेश दिया। बुद्ध के व्याख्यानों का पोक्खरसादि पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह अपनी पत्नी, संतान, परिजनों एवं परिचरों सहित बुद्ध की शरण में आ गया। उसने उनसे प्रार्थना की कि वे उसे अपना भक्त समझें और जिस प्रकार अन्य उपासकों के यहाँ भिक्षा माँगने जाते हैं उसी प्रकार उसके घर भी भिक्षा ग्रहण किया करें।

दीघनिकाय का 'लोहिच्चसुत' भी इसी प्रकार से आरम्भ होता है—लोहिच्च ब्राह्मण ने अपने नाई भेसिक को समण गौतम को निमन्त्रण देने के लिए भेजा, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। लोहिच्च ब्राह्मण का यह मत था कि यह सर्वथा उचित है कि मनुष्य अपने सत्कर्मों द्वारा पुण्य का अर्जन करे, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह दूसरों से भी कहता फिरे कि उसे किन उपायों से और क्या-क्या सिद्धियाँ प्राप्त हुई। बुद्ध ने तर्क और युक्ति द्वारा उसे यह विश्वास करा दिया कि उसका यह मत ठीक नहीं है। उन्होंने उन गुरुओं की कथा सुनायी जिन्होंने पूर्णता नहीं प्राप्त की थी और जिनके शिष्य उनके उपदेशों का शुद्ध भाव से अनुसरण नहीं करते थे। परन्तु बुद्ध तो स्वयं एक आदर्श और पूर्ण गुरु थे और उन्होंने कितनी ही आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। वे दूसरों को अपने धर्म का उपदेश देते थे, जो उनका अनुसरण कर उससे लाभ उठाते थे। एक बार लोहिच्च ब्राह्मण की भेंट महा-कच्चायन से हुई, जिससे उन्होंने बुद्ध का यह उपदेश सुना कि मनुष्य को आत्मसंयम रखना चाहिए और आत्मसंयम तभी आ सकता है जब मनुष्य अपने को विषयासक्ति से मुक्त रखे।

मज्झिमनिकाय का 'चंकीसुत' इनसे किंचित् भिन्न शैली में आरम्भ होता है। चंकी नामक ब्राह्मण ने देखा कि ओपसाद के सभी गृहपति बुद्ध के पास उनका उपदेश सुनने जा रहे हैं। उसने उनके साथ जाने का निश्चय किया। परन्तु दूसरे स्थानों से आए हुए कुछ ब्राह्मणों ने उसे मना कर दिया और कहा—"चंकी तुम विद्वान् गुरु हो, बहुत उच्च कुल में उत्पन्न हुए हो, सम्पन्न भी हो और राजा पसेनदि (प्रसेनजित्) ने तुम्हें अनुदान भी दे रखा है, अतः तुम्हें समण गौतम से मिलने जाना उचित नहीं है।" चंकी ने उन्हें समझाया कि "समण गौतम भी बहुत उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं, उनके पास धन-सम्पत्ति की कमी नहीं, परन्तु उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर युवावस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण करली। वे पूर्ण सदाचारी हैं, और उन्होंने राग को जीत लिया है। वे अगणित मनुष्यों के ज्ञान दाता हैं। उनके अनुयायियों में बिंबिसार और पसेनदि जैसे नृपतिगण भी हैं, और पोक्खरसादि महासाल ब्राह्मण भी उनका अनुयायी हैं। वे औपसाद में पधारे हैं और मुझे उचित है कि उनका उचित सम्मान करूँ।"

चंकी बुद्ध के पास गया और उसके साथ बहुत से ब्राह्मण गये। परन्तु उसने बुद्ध से बातचीत नहीं की। उसने केवल उनका कापथिक-माणवों के साथ सत्य की प्राप्ति और उसकी अनुरक्षा 'सच्चानुपत्ति' और 'सच्चानुरक्खणा' पर शास्त्रार्थ सुना। इसका उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

जानुस्सोणि ब्राह्मण महासाल बुद्ध से तीन बार मिला था। पहले उसने पिलोतिक परिब्बाजक से सुना कि बुद्ध सम्यक् संबुद्ध हैं, उनका सिद्धान्त सर्वोत्तम है और उनका संघ श्रेष्ठ और पवित्र है। उनका ज्ञान इतना गम्भीर है कि कोई उसकी थाह नहीं पा सकता। जिस किसी विद्वान् ने उनसे शास्त्रार्थ में जूझना चाहा उसे उन्होंने परास्त और निरुत्तर करके अपना अनुयायी बना लिया। उन्होंने कितने ही ब्राह्मणों और गहपति-महासालों को भी अपने तर्क और युक्तियों से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समझाकर अपने सिद्धान्तों की निर्दोषिता सिद्ध कर दी। पिलातिक से बुद्ध की ऐसी प्रशंसा सुनकर जानुस्सोणि के हृदय में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई और दूर ही से उसने बुद्ध को प्रणाम किया। तदनन्तर वह उनके निकट गया और उनसे पिलोतिक के साथ हुई अपनी बातचीत की चर्चा की। बुद्ध ने संक्षेप में उसे अपने धर्म का रहस्य समझाया और इंद्रिय-संयम के उपायों तथा स्मृति एवं ध्यान के अभ्यास (सति-पठ्ठान = स्मृत्युपस्थान) और समाधि के विषय में उपदेश दिया। जानुस्सोणि उनके व्याख्यानों से बहुत प्रभावित हुआ और उनका अनुयायी बन गया।

एक बार जानुस्सोणि ने उन तापसों की चर्चा की जो ध्यान के अभ्यास के लिए वन में चले जाते थे। उसने कहा कि वन में एकांत जीवन व्यतीत करने के कारण उन्हें बड़ा कष्ट होता होगा। बुद्ध ने उत्तर में उसे अपने सब अनुभव बताए जो उन्हें संबोधि-प्राप्ति के पूर्व हुए थे। वे भी वन में एकांतवास में रहकर तपस्या करते थे और कभी-कभी बहुत भयभीत हो जाते थे। परन्तु पीछे उन्हें पता चलता था कि उनके भय का कारण कभी तो कोई पशु होता था, जो उनके पास से होकर निकल जाता था, कभी कोई मोर, जो वृक्ष की एक टहनी नाच कर गिरा देता था और कभी केवल भूमि पर गिरे हुए पत्ते, जो हवा से खड़खड़ा उठते थे। बुद्ध ने बतलाया कि भय का वास्तविक कारण अपने ही मन की विकारपूर्ण अवस्था है। जब उन्होंने अपने विकारों को दूर कर दिया तब वे अभय हो गये। भयंकर वन में भी बैठ कर ध्यान करने से उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं लगता था। उन्हें यह अनुभव हो चुका था और अंत में उन्हें उच्च आध्यात्मिक शक्तियों तथा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो गयी।

एक अन्य अवसर पर जानुस्सोणि ने यह प्रश्न उठाया कि विश्व की सत्ता है या नहीं। बुद्ध ने अपने सर्वविदित तर्कों द्वारा इन दोनों एकन्तिक मतों का खण्डन कर दिया और 'अष्टांग' मध्यम मार्ग का उपदेश दिया, जिसे उन्होंने ब्रह्मयान की संज्ञा दी। उनके मत से पदार्थों के अस्तित्व एवं अनस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठाना चाहिए, क्योंकि वे केवल मृगमरीचिका के समान हैं। उनके सत् या असत् होने के विषय में कोई प्रश्न उठाना व्यर्थ है और वह प्रश्न अनुत्तरित (अव्यक्त) ही रहना चाहिए।

दीघनिकाय में 'पायाति सुत्तंत' की शैली 'चंकोसुत्त' के ही समान है। इस सुत्तंत में समण गौतम के स्थान पर अर्हत कुमार कस्सप का नाम आता है। पायासि ब्राह्मण महासाल नहीं, प्रत्युत राणञ्ञ था। उसका मत था कि न परलोक है, न कोई स्वयं उत्पन्न जीव है, न सत् या असत् कर्मों का कोई फल होता है। कुमार कस्सप ने अनेक उपमाओं और दृष्टांतों द्वारा उसका मत परिवर्तित कर उसे अपना अनुयायी बना लिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन कोशल के भारद्वाज ब्राह्मण

कृष्णानन्द त्रिपाठी*

सरयूपार क्षेत्र में ब्राह्मणों का निवास अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। बुद्ध पूर्व काल से इस क्षेत्र में उनके निवास का प्रमाण मिलता है। बौद्ध साहित्य में अनेक प्रसंगों में ब्राह्मणों का उल्लेख है। उनमें से अनेक में बुद्ध से प्रभावित होकर मतपरिवर्तन के कारण इन घटनाओं का वर्णन विशेष रूप से किया गया है—कोशल नरेश प्रसेनजित, द्वारा इस क्षेत्र में अनेक ग्राम ब्राह्मणों को प्रदान किये गये थे। कुछ ग्रामों में तो ब्राह्मणों का स्थायी निवास था। सरयूपार के ब्राह्मणों का अध्ययन सामाजिक इतिहास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कोशल राज्य में भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मणों की बहुलता थी और उन्हें उच्चस्थान प्राप्त था। सुत्तनिपात में यज्ञकर्ता सुन्दरीक भरद्वाज ने यज्ञकर्म के समय बुद्ध को निकट आने से रोक दिया था।

संयुक्त निकाय में कोशल के अनेक ब्राह्मणों का नाम मिलता है जो भिक्षु बन गये थे। इनमें से ६ नामों में ५ भारद्वाज ब्राह्मण हैं, (१) जटा भरद्वाज, (२) सुद्धिक भरद्वाज, (३) अग्गिक भरद्वाज, (४) सुन्दरीक भरद्वाज, तथा बहुधित भरद्वाज। उपासक बनने वाले १२ व्यक्तियों में नवकम्मिक भरद्वाज का नाम सम्मलित है।

सरयूपार के सामाजिक इतिहास का यह एक रोचक पक्ष है कि इस क्षेत्र के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मणों ने विद्या और उज्ज्वल चारित्रिक गुणों की परम्परा कम से कम पूर्व मध्यकाल तक सुरक्षित रखा जिसका प्रमाण इस काल के अनेक अभिलेखों से प्राप्त होता है। सरयूपार में भारद्वाज ब्राह्मणों के प्रमुख केन्द्र श्रावस्ती, उसके निकट टकारी और गोरखपुर जनपद में कहला नामक ग्राम थे। पूर्वमध्यकाल में इन स्थानों के ब्राह्मणों का निष्क्रमण देश के विभिन्न भागों में हुआ। उनकी विद्या और चरित्र की ख्याति देश के अनेक भागों में गयी थी और वहाँ के शासकों ने इन्हें आमंत्रित कर भूमि दान देने के अतिरिक्त उन्हें प्राशासनिक पद भी प्रदान किये।

७वीं से १३वीं शती के बीच गुजरात, कर्नाटक, उड़ीसा, मालवा, असम, बंगाल एवं बुन्देलखण्ड से प्राप्त अभिलेखों में सरयूपार क्षेत्र के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मणों के अनेक उल्लेख हैं। रोचक बात यह है कि इन लेखों में विनिर्गत, अर्थात् वह स्थान जहाँ से वे निर्गत हुए, का उल्लेख हुआ है। इनमें आदि स्थान के अतिरिक्त उन ब्राह्मणों के गोत्र, शाखा, चरण, प्रवर और वेद भी बताये गये हैं।

दद्द तृतीय के ७वीं शती के गुजरात से प्राप्त एक अभिलेख में श्रावस्ती के वह्वृच् चरण के भारद्वाज गोत्री ब्राह्मण का उल्लेख है। ऋग्वेदीय वह्वृच शाखा के ब्राह्मणों का दूसरा केन्द्र कहल्लग्राम था जिसकी पहचान आधुनिक गोरखपुर जनपद के कहला नामक ग्राम से की गयी है। इनका उल्लेख कलचुरी राजा सोढ़देव के १०७७ ई० के कहला दान-पत्र में भी हुआ है। इसी प्रसंग में शाखाओं की सूची में वह्वृच् का नाम भी मिलता है।

बौद्ध साहित्य में भारद्वाज ब्रह्मणों के गोत्र, चरण, आदि का उल्लेख उनके नामों के साथ नहीं किया गया है, किन्तु अन्य प्रसंगों में कुछ ऐसे तथ्य अवश्य मिलते हैं जिससे उनका ज्ञान होता है।

दीघनिकाय के तविज्जसुत्त में आख्यान है कि ब्रह्मलोक प्राप्त करने के उपाय को लेकर दो ब्राह्मण विद्यार्थियों में विवाद था, जिसके समाधान के लिए वे बुद्ध के पास गये। इस प्रसंग में विभिन्न वैदिक शाखाओं का उल्लेख

* प्रा० इ० पुरातत्व एवं सं० विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ है, जिनमें वह्वृच् भी एक है जो ऋग्वेदीय शाखा है। यह ध्यान रखना होगा कि यह विवाद कोशल क्षेत्र के बीच हुआ था, अतः निश्चय ही इस प्रसंग में जिन शाखाओं का उल्लेख हुआ है उनके अनुयायी इसी क्षेत्र में विद्यमान थे।

७वीं शती ईस्वी में इस वह्वृच्चरण के अनुयायी ऋग्वेदीय भारद्वाज गोत्रीय ब्रह्मणों का केन्द्र कोशल की प्राचीन राजधानी श्रावस्ती में था। कालान्तर में ये ब्राह्मण कर्नाटक में अपनी काव्य प्रतिष्ठा और ब्राह्मणोचित कर्त्तव्य पालन के लिए प्रतिष्ठित हुए, तो चन्देल शासन में वे दण्ड नायक महापुरोहित पद पर नियुक्त किये गये। वे प्रधान मंत्री और महात्तम जैसे महत्वपूर्ण पदों पर भी नियुक्त किये गये थे। कुछ अभिलेखों में उनके युद्ध क्षेत्र में प्राण देने का उल्लेख भी होता है। वे यज्ञ-कार्य के भी विशेषज्ञ थे। वे सामवेदी छान्दोग्यशाखा तथा कौमुथ शाखा के अतिरिक्त यजुर्वेदी मध्यान्दिन शाखा का भी अनुसरण करते थे। उड़ीसा के अभिलेखों में टकारी के वाजसनेय शाखानुयायी भारद्वाज ब्रह्मणों का उल्लेख मिलता है।

चाहमान नरेश विग्रहराज चतुर्थ के काल में टकारी के भृग्वांगिरस ब्राह्मण शुभानन्द के उल्लेख से ज्ञात होता है कि चाहमान शासन में भी उनकी प्रतिष्ठा थी।

भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मणों की आज भी प्रतिष्ठा है। गोरखपुर जनपद में सरार, देवरिया में सजाँव और बस्ती में रामपुरवा तथा वरगदी के भारद्वाज ब्राह्मण बड़े सम्मानित हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों की समन्वय भूमि "अवध"

श्रीकान्त पाठक*

संस्कृति ऐसे तत्वों की समष्टि है जिनमें मानव जीवन नियन्त्रित एवं सुव्यवस्थित होता रहता है। इसके निर्माण और विकास में अनेक तत्वों का योग रहता है। भारतीय समाज और संस्कृति की एक मुख्य विशेषता यह रही है कि वह दूसरी समकक्ष स्थिति के साथ समन्वय स्थापित करती रही है। अनुकूल और प्रतिकूल तथा सहयोगी और विरोधी प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित करके चलना भारतीय संस्कृति का मूल आधार तत्व रहा है। सम्पूर्ण जगत् में समन्वय की भावना है, चाहे वह जड़ हो या चेतन। यहाँ पर चर्चा का का विषय है, "अवध क्षेत्र की संस्कृति", जहाँ पर ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों का समन्वय था। ब्राह्मण संस्कृति का तात्पर्य वैदिक और श्रमण का तात्पर्य है, जैनों एवं बौद्धों की संस्कृति।

"अवध" का शाब्दिक अर्थ है, अवध्य (अ + वध) अर्थात् जिसका वध न हो सके। अवध का सांस्कृतिक इतिहास सही अर्थों में आर्यों के आगमन से प्रारम्भ होता है। सामान्यतः यह बात सर्वमान्य है कि आर्यों का प्रथम अधिवास सप्त-सिन्धु प्रदेश में हुआ, किन्तु आर्य संस्कृति का पूर्ण विकास मध्यदेश के नाम से अभिहित की जाने वाली गङ्गा, यमुना और सरयू की घाटी में तथा विशेष रूप से अवध क्षेत्र में हुआ, जिसे प्रारम्भ में कोसल नाम से जाना जाता था। ध्यातव्य है कि ईसा पूर्व तीन हजार वर्ष से ईसा पूर्व दो हजार वर्ष के बीच आर्यों की जो दो शाखाएँ गङ्गा यमुना के मैदान में आकर बसीं, उनमें से पहली शाखा गङ्गा को पारकर सरयू की घाटी में आयी और उसने अयोध्या को अपना केन्द्र बनाया। दूसरी शाखा का मुख्य केन्द्र वाराणसी में स्थापित हुआ, इस प्रकार अवध का यह क्षेत्र आर्य संस्कृति का सर्वप्रथम केन्द्र बना। कोसल के स्थापना का श्रेय मनु को दिया जाता है। मनु ने ही अयोध्या को कोसल की राजधानी बनाया। मनु के कई पुत्र थे, परन्तु मुख्य दो ही थे। एक इक्ष्वाकु (जिनकी राजधानी अयोध्या थी) और दूसरी पुत्री थी, जिसका नाम इला था। इक्ष्वाकु से ही सूर्य वंश चला।

इसी परम्परा में मान्धाता, सगर, भगीरथ, दशरथ, राम हिरण्यनाभ, कोशल और महाकोशल, प्रसेजजित् जैसे अनेक प्रसिद्ध पुरुषों से भारतीय संस्कृति और इतिहास, कथा एवं विभिन्न ऐतिहासिक कालक्रमों की घटनाएँ अवध की संस्कृति से जुड़ी हुई हैं। ब्राह्मण संस्कृति के रक्षक मनु बड़े विद्वान् और धर्मात्मा थे उन्हीं से मानव वंश प्रसिद्ध हुआ जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सारे वर्ण थे। इन्ही मनु के पुत्र नाभाग और अम्बरीष को महाभारत के साक्ष्यों के आधार पर कहा जाता है कि इन्होंने हजारों गौयें यज्ञ करके ब्राह्मणों को दान दीं। इसी वंश परम्परा के युवनाश्व के पुत्र मान्धाता थे जिन्हें सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य भोगकर्त्ता माना गया है। भगीरथ ऐसे प्रतापी राजाओं का नामोल्लेख यहाँ के राजवंशों में होना अवध की संस्कृति के लिए गर्व का विषय है। दशरथ के पुत्र राम का होना, जिसके प्रभाव का ही प्रतिफल है कि समस्त अवध राम के आदर्शों में लीन हो गया। इस अवध क्षेत्र की संस्कृति राममय आदर्शों को लेकर पल्लवित हुई, जो आज भी यहाँ के मन्दिर एवं जनता के बीच से राममय आदर्शों की झलक देते हैं।

स्मरणीय है कि अवध क्षेत्र का इतिहास जितना राजनीतिक है उससे अधिक सांस्कृतिक और सामाजिक है। उत्तर-वैदिक साहित्य में उत्तरी भारतवर्ष की वैदिक और उत्तर-पूर्वी भारतवर्ष की अवैदिक संस्कृतियों के सम्मेलन के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं। विदेघमाधव जैसे ऋषियों की उत्तर-पूर्वी यात्राएँ सरयू और सदीनारा के उल्लेख, कोशल, अङ्ग,

---

* शीशमहल, शास्त्रीनगर, अयोध्या, फैजाबाद।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मगध और मिथिला की चर्चाएँ तथा सूर्य वंश की अनेक शाखाओं के पूर्वी भारतवर्ष में होने की पौराणिक परम्पराएँ भारतीय संस्कृति के उस विशेष पक्ष से जुड़ी हुई हैं, जिसमें विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं के सम्मिलन के स्पष्ट दर्शन होते हैं। अवध क्षेत्र मोटे तौर पर आधुनिक फैजाबाद, प्रतापगढ़ के कुछ भाग, जौनपुर, वाराणसी और गाजीपुर के जिलों के कुछ हिस्से, आजमगढ़, देवरिया, गोरखपुर, बस्ती, बहराइच और गोंडा जिलों तक विस्तृत था। इन जनपदों में संख्या की दृष्टि से तो नहीं किन्तु सामाजिक और भौतिक सम्पत्ति के प्रमाण की दृष्टि से आज भी सरयूपारीण ब्राह्मणों और सूर्यवंशी क्षत्रियों का जोर है। इन सबके मूल अवध के प्राचीन सांस्कृतिक और मानव जातीय परम्पराओं से स्पष्टतः जुड़े हुए दिखाई देते हैं। सरयूपारीण ब्राह्मणों के मुख्य स्थल गोंडा, बस्ती, गोरखपुर, छपरा, गोपालगंज और सारन जिलों में पड़ते हैं।

उक्त सभी स्थल सरयू नदी के उत्तर अथवा बाँये किनारे पर पड़ते हैं। इनकी मूल-परम्परा का वर्णन पद्मपुराण में सुरक्षित है। जहाँ लङ्का विजय से लौटने के उपरान्त राम द्वारा अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान की पूर्णाहूति के समय इन क्षेत्रों के यज्ञ में लगे हुए ब्राह्मणों को दान में दिये जाने के उल्लेख हैं और जो अयोध्या के दूसरी किनारे से बहने वाली सरयू नदी के पार पड़ने के कारण सरयूपारीण ब्राह्मण कहलाये। इन ब्राह्मणों के सभी प्रमुख स्थान सरयू नदी के उत्तर में हो पड़ते हैं। यथा सोनौड़ा (बस्ती जिले में), धानी, सोहगौरा, मामखोर, खरगइशखार (गोरखपुर जिले में), सिरजम, धतुरा, नदौली, पयासी (देवरिया जिले में) जहाँ से इनके मुख्य वंश अपनी उत्पत्ति जोड़ते हैं। इन सभी स्थानों की स्थिति प्रायः नदियों के किनारे दुर्गम स्थानों में है, जो कदाचित् इनके प्राचीन पुरुषों की तापस-वृत्ति, अध्ययन-अध्यापन में लीन होने की प्रक्रिया और अत्यन्त थोड़े में ही गुजर कर आध्यात्मिक चिन्तन में लगे रहने की परम्पराओं के प्रतीक हैं। वास्तव में अवध क्षेत्र की संस्कृति, समाज के वैदिक आदर्श, यज्ञ एवं धार्मिक संस्कार, देवता के रूप में राम की कल्पना और राम के आदर्श रूपी तत्वों के साथ प्रवाहित हुई। यह निश्चित है कि भारतीय जनमानस में मान्धाता, हरिश्चन्द्र, रोहित, सगर, भगीरथ, दशरथ और राम विभिन्न युगों के प्रवर्तक माने जाते हैं। अत्यन्त सम्भव है कि इन महान, शासकों की दूर-दूर तक की जाने वाली विजयें उनके कुछ अतिमानवीय कार्य, भारतीय संस्कृति का दूर-दूर तक प्रसार तथा मान्यताओं के पीछे मूल कारण के रूप में अवश्य रही हैं।

परन्तु अवध क्षेत्र की यह आर्य संस्कृति वृहद्बल के बाद विलुप्त सी हो गई। अवध का क्षेत्र उत्तर वैदिक युग से लेकर १९४२ तक अनेक क्रांतिकारी आन्दोलनों का एक मुख्य क्षेत्र रहा है। जहाँ यह अत्यन्त आरम्भ में वैदिक और अवैदिक संस्कृतियों के आपसी सम्मिलन का क्षेत्र था, वहीं गौतमबुद्ध ने वैदिक धर्म की पक्षवाद और पशु बलि जैसी मान्यताओं, जन्मपरक तत्कालीन सामाजिक वर्ण-व्यवस्था और जाति सम्बन्धी कमजोरियों तथा कुरीतियों पर कठोर आघात किया और स्वतन्त्र रूप में गणतांत्रिक-परम्परा की अनेक मान्यताओं को चुनौती दी। धार्मिक और सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में बुद्ध की यह चुनौती अवध क्षेत्र की प्रथम और कदाचित् सर्व प्रथम क्रांति थी।

यद्यपि अयोध्या में बौद्ध धर्म का कोई स्तूप आदि उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु प्राचीन काल में अयोध्या बौद्ध धर्म, दर्शन की साधना और प्रचार का प्रमुख केन्द्र था। बौद्धों का ऐसा दृष्टिकोण है कि वैष्णव सम्प्रदाय या रामभक्ति साधना का केन्द्र बहुत बाद में बना। बौद्ध ग्रन्थों में अयोध्या को साकेत और विशाखा कहते हैं। प्रारम्भिक बौद्धकालीन साहित्य में विशाखा देवी का नाम बहुत प्रसिद्ध है। विशाखा राजगृह के एक धनी व्यापारी धनंजय की बेटी थी। धनंजय राजगृह से साकेत में आकर बसा था। विशाखा ने अयोध्या में एक पूर्वाराम बनवाया था, जहाँ पर महात्मा गौतम बुद्ध सोलह वर्ष ठहरे थे। ऐसी बिडम्बना है कि जब बुद्धदेव अयोध्या में रहते थे, उन्हीं दिनों एक बार उन्होंने अपनी दतून फेंक दी थी, जो जम गई और उस पेड़ को एक हजार वर्ष पहले चीनी यात्री ह्वेनसाँग और उसके भी ढाई सौ वर्ष पहले फाह्यान ने देखा था। इस यात्रा विवरण में फाह्यान साकेत के बारे में कहता है कि दक्षिण फाटक से निकलकर सड़क के पूर्व ओर वह स्थान है, जहाँ बुद्धदेव ने अपनी दतून गाड़ दी थी। इस दतून से ७-८ फुट ऊँचा पेड़ उगा जो न घटा, न बढ़ा। अयोध्या में बुद्ध कुण्ड नामक तालाब के बारे में ह्वेनसाँग ने कहा है कि अयोध्या में बुद्धकुण्ड नामक एक पवित्र तालाब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। प्राचीन काल में गौतम बुद्ध ने यहाँ सोलह वर्षों का समय बिताया था और ज्ञान प्राप्त किया था। इसी बुद्धकुण्ड को वर्तमान में 'दन्तधावन कुण्ड' के नाम से जाना जाता है। इसके समीप में वहुत बड़ा बौद्ध-विहार है, जिसमें बौद्ध हीनयानी हजारों भिक्षु निवास करते थे। यहाँ बुद्धदेव के हाथ का लगाया हुआ वटवृक्ष था जिसे रीजडेविड्स महोदय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ बुद्धिस्ट इण्डिया में बोधिवृक्ष से समीकृत किया है। यह भी कहा जाता है कि किसी रानी ने अशुद्धावस्था में इस वृक्ष को छू लिया था, जिसके कारण वह सूख गया। इन लकड़ियों के वारें में यह उल्लेख है कि ये सूखी लकड़ियाँ चीन, जापान, बर्मा, श्याम और लंका आदि देशों के तमाम बौद्ध भिक्षु आकर ले गये थे। ये लकड़ियाँ आज भी उन बौद्ध मन्दिरों में सुरक्षित हैं। परन्तु जनता की विश्वसनीयता का जो प्रमाण "अयोध्या माहात्म्य" में मिलता है, उसमें कहा गया है कि इसी बुद्धकुण्ड के किनारे बैठकर श्रीरामचन्द्र जो दतून-कुल्ला किया करते थे। किन साक्ष्यों को ऐतिहासिकता की सांस्कृतिक परिधि पर रखा जाय, कुछ कहा नहीं जा सकता। बौद्ध ग्रन्थों से यह भी विदित होता है कि बुद्ध भगवान् ने अपने सूत्र अंजन बाग में सुनाये थे और वह बाग अयोध्या में था। अयोध्या में रहकर बुद्धदेव ने क्या-क्या कार्य किये, इसका कोई विस्तृत विवरण नहीं मिलता। परन्तु यह सुनिश्चित है कि बुद्धकालीन वह अंजन बाग वर्तमान नजरबाग हां। सूर्यवंश के काफी समय पश्चात् शिशुनाग वंश के राजा के बारे में उल्लेख है कि राजा नन्दिवर्द्धन ने अयोध्या में एक स्तूप बनवाया था, जो आज मणिपर्वत के नाम से ज्ञात है।

बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय के गुरु बसुबन्धु के बारे में कहा जाता है कि वे अयोध्या के रहने वाले थे। अयोध्या में रहकर विक्रमादित्य ने गुरू बसुबन्धु से शिष्यत्व ग्रहण किया। विक्रमादित्य के मरने पर युवराज बालादित्य और उनकी माता दोनों को अयोध्या बुलाने का संकेत है। स्मिथ का कहना है कि गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने बसुबन्धु को या तो अपना मन्त्री बनाया या सभासद के रूप में रखा। स्मिथ की यह भी धारणा है कि चन्द्रगुप्त ने अपनी किशोरावस्था में बौद्धधर्म सीखा था और उसका पक्षपाती था। ब्राह्मण धर्म का समर्थक वह बाद में बना।

अयोध्या जो ब्राह्मण एवं श्रमण संस्कृति की केन्द्रस्थली थी, जहाँ पर वैष्णवों का प्राबल्य था वहीं पर अयोध्या जैन दृष्टियों में लगभग उतनी ही महत्वपूर्ण हो गई जितनी कि वैष्णवों के लिए थी। जैन मतावलम्बियों का ऐसा दृष्टिकोण है कि सभी तीर्थंकर कालक्रमानुसार अयोध्या में ही जन्म लेते हैं। यह कोई संदेहपूर्ण बात नहीं है कि आदि तीर्थंकर महावीर तक सभी इक्ष्वाकुवंशी राजपुत्र रहे हैं। जैन आदि पुराण के अनुसार अयोध्या के पहले राजा ऋषभदेव थे जिनको आदिनाथ भी कहा जाता था। इन्होंने सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया। पारम्परिक ऐतिहासिक साक्ष्यों से विदित होता है कि ऋषभदेव सहित छः तीर्थंकरों का जन्म अयोध्या में ही हुआ था। इनके नाम पर पाँच मन्दिर आज भी अयोध्या में उपलब्ध हैं।

ऋषभदेव का प्राचीन मन्दिर स्वर्गद्वार के निकट एक टीले पर सुरक्षित है। इसे शाहजूरन के टीले के नाम से भी जाना जाता है। कहा जाता है कि यहाँ आदिनाथ का बड़ा मन्दिर था, जिसे शाहजूरन ने ध्वस्त कर दिया था। दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का मन्दिर सप्तसागर के पश्चिम में स्थित है, इसमें एक शिलालेख तथा एक मूर्ति स्थापित है। संवत् १७८१ में नवाब शुजाउद्दौला के कोषाध्यक्ष केशरीसिंह ने नवाब की आज्ञा से इस मन्दिर का निर्माण करवाया था। चौथे तीर्थंकर अभिनन्दननाथ का जन्म भी अयोध्या में ही हुआ था। उनकी स्मृति में भी एक छोटा सा मन्दिर १७२४ ई० में बना। सुमतिनाथ का मन्दिर रामकाट मुहल्ले के निकट कटरा मुहल्ले के अन्दर जू० हाई स्कूल के निकट है। पहले इसमें पार्श्वनाथ की दो तथा नेमिनाथ की तीन मूर्तियाँ स्थापित थीं, किन्तु आज चरणपादुकाएँ ही बनी हैं। चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ की स्मृति में एक छोटा मन्दिर गोलाघाट नाले के पास एक ऊँचे टीले पर है। ऋषभदेव की एक विशाल प्रतिमा ईसवी सन् १९७२ में बरगदहिया मुहल्ले में स्थापित की गई। पाँच अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमायें भी साथ में स्थापित हैं। इस मन्दिर के साथ एक धर्मशाला व मन्दिर आलमगंज में भी स्थित है। श्वेताम्बरों का एकमात्र मन्दिर व धर्मशाला कटरा में स्थित है जो वि० सं० १८८१ में ऊदयचन्द ओसवाल द्वारा बनवाया गया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभी हाल की खुदाइयों में डॉ० बी० बी० लाल को एक धूसर पकी मिट्टी की आकृति प्राप्त हुई है, जो कार्योत्सर्ग मुद्रा में खड़ी है जिसे डॉ० लाल ने "जैन केवलिन्" की मूर्ति माना है। यह लगभग चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के स्तर से प्राप्त हुई है। इसे समूचे देश में प्राचीनतम "जिनमूर्ति" माना जाता है। हनुमानगढ़ी से प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी की विशालकाय पकी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ मिलीं जो पूजा के प्रयोग में आती थीं। परन्तु इस मूर्ति का समीकरण डॉ० लाल ने नहीं स्थापित किया। मात्र इतना संकेत है कि ऐसी मूर्तियाँ अहिछत्र की खुदाई से भी प्राप्त हैं। कौशाम्बी, पिपरहवा, वैशाली आदि से भी इसी प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

उपर्युक्त साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि अवध क्षेत्र ऐतिहासिक कालक्रमानुसार प्रारम्भ में ब्राह्मण संस्कृति का महान् केन्द्र था, कालान्तर में बौद्धों का एक महान् गढ़ बन गया। परन्तु जो भी हो इसी क्षेत्र की पवित्र भूमि में जैन जैसी संस्कृतियाँ भी पनपी वे भले ही एक क्षीण परम्परा का संकेत देती हों। इन तथ्यों का अध्ययन करने से हमें ऋग्वेद की एक ऋचा का स्मरण हो आता है जहाँ पर समाज के ऐक्य का आवाहन किया गया है :

"एक जगह एकत्रित होकर आपस में बोलो, एक ही तरह के विचार करो, जगह सबकी है, समिति सबकी है, मस्तिष्क सबका है। इसीलिए अपने विचारों को एक जैसा बनाओं, जिससे कि सभी प्रसन्नतापूर्वक एक हो सकें।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में नदी गोमती

विपुला दूबे*

आर्यों के प्राचीनतम वाङ्मय ऋग्वेद[1] में "गोमती" शब्द अनेकशः प्रयुक्त है, लेकिन जिस "नदी विशेष" के अर्थ में हम सन्प्रति उसे रूढ़ पाते हैं उस अर्थ में यह ऋग्वेद में प्रयुक्त न था। तो फिर किन-किन अर्थों में व्यवहृत होता हुआ गोमती शब्द "नदी गोमती" के रूप में स्थापित हो गया? प्रस्तुत शोधपत्र में इसकी उत्पत्ति एवं विकास क्रम पर विचार किया जायेगा।

ऋग्वेद में प्रयुक्त गोमती ऐसे क्षेत्र या प्रदेश का वाची था जो विपुल गायों अथवा पशुओं से युक्त होता था। भाष्यकार सायण[2] ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में "गोमति" की व्याख्या "बहुभिर्गोभिर्युक्ताः" किया है। यहाँ "गो" से तात्पर्य गयों से नहीं है अपितु समस्त पशुओं से है, क्योंकि कई मन्त्रों "गोमति" का व्याख्या "गवादियुक्ते"[3] तथा "पश्वादि-युक्तानि"[4] के अर्थ में भी किया गया हैं; अर्थात् ऐसा क्षेत्र या स्थल जो पशुओं से युक्त हो। ऋग्वेद[5] के एक मन्त्र में गोमती तथा मही एक साथ उल्लिखित हैं। यदि गोमती की पूर्व व्याख्या को स्वीकार किया जाय (अर्थात् ऐसा भू-भाग जो पशुओं से युक्त हो तो यहाँ "मही" का प्रयोग अतिरिक्त लगता है लेकिन यहाँ मही भूखण्ड के अर्थ में नहीं, अपितु सायण के अनुसार महनीय या पूजनीय के अर्थ में प्रयुक्त है, ऐसा क्षेत्र जो गौ से युक्त होने के कारण महनीय है।

ऋग्वेद में गोमती 'गो भूमि' के अतिरिक्त दूसरे अर्थ में भी प्रयुक्त हुई हैं; यथा द्वितीय मण्डल[6] में "रश्मियों से युक्त" के अर्थ में तथा चतुर्थ मण्डल[7] में "सेना" के अर्थ में। इसके साथ ही आठवें मण्डल[8] में "गोमती नामक" एक नदी के रूप में तथा दशम मण्डल[9] में गोमती "नदी" के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त है।

क्रमशः विविध सन्दर्भों में गोमती शब्द का अर्थ परिवर्तन निश्चय ही ध्यानाकर्षक है। यह परिवर्तन तत्कालीन संस्कृति को व्याख्यायित करने का एक आधार है। यह सर्वमान्य है कि ऋग्वैदिक काल की अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित थी। कृषिप्रधान अर्थ व्यवस्था में पशुओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ग्राम्य जीवन में आज भी एक ही वस्तु कभी विभिन्न कामों के सम्पादन से तथा कभी विभिन्न वस्तुओं के आरोपण

---

* प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति, गोरखपुर वि० वि०, गोरखपुर।

१. **ऋग्वेद**, १.६.३, १.४८.२, १.४८.१५, १.११३.१८, १.१२३.२२, ८.७०.६, ८.५.९।

२. **तत्रैव**, १.४८.१५, १.८६.३, उत वा यस्ये वाजिनो नु विप्रमतक्षत स गन्ता गोमति व्रजे ॥३॥

३. **तत्रैव**, ८.२१.८।

४. **तत्रैव**, ८.२३.२९।

५. **तत्रैव**, १.८.८, एवा हयस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही।
पक्का शाखा न दाशुषे ॥८॥

६. **तत्रैव**, २.२८.२।

७. **तत्रैव**, ४.२१.४, यो वायुना जयाति गोमतीषु प्रधृष्णुया नयति वस्यो अच्छ ॥४॥

८. **तत्रैव**, ८.२४.३०, यत्वा पृच्छादीजानः कुहया कुहयाकृते। एषो अपश्रितो वलो गामतीमव तिष्ठति ॥३०॥

९. **तत्रैव**, १०.७५.६, तृष्टामया प्रथमं यातवे सज़ः सुसत्वरिसया श्वत्या त्या। त्वं सिन्धो कुभया गोमती क्रुमुं मेहल्वी सरथं याभिरीयसे ॥६॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से विविध नामों को धारण करती है। जैसे—पगहा, जब इससे पशुओं को बाँधते हैं तो पगहा, जब कुएँ से पानी निकालते हैं तब डोर, तथा जब इसके माध्यम से कोई भारी सामान उठाने या खींचने के लिए प्रयोग करते हैं तब 'बरहा' नाम से सम्बोधित करते हैं।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि बहुसंख्यक 'गो समूह' से आपस में पशुओं के लिसे संघर्ष हुआ करता था, साथ ही ऋग्वेद के आठवें[1] मण्डल में पशु समूह पर स्वामित्व प्राप्त करने की बात भी की गयी है, जो इस तथ्य का निरूपण करता है कि पशुओं पर स्वामित्व प्राप्त करने के निमित्त सेना की आवश्यकता पड़ती होगी। इस प्रकार 'गो समूह' को जिसके माध्यम से संरक्षित किया जाता था, उसे भी ''गोमती'' नाम दे दिया गया।

यहाँ इस बात की भी सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि बहुसंख्यक गो समूह चारागाह की सुविधा सुलभ होने के कारण नदियों की उपत्यकाओं में चरने के लिये ले जाये जाते थे, इस प्रकार पशु समूह से युक्त होने के कारण पहले नदियों की उपत्यका ''गोमती'' के नाम से तथा शनैः शनैः इस शब्द का व्यवहार नदियों के पर्याय के रूप में किया जाने लगा।

नदी के रूप में ''गोमती'' का उल्लेख ऋग्वेद में मात्र दो स्थलों पर हुआ है। आठवें मण्डल[2] में प्रयुक्त ''गोमती', की व्याख्या सायण ने ''एतन्नामिकांनदीम्'' (अर्थात् इस नाम की नदी) तथा दशम मण्डल[3] में मात्र नदी किया है। ऋग्वेद में वर्णित गोमती नदी का समीकरण प्रसिद्ध विद्वान् जिमर तथा लुडविग[4] ने अफगानिस्तान की गोमल नदी से किया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र ''कूल सूद स्थल कर्षाः संज्ञायाम्'' (६.२.११९) की व्याख्या करते हुए काशिका[5] के अनुसार ये चार उत्तर पद स्थलवाची नामों में आते थे। इसी के उदाहरण में ''कुभाकूल'' तथा ''गोमतोकूल'' का उल्लेख है, जिसे क्रमशः ''कुभा'' तथा ''गोमल'' कहा जाता है।

पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद की संहिता को सबसे प्राचीन मानते हैं, उनका विचार है कि इसके अधिकांश सूक्तों की रचना पंजाब में हुई। उस समय आर्य अफगानिस्तान से गंगा-यमुना तक के प्रदेश में फैले हुए थे। उनके मत में ऋग्वेद में कुभा (काबुल), सुवास्तु, (स्वात), कुर्मु (कुर्रम), गोमती (गोमल) सिन्धु, गंगा, यमुना, सरस्वती तथा पंजाब की पाँच नदियों का उल्लेख है। इस नदियों से सिंचित प्रदेश भारत में आर्यों का आदि क्रीड़ा स्थल माना जाता है।[6]

ऋग्वेद में[7] ''गोमती व्रजे'' का उल्लेख कई स्थलों पर साथ-साथ हुआ है। ये दोनों शब्द एक दूसरे के सगोत्र लगते हैं। इसलिए गोमती को समझने के लिए ''व्रजे'' को समझना भी आवश्यक है। सायण[8] ने ऋग्वेद में आये ''व्रजे'' की व्याख्या ''गोष्ठे'' किया है, जहाँ पशु विश्राम के लिए जाते हैं। इसके साथ ही ऋग्वेद[9] के एक दूसरे मन्त्र में प्रयुक्त ''व्रजे'' की व्याख्या सायण ने ''गजाश्वादिपशुसमूहे'' किया है। मनुस्मृति[10] तथा महाभारत[11] में प्रयुक्त ''गोव्रज''

---

१. **तत्रैव,** ८.५१.५, यो नौदाता वसूनामिन्द्रं तं हूमहे वयम्। विद्मा ह्यस्य सुमतिं नवीयसीं गमेम गोमती व्रजे ॥५॥
२. **तत्रैव,** ८.२४.३०।
३. **तत्रैव,** १०.७५.६, त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥६॥
४. गिरीश चन्द्र अवस्थी, **वेद धरातल,** पृष्ठ ३००।
५. वासुदेवशरण अग्रवाल, **पाणिनिकालीन भारतवर्ष,** पृष्ठ ७८।
६. हरिदत्त वेदालंकार, **भारत का सांस्कृतिक इतिहास,** पृष्ठ ३५।
७. **ऋग्वेद,** १.१.८६.३, २.३८.८, ८.४६.९, ८.५१.५।
८. **तत्रैव,** १.८६.३।
९. तत्रैव, ८.५१.५।
१०. सच्चिदानन्द मिश्र, **प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन के कतिपय पक्ष,** पृष्ठ ७८।
११. **तत्रैव।**

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शब्द उल्लेखनीय है, जिसका अर्थ "गोष्ठ" होता है। गेल्डनर ने "व्रज" शब्द का अर्थ "पशुसमूह" किया है। व्रज का दूसरा अर्थ गोचर भूमि भी बताया गया है।

ऋग्वेद में प्रयुक्त "व्रज" शब्द की व्याख्या मुख्यतः दो तीन अर्थों में की गई है—प्रथमतः गोष्ठ के अर्थ में यह शब्द बड़ा दिलचस्प है, आज भी ग्रामीण अञ्चल में जहाँ पशु तथा कृषि से सम्बन्धित वस्तुएँ रखी जाती हैं उसे "घोठा" कहते हैं। पूर्वांचल का यह घोठा निश्चय ही गोष्ठ का बिगड़ा हुआ रूप है। द्वितीयतः गोष्ठ के अतिरिक्त व्रज की व्याख्या "पशुसमूह" भी किया गया है। लेकिन सायण तथा गेल्डनर की दूसरी व्याख्या व्रज शब्द के सम्पूर्ण अर्थ को अपने में समाहित किए हुए नहीं लगती। व्रज से पशुसमूह का नहीं अपितु स्थल का बोध होता है।

ऋग्वेद के अतिरिक्त परवर्ती ग्रन्थों में "गोमती" का उल्लेख प्राप्त होता है, लेकिन पूर्ववर्ती अर्थ से इतर अर्थ में। जहाँ वैदिक या साहित्य में कई अर्थों में "गोमती" शब्द व्यवहृत था, वहीं उत्तरवर्ती ग्रन्थों में यह विशेष नदी के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। रामायण[1] तथा महाभारत[2] में यह एक विशिष्ट नदी के रूप में वर्णित है। लेकिन ऋग्वैदिक काल में इस शब्द का जो मूल अर्थ था, वह पूर्णतया तिरोहित नहीं हो जाता, अपितु उसकी कुछ झलक इन ग्रन्थों में भी मिल जाती है। यथा रामायण[3] में वर्णित है कि दीर्घकालीन यात्रा के पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी ने समुद्रगामिनी गोमती नदी को पार किया जो शीतल जल की उत्स थी, तथा जिसकी कछार में बहुत सी गौएँ विचरती थीं।

महाभारत[4] काल में भी "गोमती" एक विशिष्ट नदी के रूप में जनमान्य हो चुकी थी। इस ग्रन्थ में भी नदी गोमती के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहा गया है—कि उस नदी में स्नान करके नियमित भोजन करने वाला मनुष्य सहस्र गोदान करने का पुण्यफल प्राप्त करता है। ये दोनों प्रसङ्ग इस बात की पुष्टि करते हैं कि अतीत पूर्णतया मृत नहीं होता। अतीत दो प्रकार का होता है—१. मृत अतीत-घटनाएँ तथा व्यक्ति २. जीवन्त अतीत—अर्थात् परम्परायें जिसका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सम्प्रेषण थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ होता रहता है[5]।

रामायण[6] में गोमती की भौगोलिक स्थित का वर्णन इस प्रकार किया गया है। कोशल राज्य के पश्चिम में गोमती दक्षिण में स्यन्दिका या सई, पूर्व में विदेह से कोशल को अलग करने वाली सदानीरा तथा उत्तर में नेपाल की पहाड़ियाँ थी। इस स्थिति की पुष्टि बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय[7] से भी हो जाती है—कोशल के अन्तर्गत गोमती तट पर स्थित केसपुत्र का कालामस भू-भाग तथा शाक्यों का देश कपिलवस्तु भी आ जाता था। महाभारत[8] में भी गङ्गा, गोमती के सङ्गम का उल्लेख है तथा उसे मार्कण्डेय तीर्थ कहा गया है।

---

१. **रामायण**, अयोध्या काण्ड, ४९.११.१२, लंका काण्ड, १२७.२८।
२. **महाभारत**, द्वितीय खण्ड, चतुर्शीतितमोध्याय, ७३, ८०, ८२।
३. **रामायण**, अयोध्या काण्ड, ४९।

गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शीत वहां नदीम्
गोमतीं गोयुतानूपामतरत सागरंगमाम्।। ११।।

४. **महाभारत**, द्वितीयखण्ड, चतुर्शीतितमोध्याय, ७४, ७५।
५. सम्पादक डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, **इतिहास, स्वरूप एवं सिद्धान्त**।
६. **रामायण**, द्वितीय काण्ड ४९, ११, १२, ५०.१, सातवाँ १०४, १५।
७. **अंगुत्तरनिकाय,** I, १८८; **पी० टी० एस०**, I. सी. II ८०८
८. **महाभारत**, द्वितीय खण्ड, चतुर्शीतितमोध्याय,

मार्कण्डेयस्य राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम्।। ८०।।
गोमती गंगयोश्चैव संगमें लोक विश्रुते।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुराणों[1] में अनेक गोमतियों का उल्लेख मिलता है, तथा इस नदी का अस्तित्व न केवल पूर्वी उत्तरी भारत में ही दिखाई पड़ता है, अपितु गोमती नामक नदी का उल्लेख द्वारका,[2] गोआ[3] तथा गोदावरी नदी[4] के उद्भव के समीप भी प्राप्त होता है। यह गोतमी भी कहलाती है, क्योंकि यहाँ गौतम ऋषि की कुटी थी। पुराणों के रचनाकाल तक इस नदी की पवित्रता इतनी स्थापित हो चुकी थी कि स्वयं भगवान् ब्रह्मा भी स्कन्द पुराण[5] में यह कहते हुए पाये जाते हैं कि—"गोमती के समान कोई नदी नहीं, श्रीकृष्ण के तुल्य कोई देवता नहीं तथा द्वारका के समान दूसरी कोई पुरी नहीं।"

इसके माहात्म्य का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि तत्कालीन साहित्य में गोमती नदी को उपमान के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। पुनः श्रीकृष्ण का अपने गुरू संदीपनि से यह कहना कि—'देवर्षि अब अवन्तिपुरी में ही गोमती नदी आ गई' अति महत्वपूर्ण है। एक इतिहासकार की दृष्टि से इन तथ्यों का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भले ही भौगोलिक रूप से गोमती नदी अवन्तिपुरी में न गई हो लेकिन हम इस तथ्य से भी नकार नहीं सकते कि यहाँ प्रयुक्त 'गोमती' शब्द एक नदी का प्रतिनिधित्व करने के साथ ही एक ऐसी पवित्रता का भाव धारण कर लेता है जिसका प्रयोग अन्य नदियों के लिए भी तत्कालीन साहित्य में किया जाने लगा था।

न केवल तत्कालीन ग्रन्थों में "गोमती नदी" का उल्लेख मिलता है अपितु आभिलेखिक साक्ष्य के द्वारा भी उत्तर पूर्वी भारत में इस नदी के अस्तित्व का प्रमाण प्राप्त होता है। जीवितगुप्त द्वितीय के देववर्णार्क अभिलेख में[6] में गोमती के किनारे स्थित "गोमती कोट्टम" नामक दुर्ग से राजाज्ञा जारी करने का उल्लेख किया गया है। जीवितगुप्त द्वितीय उत्तर गुप्त वंशीय शासक था, जिसके राज्य का प्रसार उत्तर पूर्वी भारत में गोमती के क्षेत्र तक था। इस प्रकार इस आभिलेखिक साक्ष्य के द्वारा भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि लगभग छठी शताब्दी ई० तक "आधुनिक" गोमती अस्तित्व में आ चुकी थी।

अब इस तथ्य पर विचार किया जायेगा कि रामायण[7] एवं महाभारत[8] में वर्णित गोमती नदी का नामकरण सामान्यतया कब और क्यों किया गया। रामायण, महाभारत एवं आभिलेखिक[9] साक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि उन ग्रन्थों में इसी नदी का उल्लेख है जिसके किनारे आज लखनऊ स्थित है तथा जो नदी गाजीपुर वाराणसी के पास जाकर गंगा में समाहित हो जाती है। महाभारत में गंगा-गोमती के संगम स्थल मार्कण्डेय तीर्थ की

---

१ **श्रीमद्भागवत पुराण**, प्रथम खण्ड, पंचम स्कन्ध १९ अध्याय १८ तथा दशम स्कन्ध ७९.११। **मत्स्य पुराण-संख्या**, १, अध्याय ११४.२२। **विष्णु पुराण**, तृतीय अंश, चौदहवाँ अध्याय १८।

२. **स्कन्द पुराण**, आवन्त्य खण्ड, अध्याय ६०।

३. **मत्स्यपुराण**, अध्याय १३.२८।

४. **वेद धरातल**, पृष्ठ० ३००।

५. **स्कन्दपुराण**, आ०, अध्याय ६०।

६. जान फेथफुल फलीट, (अनुवादक गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र) **भारतीय अभिलेख संग्रह**, पृष्ठ० २६५।
.... (न) मः ११ स्वस्ति शक्तित्ययोपान्त
जयशब्दान्महानौहा (ह) स्त्यश्वपत्तिसम्भा।रदुर्निवाराज्जयस्कन्धावारात् गोमतिकोट्टक समीप वास............

७. **रामायण**, अयोध्याकाण्ड, ४९, ११, १२, ५०। लंका काण्ड, १०४.१०५।

८. **महाभारत**, द्वितीय खण्ड, चतुर्शीतितमोध्याय, ७३, ७४, ८०, ८१।
राम तीर्थे नरः स्नात्वा गोमत्याकुरूनन्दन ॥ ७३ ॥
अश्वमेधवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः। ७३ १/२।

९. देववर्णार्क अभिलेख—जीवित गुप्त द्वितीय, फलीट, **भारतीय अभिलेख संग्रह**, खण्ड ३, पृ० २६५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महत्ता का वर्णन किया गया है, जो गाजीपुर के समीप स्थित आज भी अपनी गरिमा को बनाये हुए है।

वर्तमान गोमती के प्रसंग में विचार करते हुए आर्यों की इस प्रवृत्ति की ओर ध्यान देना होगा कि पश्चिम तथा उत्तर भारत में निवास के समय वैदिक आर्य जिन नदियों के सम्पर्क में आये तथा जिन नदियों ने उनके जीवन विधा का अभिभूत किया उनका उल्लेख ऋग्वेद में बहुशः किया गया और जब इनका पूर्वाभिमुख प्रसार हुआ तब अपने पूर्वस्मृति नदियों के नाम के आधार पर यहाँ की नदियों का नामकरण कर उनकी पवित्र स्मृति को सुरक्षित रखा। मनुष्य की इस सामान्य प्रवृत्ति का निर्देशन करने के लिये अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इंगलैंड और यूरोप के कितने ही नगरों के नाम अमेरिका और कनाडा में मिलते हैं, जो उन देशों से आगत आव्रजकों ने प्रदान किये जैसे—न्यू लंदन। भारत में भी कितने उदाहरण उपलब्ध हैं। राम की प्रसिद्ध नगरी अयोध्या के नाम पर दक्षिण पूर्व एशिया[1] के स्याम देश में "आयुथ्या" नामक नगर बसाया गया। इसी प्रकार मथुरा के नाम की स्मृति दक्षिण भारत के मदुरा और दक्षिण पूर्वएशिया[2] के मदुरा नाम में सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया। उत्तर प्रदेश में काशी और प्रयाग की पवित्रता की स्मृति गढ़वाल क्षेत्र के काशी और प्रयाग नामान्त स्थानों में मिलती है। इसी मानव सुलभ प्रवृत्ति ने पूर्वी क्षेत्र में आगत वैदिक आर्यों को भी पूर्वपरिचित नामों से नदियों को अभिहित करने को प्रेरित किया। सर्वप्रथम सरयू का उदाहरण लें तो यह नाम ऋग्वेद में एक नदी के लिये प्रयुक्त हुआ है, और यही नाम पूर्वी उत्तर प्रदेश की नदी को भी प्रदान किया गया। इस प्रसंग में सरस्वती का उदाहरण अत्यन्त रोचक होगा। ऋग्वेद[3] में सरस्वती का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद में गंगा यमुना सरस्वती का उल्लेख एक साथ प्राप्त है। गंगाघाटी में आने पर वैदिक आर्यों ने इस पश्चिमी नदी के नाम को सुरक्षित रखने के लिये गंगा-यमुना के संगम में इसे समाहित होने की कल्पना कर अपनी पूर्व-परम्परा से जुड़े रहने का प्रयत्न किया। यही स्थिति गोमती के सम्बन्ध में भी दिखाई देती है।

नदियों का नामकरण निरर्थक नहीं बल्कि नाम के अर्थ के वैशिष्ट्य से युक्त था। भारत की जिन प्रमुख नदियों का का उल्लेख प्राप्त है, उनकी प्रमुखता उनके आर्थिक महत्व को ध्यान में रखकर स्थापित की गयी। प्रत्येक नदी के नामकरण का कोई न कोई कारण अवश्य रहा है। वाराह पुराण[4] के अनुसार 'गाम्गताम् इति गंगा' अर्थात् जो पृथ्वी की ओर गई वह गंगा है। गंगा के विषय में यह अनुश्रुति भी प्रसिद्ध है कि भगीरथ अपनी कठोर तपस्या के पश्चात इस नदी को पृथ्वी पर लाने में सफल हुए थे। जिस प्रकार अन्य नदियों का व्युतिपत्य परक अर्थ है वैसे ही गोमती की भी व्याख्या करनी होगी।

गोमती शब्द की व्याख्या पहले की जा चुकी है, पुनः एक बार गोमती में गोमत्[5] विशेषण तथा गोमती संज्ञा है। गोमत् का अर्थ होता है **Rich in Cattle** अर्थात् 'पशुओं से सम्पन्न', तथा गोमती ऐसा स्थल जो पशुओं से समृद्ध हो। गो सम्पन्नता का बोध कराने वाला शब्द नदी के लिये प्रयुक्त किया जाना महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में जब आर्यों का आगमन हुआ उस समय इस नदी का क्षेत्र पशु प्रधान एवं कृषि प्रधान था। इस नामकरण से गोमती नाम की सार्थकता तो थी ही इससे उन्होंने अपनी पूर्व स्मृति को भी सुरक्षित रखा। इसी अर्थ व्यवस्था ने नगरीकरण को गति प्रदान की, जिसकी प्रेरणा शक्ति यह नदी ही थी। यहाँ यह कहना प्रासांगिक है कि जितनी भी प्राचीन सभ्यताओं का विकास हुआ वे किसी न किसी नदी की क्रोड में ही विकसित हुई।

---

१. डा० बैजनाथ पुरी, **सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास** पृ० ४७०
२. डा० आर० सी० मजुमदार, **एन्सीऐंन्ट इण्डियन कालोनाइजेशन इन साउथ ईस्ट एशिया**, पृ० ५२
३. **ऋग्वेद**, १०.७५.५
४. वाराह पुराण, **धर्मशास्त्र का इतिहास**, खण्ड–III, पीं० वी० काणे, अध्याय ८२
५. वी० एस० आप्टे, **दी स्टूडेन्टस संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी**।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसीलिये पूर्वी उत्तरप्रदेश की सम्पन्नता की मूल स्रोत इस नदी का नामकरण आर्यों ने ''गोमती'' कर दिया। रामायण के रचनाकाल के पूर्व ही कभी यह नदी गोमती के नाम से ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। भारत के सर्वाधिक नगरों का विकास इसी क्षेत्र में देखने को मिलता है। सुत्तनिपात[1] में गौतम बुद्ध कहते हैं कि हिमालय के विल्कुल पास स्थित कोशल प्रदेश के रहने वाले लक्ष्मी सम्पन्न हैं। ह्वेनसांग ने भी अपने यात्रा विवरण में इस क्षेत्र की आर्थिक सम्पन्नता का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद में वर्णित, गंगा, सरस्वती, सरयू आदि नदियों का अस्तित्व जिस प्रकार भारत के इस क्षेत्र में दिखाई पड़ता है, निश्चय ही ये पश्चिमोत्तर भारत से इस क्षेत्र में वास्तविक रूप से नहीं बल्कि पवित्र स्मृति के रूप में लायी गयीं। साथ ही उनका नामकरण पात्रता को ध्यान में रखते हुए किया गया। वैसे ही ऋग्वेद की गोमती का नामकरण लखनऊ की गोमती के लिये उसकी सार्थकता को ध्यान में रखते हुए ही किया गया होगा।

---

१. **एस० बी० आई० एक्स०**, पार्ट II, ६८, ६९, कोसलेसु निकेतिनी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रामायण कालीन कतिपय उत्तर भारतीय यात्रा-पथ

महेशचन्द्र श्रीवास्तव*

रामायण प्राचीन भारत का एक लोकप्रिय इतिहास काव्य है। इसे काव्य साहित्य की प्रथम रचना स्वीकार करते हुए आदि काव्य कहा जाता है। प्राचीन भारतीय इतिहास की संरचना की दृष्टि से इसका विशिष्ट महत्व है क्योंकि इनमें तत्कालीन जीवन के प्रायः सभी पक्षों की छाया अंकित है।

रामायण के रचना काल पर अनेक विद्वानों ने गंभीरता से विचार किया है। इस सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये गये हैं वे परस्पर भिन्न हैं। यदि जैकोबी इसे प्राग्बौद्ध कालीन रचना मानते हैं तो विन्टरनित्ज़ की दृष्टि में मूल रामायण की रचना ईसा पू० तीसरी शताब्दी में हुई थी। इस विषय पर विद्वानों में प्रायः असहमति है कि रामायण महाभारत से प्राचीनतर ग्रन्थ है। यहाँ तिथि सम्बन्धी समस्या का विवेचन अभिप्रेत नहीं है, इतना ही कहना पर्याप्त है कि ईसा पू० प्रथम सहस्राब्दी के मध्य में यह ग्रन्थ संरचित हुआ था।

विभिन्न प्रसंगों में तत्कालीन यात्रा पथों का उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ है। एतत् सम्बन्धी विवरण बहुत स्पष्ट न होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान् हैं।

अयोध्या से जनकपुर तक जाने वाला यात्रा-पथ

रामायण में इस यात्रा-मार्ग का उल्लेख विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण की यात्रा के संदर्भ में हुआ है। यह विदित होता है कि इन लोगों ने सर्व प्रथम सरयू नदी को पार किया था और अंग प्रदेश की ओर अग्रसर हुए थे। उस समय यह प्रदेश मलद एवं करशा नामक जनपदों में विभक्त था। इन जनपदों से होकर यह पथ वामनाश्रम पहुँचता है जो विश्वामित्र मुनि का भी आश्रम था। इस आश्रम से उत्तर की ओर बढ़कर सोन नदी के तट पर पहुँचे, जो दक्षिण पश्चिम से बहती हुई मगध में आई थी। सोन को पार कर वह पथ गंगा के तटपर पहुँचता है। गंगा को पार करने पर विशाला नगरी पड़ती थी जहाँ उस समय राजा सुमति का शासन था। सुमति का आतिथ्य स्वीकार कर यह लोग मिथिला पहुँच गये।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यह मार्ग अयोध्या से चलकर सरयू, सोन तथा गंगा नदी को पार करता हुआ जनकपुर पहुँचता था। रामायण में हमें मार्गों का बहुत स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि किन विन्दुओं पर वह नदियाँ पार की गईं। कनिंघम के अनुसार सोन मगध के पश्चिम सीमा से प्रवाहित होती है। विद्वानों के अनुसार गंगा को इन लोगों ने सम्भवतः पटना के समीप से पार किया था।

इस मार्ग में पड़ने वाले जिन स्थानों व जनपदों का उल्लेख हुआ है, वे हैं अंग (मलद, करशा), वामनाश्रम, वैशाली, मिथिला आदि। विदेह की राजधानी मिथिला से ६० योजन दूर स्थित अंग की वास्तविक स्थिति अब भी भागलपुर के समीप चम्पानगर और चम्पापुरी नामक गावों में लक्षित होती है। यह षोड्श महाजनपदों में से एक था। मलद व करशा को आधुनिक शाहबाद जिले का पूर्वी व पश्चिमी भाग बताया गया है। वामनाश्रम के स्थिति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। एन० एल० डे० के अनुसार यह आधुनिक बक्सर में स्थित है। वैशाली की स्थिति आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले में बसाड़ नामक स्थान पर बताई गई है। मिथिला, विदेह की राजधानी थी। इसे नेपाल की सीमा पर स्थित आधुनिक जनकपुर नामक कस्बे से समीकृत किया गया है, इसके उत्तर में दरभंगा और मुजफ्फरपुर जिले मिलते हैं। रीज डेविड्स के अनुसार मिथिला बैशाली से लगभग ३५ मील पश्चिमोत्तर में स्थित थी। कनिंघम ने

---

* प्रा० भा इ० विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जनकपुर को अयोध्या से २०० मील पूर्व, वैशाली से ६५ मील उत्तर-पूर्व तथा दरभंगा से ४० मील उत्तर में बताया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अयोध्या से जनकपुर जाने वाला मार्ग बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित श्रावस्ती से वैशाली वाले मार्ग से टेढ़ा है। यह कह पाना दुष्कर है कि विश्वामित्र ने यह मार्ग क्यों चुना। सम्भव है कि उन्होंने जनकपुर जाने वाले इस मार्ग को सोद्देश्य अपनाया हो। परन्तु यह भी संभव है कि उस काल में श्रावस्ती से वैशाली वाला मार्ग प्रचलित न रहा हो।

अयोध्या से चित्रकूट जाने वाला यात्रा-मार्ग

अयोध्या से चित्रकूट की यात्रा का वर्णन रामायण में राम लक्ष्मण व सीता के वनवास के बाद की यात्रा के सन्दर्भ में हुआ है। इस यात्रा मार्ग में सर्व प्रथम इन लोगों ने अयोध्या के दक्षिण में तमसा नदी को पार कर कोशल की दक्षिणी सीमा के समीप वेदश्रुति नदी को पार किया। इसके आगे यह मार्ग गोमती, स्यन्दिका नदी को कोशल की सीमा के समीप पार कर गंगा के किनारे श्रृंगवेरपुर पहुँचता था। यहीं से गंगा पार कर गंगा-यमुना संगम पर स्थित भारद्वाज आश्रम पहुँचे। यमुना के पार यह मार्ग चित्रकूट पर्वत तक गया।

इस यात्रा विवरण के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह मार्ग अयोध्या से तमसा, वेदश्रुति, गोमती, स्यन्दिका, गंगा-यमुना को पार कर चित्रकूट पहूँचता था।

तमसा नागोद के दक्षिण में महियार से निकलती है और रीवां के उत्तर भाग में बहती हुई इलाहाबाद से दक्षिण-पूर्व में लगभग १८ मील दूर गंगा में मिलती है। वेदश्रुति नदी कोशल के दक्षिणी सीमा के निकट बहती थी। विद्वानों के अनुसार गोमती तथा स्यन्दिका (सई) नदी को जौनपुर के पास पार किया गया।

इस यात्रा पथ में पड़ने वाले निम्न स्थलों का ज्ञान होता है—श्रृंगवेरपुर, भारद्वाज आश्रम, चित्रकूट।

श्रृंगवेरपुर से ही राम ने गंगा को पार किया था। कनिंघम ने इसे आधुनिक सिगरौर से समीकृत किया है, जो इलाहाबाद के पश्चिमोत्तर में २२ मील दूर एक बहुत ऊँचे कागार पर स्थित है। भारद्वाज आश्रम प्रयाग या इलाहाबाद में गंगा-यमुना के संगम पर स्थित था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रामायण काल में भी प्रयाग में केवल दो नदियाँ गंगा व यमुना ही थीं। सरस्वती लुप्त हो चुकी थी। चित्रकूट इलाहाबाद से दक्षिण पश्चिम में स्थित है। **उत्तर-रामचरितम** में चित्रकूट तक जाने वाली कालिन्दी तट पर स्थित मार्ग का उल्लेख है। यह आधुनिक चित्रकूट नामक प्रसिद्ध पहाड़ी है जो इलाहाबाद से ६५ मील दूर पश्चिम-दक्षिण में स्थित है। गढवा शिलालेख में भी इस पर्वत का उल्लेख है। **ललितविस्तर** में एक पहाड़ी के रूप में इसका उल्लेख आया है।

अयोध्या से केकय जाने वाला मार्ग

राम आदि के वनवास के पश्चात् भरत व शत्रुघ्न को कैकय से अयोध्या वापस लाने के लिए दूतों द्वारा प्रयुक्त इस मार्ग का उल्लेख रामायण में किया गया है। इस यात्रा मार्ग में सर्व प्रथम दूत सरयू की एक सह नदी मालिनी, जो उस समय अपरतल और प्रलम्ब के बीच बह रही थी, को पार कर हस्तिनापुर के समीप गंगा को पार कर पांचाल पहुँचे जहाँ से कुरु जांगल प्रदेश के बीच से होकर शरदण्ड नदी को पार किया। इससे आगे का मार्ग बहुत-सी नदियों को पार करता हुआ गिरिव्रज पहुँचता है। कुलिंग नगर से यह मार्ग अग्रसर हो अभिकला और तेजोभिभवन गांव से होता हुआ इक्षुमती नदी के पार कर सुदामा नामक पर्वत पर पहुँचता है, जहाँ से विपाशा आदि नदियों को पार कर यह मार्ग कैकय (गिरिव्रज) पहुँचता था।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि अयोध्या से कैकय जाने वाले मार्ग के संदर्भ में रामायण में बहुत सी ऐसी नदियों व स्थलों का उल्लेख हुआ है जिनके आधुनिक सन्दर्भ में प्रमाणिक रूप से हम अधिक कुछ नहीं जानते हैं। रामायण के विवरण के अनुसार इस मार्ग में मालिनी, गंगा, शरदण्ड, इक्षुमती, विपाशा आदि नदियों का उल्लेख है।

मालिनी सरयू की एक सह नदी थी जो बहराइच और सीतापुर के मध्य बह रही है। गङ्गा उत्तर व दक्षिण पांचाल की विभाजक रेखा थी। विद्वानों ने शरदण्ड को करनाल के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पश्चिम बताया है। विपाशा के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि इस नदी ने प्राचीन काल से अब तक अपना प्रवाह पथ बहुत बदला है। यह मार्ग गङ्गा को हस्तिनापुर के समीप से पार कर उत्तर पांचाल पहुचता था। **दिव्यावदान** में उत्तर पांचाल की राजधानी हस्तिनापुर बताया गया है। पांचाल मूलतः दिल्ली के उत्तर पश्चिम में हिमालय की तराई से चंबल नदी के मध्य का क्षेत्र था। कुरु जांगल का वर्णन हमें महाभारत में भी प्राप्त होता है। वह उत्तरी दिल्ली व थानेश्वर के दक्षिण का जंगली भू भाग था। इससे आगे वे मार्ग में पड़ने वाले अभिकला, तेजोभिभवन आदि स्थलों के विषय में हमें अधिक जानकारी नहीं प्राप्त होती है। रामायण में हमें केकय की राजधानी के रूप में गिरिव्रज का उल्लेख प्राप्त होता है। राजशेखर ने अपनी **काव्यमीमांसा** में केकय देश को उत्तराखण्ड में शकों, हूणों, कम्बोजों, और बाह्लीकों के साथ बताया है। भागवत पुराण के केकय को पंजाब में आधुनिक शाहपुर जिले से समीकृत किया गया है। रामायण के अनुसार केकय विपाशा या व्यास नदी के पार गान्धार जनपद की सीमा का स्पर्श करता था। कनिंघम ने केकय देश की राजधानी को गिरिव्रज या झेलम तट पर स्थित जलालपुर से समीकृत किया है।

गिरिव्रज से अयोध्या का यात्रा मार्ग

रामायण से हमें दूतों द्वारा तय किये गये अयोध्या से गिरिव्रज के मार्ग के विषय में जानकारी होती है। परन्तु भरत व शत्रुघ्न द्वारा गिरिव्रज से वापस अयोध्या लौटने वाला यह मार्ग पूर्व मार्ग से कुछ भिन्न था। यह यात्रा मार्ग गिरिव्रज से पहले से सुदामा, ह्लादिनी, शतद्रु के पार होता हुआ अपरपर्वत पहुँचता है। भरत आदि शीला व अकुरवती नदी को पार कर शल्यकर्षण नगर पहुँचे जहाँ से गङ्गा व सरस्वती के संगम से होकर मत्स्य देश के उत्तर में भरुण्ड जंगल गये। इससे आगे का मार्ग कुलिन्द के पास यमुना के तट से प्रागवत नगर आता है जहाँ से गङ्गा को पार करने के पश्चात् कुटिकोष्ठिका को पार कर धर्मवर्धन ग्राम और तोरण के दक्षिण से होकर जम्बूप्रस्त से वरुथ ग्राम पहुँचा। इससे आगे की ओर बढ़कर यह मार्ग उज्जिहा सर्व तीर्थ नदियों को पार करता हुआ हस्तिपृष्ठका, कुटिका, कपिवती के पार स्थानुमती व विनत ग्राम के निकट गोमती को पार कर कुलिंग नगर के समीप सालवन पहुँचा जहाँ से इन लोगों ने अयोध्या का दर्शन किया। सुदामा और ह्लादिनी नदियों की पहचान चन्द्रभागा और इरावती की सहायक नदियों से की गयी है। मत्स्य देश में भरतपुर के एक खण्ड सहित वर्तमान अलवर का सम्पूर्ण क्षेत्र समाविष्ट था। इससे आगे के मार्ग में पड़ने वाले प्राग्वत नगर की स्थिति फत्तेहगढ़ के समीप बताई गयी है। हस्ति-पृष्ठका और कुटिका रामगङ्गा की पूर्वी सहायक नदी तथा कपिवती सई का उपरी भाग था।

इस यात्रा मार्ग के विषय में यह कहा जाता है कि अयोध्या से दूत राजगृह सीधे मार्ग से आये थे अतः इनके रास्ते में जो मार्ग पड़े वह भरत के मार्ग में नहीं पड़े। भरत द्वारा अपनाया मार्ग दूतों के मार्ग से लम्बा है तथा मुख्यतः गावों व नदियों से होता हुआ अयोध्या पहुँचा था। भरत के साथ रथ व सेना थी अतः अनुमान है कि उसके निर्वाह के अनुकूल मार्ग अपनाया गया।

अयोध्या से चित्रकूट की यात्रा

रामायण में अयोध्या से चित्रकूट के यात्रा मार्ग का दो बार वर्णन किया गया है। प्रथमतः राम, लक्ष्मण व सीता के वनवास गमन के संदर्भ में, द्वितीयतः भरत द्वारा राम को वापस अयोध्या लौटाने के लिए की गयी यात्रा। यह यात्रा मार्ग भी पहले की गयी यात्रा पथ के लगभग समान था जो कुछ अन्तर से हमें इस यात्रा के सम्बन्ध प्राप्त होता है। वह इस कारण कि भरत के साथ राज परिवार, सेना तथा अयोध्या वासी थे अतः इस विशाल समुदाय के गमन हेतु मार्ग का ध्यान रखा गया होगा।

चित्रकूट से नन्दी ग्राम का यात्रा-पथ

राम का अयोध्या लौटने से अस्वीकार कर देने के बाद भरत का चित्रकूट से नन्दीग्राम तक जाने की यात्रा का वर्णन हमें रामायण से प्राप्त होता है। यह यात्रा मार्ग चित्रकूट पर्वत से पूर्व की ओर से होकर मन्दाकिनी को पार कर भारद्वाज आश्रम पहुँचता था। यहाँ से अयोध्या की ओर जाने के लिए यह मार्ग गङ्गा-यमुना को पार कर श्रृंगवेरपुर जाता है, जहाँ से अयोध्या पहुँचता था। तत्पश्चात् अयोध्या से यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मार्ग नन्दीग्राम जाता है। इस मार्ग में पड़ने वाली मन्दाकिनी नदी चित्रकूट पहाड़ी के समीप थी जो भारद्वाज आश्रम से तीन योजन दूर स्थित था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस मार्ग में पड़ने वाला भारद्वाज आश्रम यमुना के दक्षिण दिशा में चित्रकूट के कुछ निकट था। गङ्गा-यमुना के बीच प्रयाग वाला भारद्वाज आश्रम, जहाँ वन जाते समय राम ने विश्राम किया था इससे भिन्न जान पड़ता है। एल० एन० डे ने नन्दीग्राम को नुन्दगाँव भरतकुण्ड के समीप बताया है जो अयोध्या के दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह अयोध्या से लगभग २ मील पर है।

चित्रकूट से पंचवटी का मार्ग

यह यात्रा पथ चित्रकूट से पंचवटी जाता था। इस मार्ग में राम आदि चित्रकूट से आगे बढ़कर सर्व प्रथम अत्रि आश्रम पहुँचे जो दण्डारण्यक की सीमा पर स्थित था। इससे आगे यह मार्ग शारभंग आश्रम मन्दाकिनी के पश्चिम सुतिकश्न आश्रम, यहाँ से ३२ मील दक्षिण की ओर बढ़कर अगस्त्य मुनि के आश्रम से होता हुआ पंचवटी पहुँचता था। इस मार्ग में पड़ने वाले अनेक आश्रमों का रामायण में उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें से अत्रि आश्रम, शारभंग आश्रम, सुतीक्ष्ण आश्रम, अगस्त्य आश्रम प्रमुख है।

अत्रि आश्रम सतपुड़ा और कृष्णा नदी के बीच वनराज्य में दण्डारण्यक की सीमा पर स्थित था। रामानुज के अनुसार "प्रायेग महाराष्ट्र देशोंऽयं" अर्थात् महाराष्ट्र के समीप स्थित था। कालिदास ने भी दण्डारण्य का उल्लेख किया है जो कलिंग देश की सीमाओं पर फैला हुआ विस्तृत जंगल था। यह स्थल जन स्थान का ही एक भाग था।

शारभंग का आश्रम दण्डारण्य से २० मील दूर पर स्थित था। तथा सुतीक्ष्ण का आश्रम गिरिनार या पॉज्जना-तासी की सहायक नदी के समीप स्थित था। अगस्त मुनि का आश्रम रुद्र प्रयाग से लगभग २० मील दूर पर स्थित था। कुछ विद्वानों का मत है कि यह सतपुड़ा की पहाड़ी पर स्थित था। अगस्त मुनि के आश्रम के दो योजन आगे गोदावरी के समीप पंचवटी नामक स्थान जनस्थान की सीमा पर नासिक में स्थित था।

इस मार्ग में पड़ने वाले उत्तर भारतीय स्थलों के साथ ही हमें कुछ पश्चिमी भारत के स्थलों का भी ज्ञान होता है जिनका उल्लेख प्रसंगतः हुआ है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वितीय अनुभाग

पुरातत्व, स्थापत्य, मूर्तिकला एवं मुद्राशास्त्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ARCHAEOLOGICAL SIGNIFICANCE OF SANCHANKOT

AMAR SINGH & RAKESH KUMAR SRIVASTAVA*

Sanchankot or Ramkot is a small village in Safipur Tahesil of Unnao district of Uttar Pradesh. It is situated at the right bank of Sai river about 58 kms. north-west of Unnao and 16 kms. north-east of Bangarmau, an important town on the Unnao-Hardoi road. There is a regular bus service from Unnao to Hardoi but the distance between Bangarmau and Sanchankot has to be covered either by jeep or some other private vehicle.

In the month of August, 1984 an exploration work of the site was conducted by the team of U. P. State Archaeological Organization. The aim of this paper is to produce about the archaeological findings of the Sanchankot during the exploration.

The ancient site measures approximately 1500 metres east-west and 550 metres north-south covering an area about more than two kilometres. It is likely that once the habitation also extended beyond these limits, the signs of which are still present at the left bank of the river Sai. On the eastern and western sides of the mound some sporadic habitational evidences are also present. The modern village Ramkot is situated on the southern portion of the mound. The main habitation as seen today is, however, separated by several rain gullies.

Except a very small portion of mound on the eastern side, the deposits rises to a hight upto about 5 metres from the present ground level. The habitarions on the left bank of the river Sai are comparatively less due to constant erosion, cultivation and other human activities, which are still being carried out.

A maximum portion of the mound is almost disturbed due to theft of bricks. The antiquities collected from the site are genealy pot-sherds, fragments of terracottas, beads, bangles and coins. The site, as revealed from explorations, represents mainly a single piece of N. B. P. Ware, a few sherds of Black Slipped Ware, plain Gray Ware and Red Ware of different shapes. Convex sided dishes with featureless rim, bowls with interned rim, lipped basins with collared rim, basins with broad rim having three grooves inside, inkpot type lids, button knobed and cylendrical knobed lids, carrinated handis, short necked and high necked water vases, sprinkelars, roof tyles, flesh rubbers, miniature pots, few stamped potteries, potter stamps and melting pots in which glass material is present were picked-up from the mound. Though the presence of P. G. Ware and N. B. P. Ware in plenty was reported from the site by K. S. Shukla[1] but during the extensive explorations by the authors not a single sherd of P. G. Ware was found.

Handmade and moulded terracotta figurines of mainly Śuṅga and Kushāṇa period

---

*U. P. State Archaeological Organisation, Roshanuddaula Kothi, Quasarbagh, Lucknow.

1. Shukla, K. S., The Antiquity of Sanchagkot, *Bulletin of the Assam State Museum*, No. III, 1978, p. 62.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

were collected. An archaic human figurine with parallel arms may be one of the earliest terracottas of the site. Other terracotta plaques representing a female figure with a child wearing very peculiar head-dress may be classified as Aṅkadhātṛi type of Mother Goddess. Earlier Cunningham and later on K. S. Shukla also reported such terracotta female figurines from this site.[1] Their ornamentation and headdress is typically of Śuṅga period in style. Other terracottas found from the site are hand made elephant figurines decorated with circular punch-marks on the trunk and the back. Negameseh figurine with elongated applied ears, Vishṇu sitting on Garuṇa, Śiva crowned with serpant, monkey and ram figurines are also reported from the site.[2] Terracotta beads mostly in pear shape, bone bangles and fragment of glass bangles with double ply are other noteworthy finds.

There are several structural remains present at the site but unfortunately most of them are demolished by the villagers to built their new houses. The measurement of the early bricks used in the modern residencial complexes are 53×29×10 cms, 51×28×8.5 cms. and 44×27×10 cms. Besides this, to the south-east of the village and close to the high road leading to Sandila, there is a circular mound with a deep pit in the centre from which bricks of a structure have been removed by the villagers. According to Cunningham these were the remains of a Stūpa. He recorded that the Stūpa was only 18.5 feet in diameter but it stood on a lofty terrace 60 feet square and 15 feet above the fields, with a wall 6 feet thick all round. It was built entirely of very large wedge shaped bricks, most of which have been made for the purpose, as they are slightly curved outside. Perfect specimence of these bricks measured 18.5 inches in length on the outer face and 17.5 inches on the inner face with a breadth of 11.5 inches and a thickness of 4 inches.[3]

Punch-marked coins of silver, copper cast coins, Indo-Backtrian, Indo-Scythian, Kushaṇā and Gupta copper, silver and gold coins are reported from the site by various scholars.[4]

The latest architectural evidence of the mound is perhaps a temple known as Chaini Devi. Six highly mutilated Chāmuṇḍā sculptures are installed in the rectangular cella of the temple. Stylistically these images may be assigned to 10th-11th cent. A. D.

From the above archaeological evidences we can ascertain that this mound was flourishing during 6th cent. B. C. to 14th cent. A. D.

On the basis of aforesaid village Ramkot or the fort of Ram, K. S. Shukla connects the site with Ram, the son of Dasharath of Ayoddhya[5] but there are no other archaeological or literary evidences to support this view. It is also said that Sanchankot derived

1. Cunningham, A., *Archaeological Survey Reports*, Vol. XI, p. 54; Shukla, K. S., *op. cit*, 63.
2. *Ibid*., Lal, Angane, Sanchankoe, *Garimā Bhārati*, Lucknow, May, 1983, pp. 54-55.
3. Cunningham, A., *op. cit*.
4. Cunningham, A., *op. cit*., Fuhrer, A., *The Menumental Antiquities and Inscriptions in the N. W. Provinces and Oudh*, Vol. II, Allahabad, 1891, pp. 274-275; Shukla, K. S., *op. cit*., p. 64-65.
5. Shukla, K. S., *op. cit*., p. 60.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

its present name after the name of king Śāntanu, the ruler of Hastinapur, whose kingdom extended upto the river Sai which formed the boundary line between Panchal and Kosal and, Sanchankot was the eastern most fortress of his kingdom.[1] But this view is also not convincing as at the time of Śantanu Panchal was not included in Kuru Janapada.

For the first time the site was visited by Cunnigham in 1857 and he found there remains of a Stūpa.[2] Fuhrer, on the basis of the description of Fa-hian identified Sanchankot with the capital of Sha-che, i. e. Saketa.[3] Angane Lal and K. S. Shukla also hold the same opinion.[4] According to Dīgha-Nikāya Saketa was one of the six great cities of India in the days of Buddha.[5] It was at a distance of six Yojans (48 miles) from Śrāvasti, is known from Mahāvagga of the Vinayapiṭaka[6] and was situated on the highway between Śrāvasti and Kauśāmbī.[7] It has been identified with ancient places like Sogeda of Ptolemy,[8] Sha-chi of Fa-hien,[9] Vishākha of Hiuen Tsiang[10] and places like Ayoddhya,[11] Sanchankot,[12] Lucknow[13] and Kurshi[14] but as concluded by Vishuddhanand Pathak, "the whole premise of all these identifications, it seems, is based on a weak ground in as much as that it is assumed that Sha-chi of Fa-hien is the Saketa of the Indian literature. It is doubtful, however, whether the two places can be identified with each other."[15] Fa-hien speaks of Sha-chi as a kingdom. So Sanchankot can be identified with the capital of Sha-chi kingdom of Fahien, as the position of this mound is on the highway between ancient Kanauj and Śravasti but not with Saket, the great city mentioned in the Indian literature.

---

1. *Ibid.*
2. Cunningham, A., op. cit.
3. Fuhrer, A., *op. cit.*, p. 275.
4. Lal, Angane, *op. cit.*, pp. 56-57; Shukla, K. S., *op. cit.*, pp. 61-62.
5. *Dīgha-Nikāya*, Vol. 2, 113, 13-14; 130, 6-7.
6. *Vinayapitaka* (Saranath Hindi Ed.), p. 256.
7. *Khuddaka-Nikaya*, 1, 422, 11-19.
8. Law, B. C., *Historical Geography of Ancient India*, Paris, 1954, p. 122.
9. Legge, *Travels of Fa-Hien*, p. 54.
10. Cunningham, *Ancient Geography of India*. Ed. S. N. Majumdar, Calcutta, 1924, p. 401 ff.
11. *Ibid.*, Thomas, *The Life of Buddha*, London, 1952, p. 15.
12. Fuhrer, A., *op. cit.*, p. 275.
13. Forgusson, *Archaeology in India*, p. 110.
14. Smith, V. A., *Journal of Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland*, 1898, p. 524.
15. Pathak, Vishuddhanand, *History of Kosala*, Delhi, 1963, pp. 57-58.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सीतापुर जनपद की पुरातात्विक समीक्षा

अम्बिका प्रसाद सिंह*

सीतापुर का वर्तमान कस्बा २७°३४′ उत्तरी अक्षांश, ८०°४१′ पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। सामान्य रूप से प्रचलित लोकोक्ति के अनुसार रावण वध के उपरान्त लंका से आने के पश्चात् राम द्वारा प्रारम्भ की गयी तीर्थयात्रा के दौरान जनकात्मजा सीता ने इस स्थान पर विश्राम किया था। अतः उन्हीं के नाम के आधार पर इस स्थान का नाम सीतापुर पड़ा।[१] इस शीर्षक के अन्तर्गत हम ईस्वी सन् से पूर्व के कुछ महत्वपूर्ण स्थलों; टीलों का ही उल्लेख करेंगे।

सीतापुर जनपद के तहसील सिधौली के अन्तर्गत स्थित हर्दी गांव से प्राप्त कापर सेल्ट राज्य संग्रहालय में सुरक्षित है। श्री लाल के अनुसार यह सेल्ट चपटा और ऊपर से नीचे की ओर पतला होता हुआ धारदार निर्मित किया गया था।[२] सिधौली तहसील के ही किन्वौलिया ग्राम से कुछ ताम्र अवशेष प्राप्त हुये हैं जिनमें भोथड़े धारवाले परशु की तरह का आकार, किसी ताम्र निर्मित कुल्हाड़ी का टूटा भाग, आयताकार चपटी धारदार कुल्हाड़ी का भाग, बाहर निकली हुई धारवाली तथा उन्नतोदर हत्येवाली कुल्हाड़ी, एक अस्पष्ट धार तथा असामान्य तरीके से निर्मित चपटा सेल्ट एवं सामान्य आकृति की पूर्ण कुल्हाड़ी जिसके दोनों सिरे बाहर की ओर निकले हुये हैं तथा हत्थे का भाग चौकोर है, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[३]

इसी प्रकार सिधौली तहसील के खरुल्लापुर गांव से प्राप्त एक चपटे आकार की कुल्हाड़ी के पार्श्व नतोदर तथा धार का भाग पतला कर तीक्ष्ण बनाया गया है।[४] यहीं से प्राप्त एक अन्य कुल्हाड़ी का हत्था उन्नतोदर तथा धार के दोनों सिरे निकले हुए एवं पतले निर्मित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त इसी स्थल से एक अन्य कुल्हाड़ी प्राप्त हुई है जिसकी धार के दोनों सिरे निकले हुये हैं तथा पार्श्वों के मध्य का भाग थोड़ा बाहर निकला हुआ है, जिसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका निर्माण संभवतः किसी लकड़ी में रस्सी से मजबूतीपूर्वक बाँधने के लिये किया गया होगा।[५] कुछ विद्वान् इसे मानवाकृति वाला परशु बतलाते हैं।[६] लखनऊ संग्रहालय की १९६१ की रिपोर्ट के अनुसार गन्धीली ग्राम से १२ ताम्र आयुध मिले थे, जिसमें से अधिकांश खुर्पी एवं कुछ एक परशु आकार के थे।[७] सीतापुर से लगभग २० किलोमीटर उत्तर तथा सीतापुर गोला रोड से लगभग ३ किलोमीटर पश्चिम नकरिया ग्राम से ४ परशु आकार के ताम्र

---

* उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन, रोशनुद्दौला कोठी, कैसरबाग, लखनऊ।

१. नैविल, एच० आर०, **डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स ऑफ दि यूनाइटेड प्राविंसेज़ ऑफ आगरा एण्ड अवध, वाल्यूम, सीतापुर गजेटियर**, पृ० ११९।

२. लाल, बी० बी०, फरदर कापर होर्ड्स फ्राम दी गेंगेटिक बेसिन एन्ड ए रिव्यू ऑफ दि प्राब्लम, **ऐंशियन्ट इंडिया**, ७, १९५७, पृ० २७।

३. लाल, बी० बी०, **तदैव**, प्लेट ७, बी० १।

४. सिंह, एस० डी० एण्ड सिंह, एस० बी०, **आर्क्यालाजी ऑफ लखनऊ रीजन**, पृ० १७।

५. सिंह, एस० डी० एण्ड एस० बी०, **तदैव**, पृ० १७।

६. लाल, बी० बी०, फरदर कापर होर्ड्स फ्राम दी गेंगेटिक बेसिन एन्ड ए रिव्यू ऑफ दी प्राब्लम, **ऐंशियन्ट इंडिया**, ७, १९५१, प्लेट्स, पांच, १, ६ ए, ९, १, २, दस ए।

७. गुप्त, परमेश्वरी लाल, उत्तर प्रदेश में ताम्रयुग, **पुरातत्व विशेषांक, उत्तर प्रदेश पत्रिका**, पृ० ५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आयुध प्राप्त किये गये थे जो इस समय राज्य संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित हैं।[१]

मनवाडीह

सिधौली तहसील के अन्तर्गत मनवा ग्राम के आसपास कई टीले स्थित हैं। इनमें से मनवाडीह टीले की खुदाई के उपरान्त दूसरी तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर मध्यकाल तक के अवशेष प्रकाश में आये। इन अवशेषों में ब्लैक स्लिप्डवेयर, एन०बी०पी० वेयर तथा रेड वेयर के मृद्भांडों में घट, हांडी, मोल्डेड डिजाइनयुक्त तश्तरियाँ, इनटर्नड् तथा आउटटर्नड् रिमवाली तश्तरियाँ एवं विभिन्न प्रकार के जल-पात्र, इंकपाट लिड, कोनिकल शेप्ड लिड, बटननाब्ड लिड, कारिनेटेड हाण्डी, सेगरबेस्ड हांडी आदि के टुकड़े विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ से प्राप्त कुषाणकालीन मृण् मूर्तियों के कुछ नमूने महत्वपूर्ण हैं। इनमें से बड़े आकार का ढोल बजाते हुये पुरुष की आकृति, जूड़ा, हार एवं कमर में करधनी धारण किये हुए मातृदेवी के प्रतीकात्मक स्वरूप को प्रदर्शित करती हुई नारी आकृति, सज्जित केशों को पट्टी से बाँधे हुये, गोलाकार एवं चपटी नाक वाले पुरुष की आकृति, उभरी आँख, चपटी नाक, तथा मूछों से युक्त गोल चेहरे वाले पुरुष की आकृति, गले में आभूषणधारी स्त्री की आवक्ष आकृति, विषमकोणीय नेत्रों वाले, गले में माला धारण किये हुये और एक उत्कीर्ण रेखा से प्रदर्शित मुख वाले पुरुष की आकृति तथा पूजा सरोवर के मध्य प्रदर्शित मानव स्वरूप आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।[२]

यहाँ से गुप्तकालीन मृणमूर्तियों तथा पशु-पक्षी, मानव आदि की आकृतियों के सुन्दर नमूने भी देखने को मिलते हैं। अर्धोन्मोलित नेत्र, लम्बे कान, सुन्दर नाक एवं होठों से युक्त अर्धचन्द्र तथा जटाजूट से सुशोभित शिव मस्तक गुप्तकालीन मृण मूर्ति के उत्तम उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त सूर्पकर्ण एवं खंडित सूड़वाले गणेश का सिरोभाग, सिर के ऊपर प्रदर्शित उष्णीष, घुंघराले बाल, उभरे हुये होंठ, बड़े नेत्र, एवं गोलाकार मुखाकृति वाले पुरुष का शीर्षभाग, केशों को चौड़ी पट्टी से बाँधे हुये, कानों में कर्णाभूषण धारण किये हुये तथा बाँये हाथ को कटि पर रक्खे हुये स्त्री आकृति गुप्तकालीन मृण मूर्ति का सुन्दर उदाहरण है। शिशु को गोद में लिये हुये दो स्त्री आकृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जो कानों में कर्णभूषण, गले में हार, हाथ में बाजूबन्द एवं कंगन आदि धारण किये हुये हैं। इनमें से एक अपने सिर को वस्त्र से ढके हुये है। वे क्रीड़ारत शिशु को गोद में लिये हुए स्तनपान करा रही हैं। प्रसाधित केशों वाले, चौड़ी भौंहों वाले, गोलाकार मुख वाले पुरुष की आकृति जो अपने घुटनों के नीचे तक धोती पहने हुये हैं तथा घुंघराले बाल, उभरे होंठ और सुन्दर नासिका वाले पुरुष के अतिरिक्त सिर के पीछे अलंकृत प्रभा मंडल से युक्त देवता का शीर्षभाग आदि गुप्तकालीन मृणमूर्तियों के उत्तम उदाहरण हैं।[३]

नजीराबाद

नजीराबाद[४] नामक ग्राम के टीले से ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी से लेकर मध्यकाल तक के अवशेषों में मुख्य रूप से एन० बी० पी० वेयर तथा रेड वेयर के मृद्भांडों में कसोरे, घट, नाँद, हांडी, बटननाब्ड लिड आदि के टुकड़े मुख्य रूप से मिलते हैं।

परेवाकोट[५] नामक ग्राम के टीले से एन० बी० पी० वेयर, ब्लैक स्लिप्ड वेयर तथा रेड वेयर के शुंग, कुषाण, गुप्त एवं मध्यकालीन मृदभांडों में कसोरे, घट, हांडी, बटननाब्ड लिड, कोनिकल शेप्ड लिड आदि के टुकड़े अधिकांश मात्रा में मिलते हैं।

काशीपुर ग्राम के समीप स्थित सिरोलीडीह[६] से एन० बी० पी० वेयर तथा रेड वेयर के मृद्भांडों में कसोरे, घट,

१. **तदैव**, पृ० ५।
२. सिंह, एस० डी० एन्ड सिंह, एस० बी०, **आर्कयालोजी ऑफ लखनऊ रीजन**, पृ० ३१।
३. **तत्रैव**, पृ० ३१ तथा ३२।
४. **तदैव**, पृ० ३३।
५. **तदैव**, पृ० ३३।
६. **तदैव**, पृ० ३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाँद, कारिनेटेड हांडी एवं चूड़ियों आदि के टुकड़े पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। लंघनिया[1] ग्राम के टीले से कुषाण-कालीन मूर्तियों के अच्छे नमूने देखने को मिलते हैं।

कनवाखेड़ा[2] नामक ग्राम के टीले से एन० बी० पी० वेयर तथा रेड वेयर के शुंग, कुषाण एवं मध्यकालीन मृदभांडों में कसोरे, घट, नाँद, हांडो, बटननाब्ड लिड आदि के टुकड़े प्राप्त होते हैं।

उत्तरधीना

मिश्रित तहसील के अन्तर्गत स्थित उत्तरधीना ग्राम का टीला सिधौली नीमसार मार्ग के दोनों ओर लगभग पांच मीटर ऊँचा स्थित है। इस टीले से कुषाण, गुप्त, एवं मध्यकालीन मृद्भांडों में सकोरे, घट, कारिनेटेड हांडी एवं चूड़ियों आदि के टुकड़े पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। यहां कुषाणकालीन मृण्मूर्तियों के शिरोभाग तथा लगभग १० वीं शताब्दी की एक कार्तिकेय प्रतिमा गांव के मध्य में एक वृक्ष के नीचे प्रतिष्ठापित हैं।

करियाडीह

मिश्रित-सीतापुर मार्ग पर स्थित करियाडीह ग्राम का टीला मिश्रित से लगभग तीन किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इस टीले की सतह से ब्लैकस्लिप्ड वेयर तथा रेड वेयर के शुंग, कुषाण, गुप्त तथा मध्यकालीन मृद्भांडों में सकोरे, घट, नांद, हांडी, कोनिकल शेप्ड लिड, बटननाब्ड लिड एवं मृण्मूर्तियों के खंडित टुकड़े आदि पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इस स्थल के मध्यकालीन प्रतिमाओं के खंडित भाग ग्राम के दक्षिण एवं पूर्वी भागों के पूजा स्थानों पर प्रतिष्ठित किये गये हैं।

रामगढ़

सिधौली-मिश्रित मार्ग पर स्थित कोरौना ग्राम से दक्षिण पश्चिम लगभग आठ किलोमीटर की दूरी पर स्थित रामगढ़ टीले के अधिकांश भाग पर वर्तमान गांव की आबादी है। इस टीले की सतह से एन० बी० पी० वेयर, ब्लैकस्लिप्ड वेयर तथा रेड वेयर के शुंग, कुषाण, गुप्त एवं मध्यकालीन मृद्भांडों में सकोरे, घट, नांद, हांडी, बटननाब्ड लिड, इंकपाट लिड आदि के खंडित टुकड़े पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। गांव के पूर्वी दक्षिणी किनारे पर स्थित आधुनिक मंदिर में कुषाणकालीन मृण्मूर्तियों को देवी के रूप में पूजा जाता है।

नीमसार

सीतापुर जनपद के अन्तर्गत स्थित मिश्रित तहसील से १२ किलोमीटर दक्षिण सीतापुर-हरदोई मुख्य मार्ग से लगभग एक किलोमीटर पूर्व में वर्तमान नीमसार २६° से २७°. ५०' उत्तरी अक्षांश और ८०° से ८१° पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है।

प्राचीनकाल में इसी स्थान पर धर्मचक्र की नेमि टूटकर गिरने के कारण इस स्थान का नाम नैमिषारण्य पड़ा।[3] महाभारत के अनुसार निमिष मात्र में ही इसी स्थान पर भगवान् ने समस्त दानव सेना का संहार किया था जिसके कारण इसे नैमिषारण्य कहा जाने लगा।[4] यहां एक प्रसिद्ध शक्तिपीठ भी था जहां कि देवी को लिंगधारिणी के नाम से जाना जाता था।[5]

नीमसार के अन्तर्गत स्थित अटिया पटिया, हनुमानगढ़ी, एवं व्यासगद्दी के टीले लगभग डेढ़ किलोमीटर के क्षेत्र में स्थित हैं। इन टीलों के अधिकांश भाग पर वेद, पुराण शोध संस्थान एवं अनेक इमारतों के अतिरिक्त पेड़, पौधे तथा वनस्पतियां भी उगी हुई हैं। इन टीलों की सतह से शुंग, कुषाण, गुप्त तथा मध्यकालीन लाल रंग के मृद्भांडों में सकोरे, घट, नांद, हांडी, बटननाब्ड लिड, कारिनेटेड हांड़ी, संचय घट, आदि के टुकड़े तथा कुषाणकालीन मृण्मूर्तियों के खंडित भाग आदि देखने को मिलते हैं। नीमसार के इन

१. **तदैव**, पृ० ३३।
२. सिंह आर० सी०, **पुरातत्व संग्रहालय पत्रिका**, अंक १४, पृ० ६५।
३. **पद्मपुराण**, ५।१।१।८।
४. **द्रष्टव्य, महाभारत**, आदि पर्व १।१ पा० टि०।
५. **मत्स्यपुराण**, १३।२७:१ नैमिषे लिंगधारिणी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Fouhdation, Chandigarh

टीलों को गोमती नदी के कटाव एवं बाढ़ आदि का समय-समय पर सामना करना पड़ा है। अतः बहुत संभव है कि नीमसार के इससे अधिक प्राचीन टीले गोमती नदी में विलीन हो चुके हों।

हरगांव

सीतापुर जनपद मुख्यालय से उत्तर लगभग सत्रह किलोमीटर की दूरी पर स्थित हरगांव अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र द्वारा बसाया गया प्राचीन 'हरग्राम' बतलाया जाता है। स्थानीय लोकोक्ति में इसे महाभारतकालीन विराट की राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित कहा जाता है जिसके राज-दरबार में पांडवों ने अपने वनवास के १३ वर्ष व्यतीत किये थे।

हरग्राम किसी समय का महत्वपूर्ण नगर था[1] जिसका प्रमाण स्थल पर स्थित लगभग १२ मीटर ऊँचे टीले से लाल रंग के मृद्भांडों में शुंग, कुषाण, गुप्त एवं मध्यकालीन मृद्भांडों में सकोरे, घट, नांद, हांड़ी, वटननाव्ड लिड, मृण्मूर्तियों तथा ईटों के खंडित टुकड़े आदि स्थल पर बिखरे हुये पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। यह स्थान सूरजकुण्ड नामक विशाल सरोवर के लिये प्रसिद्ध है। खंडित सप्तमातृका पैनेल एवं कौमारी प्रतिमा का खंडित भाग भी स्थल पर रखे हुये हैं।[2] इसके अतिरिक्त स्थल की महत्वपूर्ण उपलब्धियों में एक अभिलिखित मुद्रा है जिसके एक ओर वृक्ष तथा स्वस्तिक चिह्न एवं दूसरी ओर लगभग शताब्दी ईसा पूर्व की ब्राह्मी लिपि में 'नेगमा'[3] लेख अंकित है।

इस प्रकार सीतापुर जनपद के अन्तर्गत ताम्रायुधों के चार पाँच निखातों के अतिरिक्त ऐतिहासिक तथा प्रागैति-हासिक अनेक स्थल हैं जिनके उत्खनन के पश्चात् इनके सांस्कृतिक अवशेषों का ठीक ठीक काल निर्धारण करना संभव हो सकता है।

---

१. फ्यूरहर, **आर्कियोलाजिकल सर्वे लिस्ट ऑफ अवध**, सीतापुर डिवीजन, सीतापुर डिस्ट्रिक्ट, पृ० २८८।

२. सिंह, आर० सी०, **पुरातत्व संग्रहालय पत्रिका**, अंक १४, पृ० ५७।

३. सिंह, एस० डी० एन्ड सिंह, एस० बी०, **आर्कियोलाजी ऑफ लखनऊ रीजन**, पृ० ३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाजमऊ उत्खनन से प्राप्त एक प्राचीनतम पूजा सरोवर

गिरीश चन्द्र सिंह*

(फलक १)

भारत में पुरातात्विक उत्खननों के फलस्वरूप लोक-कला, लोकधर्म एवं लोक-संस्कृति की ऐसी अनेक कला-कृतियां प्रकाश में आयी हैं, जिनका हमारे पूर्वजों के धार्मिक कृत्यों से प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। इनमें से एक पूजा सरोवर (वोटिव टैंक) भी है। अभी तक उत्तरी भारत में हुये उत्खननों से तक्षशिला,[१] हस्तिनापुर,[२] अहिच्छत्र,[३] कौशाम्बी,[४] राजघाट,[५] हुलासखेड़ा और मनवाडीह[६] आदि स्थलों से पूजा सरोवर के अन्यान्य प्रमाण मिले हैं। मुख्यतया ये सभी कुषाणकालीन हैं किन्तु जाजमऊ उत्खनन[७] से प्राप्त पूजा सरोवर मौर्यकालीन है। अतः प्राचीनता की दृष्टि से यह न केवल अवध क्षेत्र अपितु उत्तरी भारत की एक महत्व-पूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है। यहां पूजा सरोवर की विवेचना करने से पूर्व प्रथमतः उसके आकार-प्रकार एवं स्वरूप पर विचार करना अधिक समीचीन होगा।

पूजा सरोवर पकायी हुई मिट्टी से निर्मित धार्मिक कृत्य (रिचुअल) के लिए एक ऐसी संरचना होती है जिसे समतल आधार पर चार दीवारों से घेर कर बनाया जाता है। इसके चारो कोनों पर दीप बने होते हैं। वास्तव में यह मातृदेवी की उपासना के लिए बनाया गया सरोवर का एक छोटा और प्रतीकात्मक रूप है। आकार-प्रकार में यह मुख्यतया आयताकार और वर्गाकार होता है। जाजमऊ उत्खनन से प्राप्त पूजा सरोवर ५० सेमी० लम्बा ४० सेमी० चौड़ा और १० सेमी० गहरा है। इसकी आन्तरिक दीवारों में तीन ओर सीढ़ियां बनी हुई हैं। **(चित्र संख्या १)।** चौथी दीवार खण्डित अवस्था की दृष्टि से अन्य स्थानों से प्राप्त सरोवरों से थोड़ा भिन्न है।

तक्षशिला से प्राप्त सरोवर संख्या १५५ और १५६ (स्ट्रेम १११-११-शक पार्थियन काल) जाजमऊ के पूजा सरोवर से कुछ साम्य रखता है।[८] अन्तर मात्र इतना है कि तक्षशिला के सरोवर के चतुर्दिक् कोनों पर बने दीपों के मध्य पक्षी बना है जबकि जाजमऊ के सरोवर में ऐसा नहीं है। एक अन्य उदाहरण में वर्गाकार पूजा सरोवर के तल में जलचर जन्तु यथा—सर्प सदृश मछली, मेंढ़क और कच्छप बने हैं[९]। तल में एक उभरे हुये भाग पर पक्षी तथा मातृ-

---

* प्रभारी अधिकारी, पर्वतीय पुरातत्व इकाई, १५ विष्टभवन, विकासमार्ग, पौडी गढ़वाल।

१. मार्शल, सर जॉन, **तक्षशिला**, प्रथम भारतीय पुनर्मुद्रण, वाराणसी, १९७५, अंक २, पृष्ठ ४६३-६४।

२. **ऐंसियेन्ट इण्डिया**, बुलेटिन ऑफ आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, अंक १०-११, पृष्ठ—८७।

३. **वही**, अंक ४; पृष्ठ १२४-१२५।

४. शर्मा, जी० आर०, **एक्सकेवेशन्स ऐट कौशाम्बी**, दिल्ली, १९६९ (मेम्वायर ऑफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, संख्या ७४), पृष्ठ ६४-६५।

५. नरायन, ए० के०, पृथ्वीकुमार अग्रवाल, **एक्सकेवेशन्स ऐट राजघाट**, वाराणसी, १९७८, पृष्ठ ७-४२।

६. लेखक की व्यक्तिगत जानकारी के अनुसार।

७. जाजमऊ नामक स्थल, कानपुर नगर से लगभग ८ कि० मी० पूर्व, गङ्गा नदी के दाहिने तट पर स्थित है।

८. देखिये मार्शल, **तक्षशिला**, अंक २, पृष्ठ ४६३-६४।

९. **वही**, अंक २, संख्या १५९, पृष्ठ ४६४, फलक १३६ एक्स।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवी प्रदर्शित है। दीवारों के आन्तरिक भाग में एक दूसरे के सम्मुख सीढ़ियाँ बनी हैं। एक तीसरे उदाहरण में सरोवर के अन्दर देवगृह बना है। इसमें मातृदेवी की मूर्ति है।[१] शेष बनावट उपरोक्त के समान है। हस्तिनापुर के चतुर्थकाल (१००–३५० शताब्दी ईसवी) से प्राप्त एक खण्डित पूजा सरोवर में ढोल वादक दिखाया गया है।[२] अहिच्छत्र (ट्रेन्च ए० सी०–३) उत्खनन से भी कई पूजा सरावर (१००–२०० शती ई०) प्राप्त हुए हैं। इनमें सरोवर के ऊपरी किनारों पर दोप तथा पँछी बने हैं। सरोवर के अन्दर दीवार से सटकर हस्तिनापुर की भांति ढोल बजाते वामनक तथा उनके सम्मुख छोटी-छोटी प्यालियाँ बनी हैं।[३] इसी प्रकार थोड़ी बहुत भिन्नता लिये हुए राजघाट, कौशाम्बी, मनवा-डीह और हुलासखेड़ा के कुषाणकालीन सरावर भी हैं। आकार-प्रकार में अभी तक प्राप्त सरोवरों में जाजमऊ का आयताकार सरोवर (५० सेमी० लम्बा, ४० सेमी० चौड़ा तथा १० सेमी० गहरा) सर्वाधिक बड़ा प्रतीत होता है। इससे पूर्व अधिकतम माप का सरोवर ३८ सेमी० लम्बा और ३५ सेमी० चौड़ा (इंच को सेमी० में परिवर्तित कर लिखा गया है) तक्षशिला से ज्ञात है[४]। जाजमऊ का यह सरोवर स्तर संख्या २३ से एक मौर्यकालीन दीवार के निकट पाया गया है। यही नहीं दूसरी ओर से उसे मौर्यकालीन ईंटों से घेर दिया गया है। ऐसा संभवत: उपासना के लिए पवित्र स्थल मानकर किया गया होगा। इस सरोवर से हमें किसी मातृदेवी की मृण्मूर्तियां नहीं मिली हैं जबकि तक्षशिला एवं अन्य स्थलों से प्राप्त हुयी हैं। विद्वानों ने इन मृण्मूर्तियों को महीमाता कहा है और सरोवर का सम्बन्ध उनकी उपासना से बताया है।[५]

भारतवर्ष के ग्रामीण अंचलों में लोक कलाकारों द्वारा लोककला एवं लोकधर्म की ऐसी अनेक कलाकृतियां आज भी बनायी जा रही हैं जो किसी न किसी रूप में प्राचीन परम्पराओं से जुड़ी हुई हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उनका गहनता से अध्ययन किया जाय और पुरातात्विक उत्खननों से उपलब्ध कलाकृतियों का उनसे तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। यहां सर्वप्रथम लोककला की दृष्टि से ही जाजमऊ के पूजा सरोवर पर विचार करना उपयुक्त होगा।

उ० प्र० एवं बिहार की स्त्रियां इसे 'छट्ठी माई की पूजा' के अवसर पर तथा बंगाल की लड़कियां 'यम पुकुर व्रत' के अवसर पर बनाती हैं। उत्तर प्रदेश एवं बिहार में यह व्रत स्त्रियां कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष में छठे दिन रखती हैं। इस अवसर पर लोकगीत भी गाते हैं। यहां तक कि इनके लोकगीतों में पूजा सरोवर का उल्लेख मिलता है। इन गीतों[६] के कुछ अंशों को यहां उद्धरण के रूप में प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा।

१. "........चारु चउखण्डा के पोखरवा जल उमड़ल जाई........।"

२. "........सबके डलियवा ए आदितमल लिहल उठाई।
बाझिन डलियवा ए आदितमल उहवे तवाई॥"

प्रथम पक्ति में 'चारु चउखण्डा के पोखर' का यह उद्धरण महत्वपूर्ण है। इस गीत के साथ स्त्रियां मिट्टी का चौकोर पोखर बनाती हैं। तदुपरान्त इसमें जल भर कर चतुर्दिक् किनारों पर दीपक जलाती हैं। पोखर के बीच में धोबी-धोबिन तथा नाई-नाईन की हस्तनिर्मित मिट्टी की मूर्तियां बनाकर उसमें रखती हैं। छट्ठी माई का यह व्रत छठे दिन सायंकाल रखा जाता है तथा दूसरे दिन सूर्योदय होने पर तोड़ा जाता है।

---

१. **वही**, अंक २, संख्या १५८, पृष्ठ ४६४, फलक १३६ डब्लू०।
२. **एंसियेण्ट इण्डिया,** अंक १०-११, पृष्ठ ८७, फलक ५२ ब।
३. **एंसियेण्ट इण्डिया,** अंक ४, पृष्ठ १२४-१२५।
४. देखिये मार्शल, **पूर्वोक्त**, अंक २, पृष्ठ ४६३।
५. **वही**, अंक २, पृष्ठ ४६५; **एंसियेण्ट इण्डिया**, अंक ४, पृष्ठ १२५; देखिये मार्शल, **पूर्वोक्त**, अंक २ पृष्ठ ४६५।
६. श्रीमती राधारानी, ए० डी०–१७, हाउसिंग स्कीम, अलीगंज, लखनऊ के संग्रह से प्राप्त।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरी पंक्ति में माई के इस गीत का मुख्य अभिप्राय यह है कि आदितमल ने सन्तानवाली स्त्रियों की पूजा सामग्री और फल से युक्त डलिया स्वीकार कर ली किन्तु बाझिन (जिसके सन्तान न हो) स्त्रियों की डलिया नही स्वीकार की। वास्तव में उपरोक्त गीत कहने के लिये छट्ठी माई का है किन्तु मुख्यतः इस अवसर पर सूर्य (आदितमल) की पूजा की जाती है।[1] यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उ० प्र० एवं बिहार में छट्ठी माई की पूजा में मुख्यतः आदितमल और सूर्यमल का नाम लिया जाता है। इस प्रकार छट्ठी माई की पूजा में आदितमल का नामोल्लेख, पोखर बनाने की परम्परा, धोबी-धोबिन तथा नाई-नाइन की हस्तनिर्मित मिट्टी की मूर्ति बनाकर पोखर में रखना—ये सब निम्न-लिखित तथ्यों की ओर संकेत करती हैं :—

१—ऐसा विदित होता है कि पूर्व में पूजा सरोवर के साथ आदितमल (आदित्य) की पूजा की जाती रही होगी। छट्ठी का नामकरण मात्र कार्तिक माह के शुक्ल पक्ष में छठे दिन व्रत प्रारम्भ करने के कारण पड़ा होगा। यह भी सम्भव है कि प्राचीन समय में षष्ठी की पूजा की जाती रही हो और कालान्तर में यह आदित्य की पूजा से सम्बद्ध हो गया हो। वैसे कुषाणकाल से हमें षष्ठी देवी की मूर्तियाँ मिली हैं।[2] षष्ठी की पूजा समस्त उत्तर भारत में सन्तानोत्पत्ति,[3] सन्तान के कल्याण तथा उसके दीर्घायु होने के लिए की जाती रही है। विद्वानों ने इसे महीमाता का ही एक रूप बताया है।[4] लेकिन इनका प्रादुर्भाव हमें कुषाणकाल से ही दिखायी देता है। सम्भव है इस देवी की इससे पूर्व किसी अन्य रूप में पूजा की जाती रही हो, जिसकी पहचान अभी हम नहीं कर सके हैं।

२—पोखर में धोबी-धोबिन तथा नाई-नाईन की मृण्मूर्तियों को बनाकर रखना, प्राचीनकाल से चली आ रही मातृपूजा की ओर संकेत है। तक्षशिला से हमें सरोवर में महीमाता की मूर्तियाँ रखकर पूजा करने का प्रमाण मिलता है। पूर्व में यह पूजा संभवतः जनशक्ति के लिए की जाती रही हो। यही कारण है कि आज भी यह परम्परा देखने को मिल रही है।

३—उपरोक्त सन्दर्भ में आदितमल का उल्लेख विचारणीय है। सूर्य के अनेक पर्यायवाची नाम हैं। उनमें से एक आदित्य भी है।[5] ऋग्वेद में छः आदित्यों का उल्लेख मिलता है।[6] बाद में पुनः सात आदित्यों का उल्लेख हुआ है।[7] शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर मार्तण्ड को सम्मिलित कर उनकी संख्या आठ बतलायी गयी है।[8] आगे चलकर पुराणों में द्वादश आदित्यों का उल्लेख मिलता है।[9] उनके नाम इस प्रकार हैं :— इन्द्र, धाता, भग, त्वष्टा, मित्र, वरुण, यम, विवस्वान्, सविता, पूषा, अंशुमान और विष्णु। आदित्य जल के नेता कहे गये हैं।[10] आज भी प्रायः सूर्य को जल का अर्घ्य देने का प्रमाण देखा जा सकता है। प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो सूर्य दोनों हाथों में

१. श्रीवास्तव, एम० सी० पी०, **मदर गाडेस इन इण्डियन आर्ट, आर्कियोलाजी एण्ड लिट्रेचर,** दिल्ली १९७९, पृष्ठ १९५।
२. जोशी, नी० पु०, **प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान,** पटना, १९७७, पृष्ठ १३२।
३. **एंसियेण्ट इण्डिया,** अंक ४, पृष्ठ ११९।
४. सिंह, रामचन्द्र, **राजघाट की मृण्मूर्तियाँ,** उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन, पृ० ३२।
५. **ऋग्वेद,** ९-११४-३।
६. **ऋग्वेद,** २-२७-१।
७. **ऋग्वेद,** ९-११४-३।
८. **शतपथ ब्राह्मण,** ३-१-३-३।
९. **विष्णु पुराण,** १-१५-१६१-३२, **मत्स्यपुराण,** अध्याय ६, ३-४।
१०. **ऋग्वेद,** ३-३३-६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सनाल पूर्ण विकसित पुष्कर (कमल) धारण किये रहते हैं। पुष्कर सरोवर के स्वच्छ निर्मल जल में उत्पन्न होता है। इसीलिए सरोवर को पुष्कर भी कहा गया है। संभव है पूजा सरोवर में जलभर कर मातृकाओं को पूजा करने की चली आ रही अतीत कालीन परम्परा का सम्बन्ध कालान्तर में सूर्य से हो गया हो।

यहाँ यह विचारणीय है कि मौर्य काल के उपरान्त कुषाण काल से ही पूजा सरोवर का अधिकाधिक प्रमाण हमें क्यों मिलता है? कदाचित् इसलिए कि कुषाण सम्राट सूर्योपासक भी थे और वे पूजा सरोवर का उपयोग आदित्य की उपासना में करते थे। लेकिन प्रश्न होगा सरोवर में आदित्य के स्थान पर महीमाता की मृण्मूर्तियाँ क्यों मिलती हैं? इसके अतिरिक्त यदि कुषाणकाल में पूजा सरोवर का सम्बन्ध आदित्य से स्वीकार भी कर लिया जाय तो महीमाता के स्वरूप पर विचार करना होगा। इन्द्राणी, अदिति, माया और वसुधा की मृण्मूर्तियों को महीमाता कहा गया है।[१] तक्षशिला के पूजा सरोवर में हमें महीमाता की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं।[२] इन्हें अदिति की संज्ञा दी जा सकती है। अदिति ही एक ऐसी महीमाता हैं जिनका ऋग्वेद में नाम से उल्लेख हुआ है।[३] इनको वेदों में जननशक्ति की देवी कहा गया है।[४] अतः बहुत संभव है, पूजा सरोवर में रखकर पूजी जाने वाली महीमाता, अदिति ही हों। जनन करने के सन्दर्भ में यहाँ कादम्बरी के सूतिका गृह[५] का वर्णन का उल्लेख करना अप्रसांगिक न होगा, जिसमें मातृदेवी की पूजा करने की परम्परा दिखायी देती है। संभव है कुषाण-काल तक आते-जाते महीमाता अदिति षष्ठी देवी के रूप में पूजी जाने लगी हों क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि यह जननशक्ति की देवी रही हैं। आदित्य अदिति के पुत्र हैं।[६] यही नहीं सब देवता उनकी संतति माने जाते हैं।[७] अतः आदित्य का अदिति के पुत्र होने के कारण भी पूजा सरोवर का सम्बन्ध उनसे हो गया हो तो आश्चर्य नहीं।

बंगाल में वहाँ की कुंवारी लड़कियाँ मृत्यु के देवता यम की पूजा, पूजा सरोवर की तरह एक 'पुकुर' (पोखर) बनाकर करती हैं, जिसे 'यम पुकुर व्रत' कहा जाता है।[८] इसमें कुंवारी लड़कियां चार वर्षों तक लगातार एक माह—आश्विन के अन्तिम दिन से प्रारम्भ कर कार्तिक माह के अन्तिम दिन तक पूजा करती हैं। इसके लिए वे घर के आँगन में लगभग एक वर्गाकार छोटा पोखर (पुकुर) खोदती हैं। जल निकलने के लिए एक तरफ जल-मार्ग (पनाली) बनाया जाता है। सरोवर के पूर्वी ओर धान, केला, तुलसी आदि के पौधों को एक साथ बाँधकर लगा दिया जाता है। तत्पश्चात् कौड़ी, सुपाड़ी और हल्दी उसके चतुर्दिक् किनारों पर रख दिया जाता है। पुनः खोदी हुयी मिट्टी से वे पक्षी, घड़ियाल, कच्छप, मछली और १६ गुड़ियों के रूप में धोबी-धोबिन एवं अन्य प्रकार की मिट्टी की मूर्तियाँ बनाती हैं। अब जलचर जन्तुओं को सरोवर के किनारे रख देती हैं। पक्षी को छोटी लकड़ी में गोदकर सरोवर के बीचो-बीच गाड़ दिया जाता है। १६ गुड़ियों में से ४-४ को किनारें पर रख दिया जाता है। अन्त में यम को उनकी माँ के गोद में बैठने का दृश्य दिखाते हुए एक पुतला बनाकर पूर्वी दिशा में एक साथ बाँधकर गाड़े गये पौधों के निकट इसे रख दिया जाता है। सरोवर के चारो कोनों पर चार दीपक प्रज्वलित किए जाते हैं। अन्ततोगत्वा लड़कियाँ यम और उनकी माँ के

१. **एंसियेण्ट इण्डिया,** अंक ४, पृष्ठ १०९।
२. देखिये मार्शल, **पूर्वोक्त,** अंक २, पृष्ठ ४६५।
३. विलकिन्स, डब्लू० जे०, **हिन्दू माइथोलाजी** (वैदिक एण्ड पौराणिक) कलकत्ता, १८८२, पृष्ठ १४, **ऋग्वेद** ५-४७-१।
४. दास, एस० के०, **शक्ति आर डिवाइन पावर,** कलकत्ता १९३४, पृष्ठ ४१।
५. वासुदेव शरण अग्रवाल, **हर्ष चरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन,** पटना, १९६४, पृष्ठ ६६।
६. **ऋग्वेद,** ९-११४-३।
७. **अथर्ववेद,** ८-९-२१।
८. देखिये मार्शल, **पूर्वोक्त,** अंक २, पृष्ठ ४६६-६७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऊपर पुष्पार्पण करते हुए अपने तथा अपने परिवार के दीर्घायु और सम्पन्नता हेतु उनसे प्रार्थना करती हैं।

इस प्रकार के उपरोक्त 'यम पुकुर' व्रत से भी निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला जा सकता है :—

१. यम को उनकी माँ के गोद में बैठाकर पूजा करने की परम्परा मातृपूजा की ओर ही संकेत है। पूर्व में यह पूजा सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से की जाती रही होगी किन्तु कालान्तर में उसके स्वरूप में परिवर्तन हो गया होगा। यदि यम को आदित्य के रूप में देखा जाय तो द्वादश आदित्यों में यमादित्य का उल्लेख मिलता है। संभावना यह भी है कि यमादित्य को उनकी माँ अदिति के गोद में बैठाकर पूजा करने की यह प्राचीन परम्परा रही हो। गोद में यम के रूप में शिशु का प्रदर्शन जननशक्ति का परिचायक है। ज्ञातव्य है कि महीमाता अदिति जननशक्ति की देवी कही गयी हैं। इस प्रकार उत्तर प्रदेश, बिहार एवं बंगाल में पूजा सरोवर के साथ सूर्य की उपासना का संकेत मिलता है।

२. मत्स्य पुराण[1] में तालाब की प्रतिष्ठा करने के विधान में स्वर्ण के कूर्म और मकर बनाने का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त पाँच रंग के चूर्णों से मण्डल बनाकर उसमें १६ अरों से युक्त चक्र चिह्नित करने तथा उसके गर्भ में कमल का आकार बनाने का उल्लेख है। इस प्रकार 'यम पुकुर व्रत' में हल्दी, सुवर्ण (सूर्य भी स्वर्णमय कहे जाते हैं) कूर्म, कमल और १६ अरों से युक्त चक्र पुनः सरोवर को आदित्य के साथ सम्बद्ध करता है। पुनः ब्राह्मण साहित्य में आदित्य को कूर्म भी कहा गया है।[2]

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राचीन समय में पूजा सरोवर अदिति जैसी महीमाता से सम्बद्ध रहा होगा। कालान्तर में उनके पुत्र आदित्य के नाम पर लोग पूजा सरोवर की पूजा करने लगे होंगे।

कुछ विद्वान् उत्खननों से उपलब्ध पूजा सरोवर को भारतीय न मानकर विदेशी उत्पत्ति का बताते हैं।[3] वे पूजा सरोवर का प्रथम परिचय कुषाणकाल में हुआ मानते हैं। उनके अनुसार इसका सम्बन्ध पार्थियन या इण्डो-पार्थियन से था क्योंकि तक्षशिला में पूजा सरोवर सीथियो-पार्थियन नगर—सिरकप से प्राप्त हुआ है। वे यह भी कहते हैं कि पूजा सरोवर में महीमाता को देवगृह में रखकर ईरानी रूप में पूजा करने की परम्परा सर्वप्रथम यूनानी-पार्थियनों द्वारा गांधार में लायी गयी। तदुपरान्त यह परम्परा गांधार से उत्तरी भारत के अन्य केन्द्रों पर फैली। इसके अतिरिक्त कुषाणकालीन पूजा सरोवरों में पाये जाने वाले ढोल बजाते वामनकों के आधार पर इसका सम्बन्ध पार्थियनों से बताया गया है। इस सन्दर्भ में यह तर्क दिया गया है कि ढोल बजाते वादकों को यह परम्परा विशेष रूप से सिल्यूसिया में लोकप्रिय थी। पार्थियनों ने यहीं से इसकी जानकारी प्राप्त की क्योंकि सिल्यूसिया का यह काल ७० से २०० शती ई० बताया गया है। यही काल सीथियो-पार्थियनों का भी था। अतः विद्वानों के अनुसार उनके द्वारा ही यह परम्परा भारत में लाने की बात कही गयी है।

उपरोक्त तर्कों के सम्बन्ध में यदि विचार किया जाय तो आयताकार बड़े सरोवरों (पुष्कर) के निर्माण की परम्परा हमें मोहनजोदड़ो के समय से ही दिखायी देती है। यही नहीं इसका उपयोग भी संभवतः धार्मिक कार्य में होता था।[4] उत्खनन से कुछ अन्य सरोवर भी प्रकाश में आये हैं।[5]

---

१. **मत्स्य पुराण,** गीता प्रेस गोरखपुर, १९८४, अध्याय ५८।
२. वासुदेव शरण अग्रवाल, **मत्स्य पुराण—ए स्टडी,** वाराणसी, १९६३, पृष्ठ ७१।
३. **एंसियेण्ट इण्डिया,** अंक, पृष्ठ १२४-२५, अंक १०-११, पृष्ठ ८७।
४. कौशाम्बी; डी० डी०, **दि कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन आफ एंसियेण्ट इण्डिया ऐन हिस्टारिकल आउट लाइन,** छठा संस्करण, १९८१, पृष्ठ-६६-६८, रेखाचित्र सं० ६७।
५. **पुरातत्व,** बुलेटिन आफ दि इण्डियन आर्किलाजिकल सोसायटी, अंक १०, १९७८-७९, पृष्ठ ५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मार्शल ने तक्षशिला से प्राप्त पूजा सरोवरों को भारतीय परम्परा का कहा है।[१] उन्हें भीर माउण्ड (स्ट्रेम ११-मौर्य) से कुछ ऐसे मिट्टी के कटोरे सदृश पात्र प्राप्त हुये, जिसे उन्होंने पूजा कहा है।[२] इन पात्रों के ऊपरी किनारों पर आठ दीप (वर्तमान में तीन विद्यमान हैं, शेष खण्डित हो चुके हैं) बने हैं। उन्होंने इसकी तिथि ३००-२०० ई० पूर्व बताई है। उनके अनुसार भीर माउँड से प्राप्त इन पात्रों की संख्या बहुत कम है तथा सिरकप से प्राप्त पूजा सरोवरों से भिन्न हैं। इसका कारण उन्होंने सिरकप पर पार्थियन प्रभाव बताया है।[३] मार्शल के इस तिथि को स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि अभी तक इस प्रकार का कोई पूजा सरोवर किसी भी उत्खनन से प्रकाश में नहीं आया है। पुनः उस समय उत्खनन और उसके काल निर्धारण करने का ढंग इतना वैज्ञानिक नहीं था जितना वर्तमान में अपनाया जा रहा है। अतः उपरोक्त पात्रों को यदि हम ३००-२०० ई० पू० के बीच का पूजा सरोवर न भी स्वीकार करें तो जाजमऊ उत्खनन से हमें प्रथम काल (मौर्य) के स्तर संख्या २३ से पूजा सरोवर प्राप्त हुआ है।[४] इस उत्खनन में द्वितीय काल (कुषाणकाल) स्तर संख्या १४, कुषाणों के अस्तित्व का अन्तिम स्तर है। इन दोनों स्तरों के बीच कुल तीन भवन संरचनाए प्रकाश में आयी हैं। यदि एक भवन संरचना के उत्थान और पतन का समय हम १०० वर्ष भी मान लें तो तीन संरचनाओं में कुल ३०० वर्ष का समय लगा होगा। इस प्रकार जाजमऊ उत्खनन से प्राप्त सरोवर को लगभग ३०० ई० पू० का माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस तिथि की पुष्टि सम्बन्धित स्तर से प्राप्त अन्य पुरोवशेषों के तुलनात्मक अध्ययन से भी होती है।

३०० ई० पू० में यूनानी पार्थियनों का जाजमऊ में आना सम्भव नहीं है क्योंकि गाँधार में ही उनकी कला का प्रादुर्भाव हमें लगभग ५० ई० पू० से दिखायी देता है।[५] इस प्रकार जाजमऊ उत्खनन की यह प्राप्ति विद्वानों के उपरोक्त समस्त मतों का खण्डन करती है कि पूजा सरोवर की यह परम्परा पार्थियनों के प्रभाव से प्रथम शती ईसवी में प्रारम्भ हुई। वास्तव में उपरोक्त सभी विद्वानों का मुख्य आधार मात्र कुषाण काल से पूजा सरोवरों की प्राप्ति थी। यही कारण था कि उन्होंने पूजा सरोवर का प्रारम्भ कुषाण काल में हुआ बताया। पुनः लोक कला में दूसरी कला का आत्मसात् इतनी शीघ्रता से नहीं होता। हां इतना अवश्य परिलक्षित होता है कि प्रथम शती ई० के बाद लगभग दूसरी-तीसरी शती ई० से भारतीय पूजा सरोवरों पर गांधार कला का प्रभाव कुछ अवश्य पड़ा होगा।

इस प्रकार यदि संक्षेप में मूल्यांकन किया जाय तो जाजमऊ का सरोवर निम्न तथ्यों पर प्रकाश डालता है :—

(१) कुषाणकाल से पूजा सरोवर की अधिकाधिक प्राप्ति के कारण विद्वानों के मन में जा यह अवधारणा रही है कि इसका प्रचलन भारतीय नहीं है अपितु यह गांधार से यूनानी-पार्थियनों द्वारा उत्तर भारत के विभिन्न केन्द्रों पर लाया गया, का खंडन होता है।

(२) अभी तक उत्तरी भारत में हुये उत्खननों से प्राप्त पूजा सरोवरों में इसका प्राचीनतम होना ज्ञात होता है।

(३) ३०० ई० पू० में महीमाता की उपासना हेतु पूजा सरोवर के उपयोग किये जाने की जानकारी प्राप्त होती है।

(४) विभिन्न उत्खननों से प्राप्त पूजा सरोवरों के तुलनात्मक अध्ययन करने पर जाजमऊ के पूजा सरोवर का आकार-प्रकार में सर्वाधिक बड़े होने का प्रमाण मिलता है।

---

१. देखिये मार्शल, **पूर्वोक्त,** अंक २, पृष्ठ ४६७-६८।

२. **वही,** अंक २, पृष्ठ ४६३, फलक १३६ एस और टी।

३. **वही,** अंक २, पृष्ठ ४६७-६८।

४. यह १९७६-७७ के उत्खनन से प्राप्त हुआ है और इस अवधि में लेखक स्वयं उत्खनन में सम्मिलित था।

५. हरिदत्त वेदालंकार, **भारत का सांस्कृतिक इतिहास,** तीसरा संस्करण, दिल्ली १९६२, पृष्ठ ११५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय संस्कृति का उपेक्षित केन्द्र–सरवन

अँगने लाल*

उन्नाव जिले के ऐतिहासिक बौद्ध केन्द्रों में सरवन का भी नाम उल्लेखनीय है। सरवन नामक ग्राम एक विशाल ऊँचे टीले पर स्थित है जो पुरवा तहसील में तहसील मुख्यालय से लगभग १० किलोमीटर उत्तर-पूर्व में, मौरावाँ–मोहन लालगंज सड़क पर, मौरावाँ से लगभग ९ कि० मी० उत्तर, सड़क से लगभग २ कि० मी० पश्चिम में स्थित है। सबसे पहले इस ऐतिहासिक केन्द्र की ओर फ्यूहरर महोदय ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था।[1]

इस बौद्ध केन्द्र के आस-पास अन्य अनेक बौद्ध केन्द्र भी स्थित हैं। सिमरी असोहा, जहाँ से धर्मचक्र, बोधिवृक्ष तथा चैत्य युक्त चाँदी के सिक्के प्राप्त हुए थे,[2] सरवन से लगभग ६ कि० मी० उत्तर-पश्चिम में स्थित है। बिहार (बिहार-पाटन) जिसका नाम ही बौद्ध विहारों को अधिकता के कारण पड़ा था,[3] पुरवा तहसील मुख्यालय से १९ कि० मी० दूर पूर्व में स्थित है।[4] सरवन से लगभग २५ कि० मी० उत्तर की ओर प्रसिद्ध ऐतिहासिक केन्द्र हुलासखेड़ा स्थित है, जहाँ उत्तर प्रदेश का पुरातत्व विभाग खुदाई करवा रहा है और जिसमें मौर्यकाल तक के पुरातन अवशेष प्राप्त हुए हैं।

सरवन का सम्बन्ध अनुश्रुतियों में प्रसिद्ध मातृ-पितृ भक्त श्रवणकुमार से बताया जाता है। श्रवणकुमार का वर्णन बौद्ध धर्म की जातक कथाओं और ब्राह्मण साहित्य में मिलता है। जातक बौद्ध धर्म की प्राचीन कथाएँ हैं जिनकी संख्या ५५० है। इन्हीं में एक जातक "साम जातक"[5] है। इसी साम जातक की कथा प्रचलित श्रवण कथा का मूल स्रोत प्रतीत होता है। इस जातक कथा के अनुसार साम कोशल देश की राजधानी श्रावस्ती के एक सेठ माता-पिता का पुत्र था। बड़ा होकर साम बौद्ध धर्म में प्रव्रजित होकर श्रमण बौद्ध भिक्षु बना। शान्ति प्रिय वह श्रमण कोलाहल से दूर कोशल राज्य के सीमान्त ग्राम के पास के वन में आकर साधना में संलग्न हो गया।[7]

साम श्रमण के गृह त्याग के बाद उसके माता-पिता की आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई और वे अत्यन्त दीन हीन हो गये। जेतवन विहार[8] के कुछ भिक्षुओं से यह समाचार पाकर श्रमण साम अपने माता-पिता को देखने श्रावस्ती आया। घर पहुँचने के पहले वह भगवान् बुद्ध के पास गया और माता-पिता की आर्थिक दशा बताते हुए अपने कर्तव्य के विषय में

---

* प्रा० इ० विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

१. फ्यूहरर, **द मानूमेन्टल ऐन्टीक्विटीज एन्ड इन्सक्रिप्शन्स इन द एन-डब्ल्यू० पी० ऐन्ड अवध।**

२. द्रष्टव्य, **उपरोक्त।**

३. कनिंघम, **आ० सर्वे० आफ इण्डिया रिपोर्ट**, जिल्द २, पृ० ५४।

४. **उत्तर प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, उन्नाव**, पृ० २५६।

५. **जातक**, जि० ६, पृ० ७८-१०८।

६. श्रावस्ती उत्तर प्रदेश के जिला बहराइच में बलरामपुर रेलवे स्टेशन से लगभग २० कि० मी० दूर बहराइच जाने वाली सड़क के पास राप्ती नदी के किनारे स्थित है। यहाँ खुदाई में बुद्धयुगीन अवशेष प्राप्त हुए हैं।

७. **जातक**, जि० ६, पृ० ७८-७९।

८. जेतवन विहार प्रसिद्ध बौद्ध विहार था जो श्रावस्ती नगर के पास स्थित था। नगर के सेठ अनाथपिण्डिक ने करोड़ों का धन व्यय करके इस विशाल विहार का निर्माण करवाया। यहाँ बौद्ध संघाराम के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह बौद्धों का एक तीर्थ स्थान है जहाँ बलरामपुर से बस द्वारा पहुँचा जाता है। यह बलरामपुर रेलवे स्टेशन से लगभग २० कि० मी० दूर है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथागत बुद्ध से पूछा। भगवान् बुद्ध ने भिक्षु रहते हुए ही माता-पिता की सेवा का उपदेश दिया। तब से वह श्रमण साम अपने माता-पिता की सेवा में संलग्न रहा।

साम जातक की पूर्व कथा के अनुसार उसके पिता का नाम दुकूलक और माता का नामपारिका था। दोनों ही शील सम्पन्न थे। उनसे स्वर्ण-वर्णी पुत्र का जन्म हुआ। सोने के समान बच्चे का रंग होने के कारण उन्होंने उसका नाम स्वर्णसाम रखा। माता-पिता ने फल-मूल आदि से बोधिसत्व रूपी उस बालक का पालन-पोषण किया। एक बार जब वे दोनों विचरण कर रहे थे तो पानी बरसने के कारण एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। पेड़ के नीचे बांबी में एक विषैला साँप रहता था जिसकी फुफकार से दोनों अन्धे हो गये। किसी प्रकार जब यह सूचना स्वर्णसाम को मिली तब वह उन्हें अपने निवास स्थान पर लाया और उनकी सेवा शुश्रूषा करने लगा।

इसी जातक कथा में आगे यह बताया गया है कि एक दिन जब अपने अन्धे माता-पिता के लिए श्रमण पास की नदी में पानी भर रहा था उसी समय पानी भरने की आवाज को सुनकर उसी जंगल में शिकार खेलते हुए वाराणसी (बनारस) के राजा पिलीयक्ख ने वाण से स्वर्णसाम श्रमण को बेध दिया।[1]

इस जातक कथा से यह भी ज्ञात होता है कि माता-पिता के पुण्य प्रभाव से वाण का विष शान्त हो गया था और उन्हें भी नयन ज्योति प्राप्त हो गई।[2]

साम जातक के अनुसार श्रमण साम को जिस स्थान पर राजा पिलीयक्ख ने वाण मारा था वह स्थान सरवन (श्रमण) के आश्रम से एक मील (आधा कोस) दूर था।[3]

साम जातक की उक्त कथा और पौराणिक सरवन की कथा में कुछ बातों के अतिरिक्त समानता ही अधिक है। साम जातक में श्रमण साम को वाण मारने वाला राजा पिलीयक्ख बताया गया जो वाराणसी का राजा था जब कि पौराणिक कथा में इसे अयोध्या का राजा दशरथ बताया गया है।

पौराणिक कथा में पुत्र की मृत्यु से व्याकुल अन्धे माता-पिता दशरथ को पुत्र वियोग में ही मरने का शाप देकर प्राण त्याग देते हैं जब कि जातक कथा में वे दोनों माता-पिता पुत्र शोक सहन करते हुए उस राजा के साथ शव के पास तक आते हैं और शव को स्पर्श कर शल्य क्रिया द्वारा उसके विष को दूर करते हैं जिसमें पुत्र श्रमण जी उठता है। यहीं पर उन दोनों को नयन ज्योति भी प्राप्त हो जाती है।

वर्तमान सरवन गाँव और उसके विशाल टीले और साम जातक तथा पौराणिक सरवन कथा में काफी समानता हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से जातक कथा के मुख्य विचारणीय बिन्दु इस प्रकार हैं :—

श्रमण (सरवन) ने कोशल राज्य के सीमान्त ग्राम के पास के वन में साधना प्रारम्भ की थी। उल्लेखनीय है कि कोशल राज्य की दक्षिणी सीमा पर सर्पिका या स्यन्दिका नदी बहती थी। यह वर्तमान सई नदी है जो उन्नाव और लखनऊ की सीमा बनाती हुई बहती है।[4] सरवन का विशाल टीला इस समय सई नदी के दक्षिण में लगभग ८ कि० मी० दूर स्थित है। स्पष्टतः यह कोशल राज्य के सीमान्त पर स्थित था। यह भी सम्भव है कि उस समय यह नदी श्रमण (सरवन) के आश्रम के पास से बहती हो और अब नदी का प्रवाह मार्ग परिवर्तित हो गया हो, जैसा कि उत्तरी भारत की बहुत सी नदियों से हुआ है। इसी मार्ग परिवर्तन से लम्बो-लम्बी झीलें बन गई हैं।

वर्तमान सरवन टीले के दक्षिण में लगभग एक मील दूर गोराव झील है। इसके उत्तरी किनारे पर सरवन टीले की ओर झील में एक विशाल शिला है जो इस समय पृथ्वी तल से अधिक ऊँची नहीं है। स्थानीय लोगों में यह बात प्रचलित

१. **जातक**, जि० ६, पृ० ८६-८७।
२. **जातक**, जि० ६, पृ० १०४-१०८।
३. **जातक**, जि० ६, पृ० ९२।
४. रायचौधरी, **हि० ऐ० इं०**, पृ० ९९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है कि इसी स्थान पर श्रवण को राजा ने वाण मारा था। साम जातक में भी यही बताया गया है कि श्रमण के आश्रम से यह स्थान जहाँ पर राजा ने उसे वाण मारा था, आधा-कोस अर्थात् एक मील दूर था।[१] गोराव झील काफी लम्बी है।

सरवन गाँव के दक्षिणपूर्व दिशा में घरों से लगभग चार पाँच सौ गज दूर एक पुराना जीर्ण-शीर्ण मन्दिर है जिसमें चतुर्मुखी शिवलिंग स्थापित है। पास में कुछ टूटी-फूटी मूर्तियाँ भी रख दी गई हैं। मन्दिर के पश्चिम में यद्यपि आकार में छोटा किन्तु काफी ऊँचा मिट्टी का टीला है जिसे गाँव के लोग पहाड़ कहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थान (सरवन) बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों का केन्द्र रहा है। इस समय सरवन गाँव विशाल एतिहासिक टीले पर स्थित है। फिर भी पास के मिट्टी के पहाड़ का तथा गाँव में खाली पड़े हुए स्थानों पर परीक्षण के तौर पर उत्खनन करने से इसकी पुरासम्पदा का पता चल सकता है और उन्नाव जिले के इतिहास में एक नवीन महत्वपूर्ण अध्याय जुड़ सकता है। एतदर्थ राज्य के पुरातत्व विभाग का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित किया जाता है।

१. **जातक**, जि० ६, पृ० ९२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जौनपुर का स्थापत्य

पारस नाथ मिश्र*

बनारस कमिश्नरी के उत्तर-पश्चिम में स्थित जौनपुर पूर्वांचल का प्रमुख जनपद है। प्रतापगढ़ और इलाहाबाद इसकी पश्चिमी तथा आजमगढ़ और गाजीपुर इसकी पूर्वी सरहदें निर्धारित करते हैं। इसकी उत्तरी सीमा सुल्तानपुर एवं दक्षिणी मिर्जापुर और वाराणसी जिलों से जुड़ी हुई है। इस जिले में ५ तहसीलें—केराकत, मछलीशहर, मड़ियाहूँ, शाहगंज और जौनपुर हैं। जमीन उपजाऊ है और जलवायु उत्तर प्रदेश की पूर्वी जिलों की भाँति है। वर्षा के दिनों में कभी-कभी गोमती और सई नदियां यहाँ प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देती हैं जिससे खासनपुर, झंझरी मस्जिद, बलुआघाट, करारकोट, जहाँगीराबाद, हुसेनाबाद, शहाबुद्दीनपुर आदि इलाके जलप्लावित हो जाते हैं।

जौनपुर के प्रारम्भिक इतिहास से सम्बन्धित सामग्री का सर्वथा अभाव है। हमे केवल इतना मालूम है जहाँ आज जौनपुर शहर है वहाँ प्राचीन काल में गोमती के किनारे एक नगरी आबाद थी। ब्राह्मण इस नगरी का सम्बन्ध 'यमदग्नि ऋषि' से जोड़ते हैं। जफराबाद के निकट गोमती नदी के दाहिने तट पर अवस्थित जमैथा नामक स्थान को उक्त ऋषि के नाम पर आधारित मानकर इसका प्राचीन नाम वे 'यमदग्निपुर' बतलाते हैं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसका वर्तमान नाम मुसलमानी है। इसे फीरोजशाह ने मोहम्मद बिन तुगलक (जूना) की यादगार में बसाया था। साधारण बोलचाल की भाषा में आज भी लोग इसे जौनपुर न कह कर 'जवनपुर' अथवा 'यवनपुर' कहते हैं। हरिवंश-पुराण में वर्णित 'यवनेन्द्रपुर' इस नाम के पर्याप्त निकट है किन्तु अभी तक यह सुनिश्चित नहीं हो पाया है कि यवनों का कोई उपनिवेश सुदूरपूर्व की ओर कभी स्थित था। लाल दरवाजा मस्जिद के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण 'यमीनयामपुर' या 'आयोत्यामापुर' नाम जनरल कनिंघम द्वारा पढ़ा गया था किन्तु यह मत इतिहासकारों को मान्य नहीं है। कुछ इतिहासकार इस अभिलेख को 'अयोध्यापुर' पढ़ते हैं और इसका सम्बन्ध भगवान् राम से जोड़ते हैं।

यद्यपि जौनपुर का प्राचीन इतिहास स्वतन्त्र रूप से ज्ञात नहीं है किन्तु गोमतो तट की नीरव शक्ति एवं विमलता ने अवश्य ही इस स्थल की ओर प्राचीन मनीषियों एवं ऋषियों का ध्यान आकृष्ट किया होगा। यही कारण है कि प्रारम्भिक मध्ययुग में हम जौनपुर को एक प्रमुख शिक्षा केन्द्र के रूप में पाते हैं जहाँ शेरशाह सरीखे शासकों ने शिक्षार्जन किया। केवल शिक्षा एवं संस्कृति के केन्द्र के रूप में ही नहीं वरन् कला और स्थापत्य के क्षेत्र में भी जौनपुर ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया। शर्की सुल्तानों ने भव्य मस्जिदों से नगर को अलंकृत कर इसे द्वितीय राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित किया। मुसलमान शासकों ने इसे इसलिये भी अधिक महत्व दिया कि उन्हें धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हिन्दू संस्कृति केन्द्र काशी के समीप किसी मुस्लिम केन्द्र की आवश्यकता थी।

वास्तव में जौनपुर की महत्ता यहाँ की शाही इमारतों व स्थापत्य की सुदृढ़ता, सुन्दरता के कारण है। जौनपुर के स्थापत्य को मुख्य रूप से शर्की काल से और उसमें भी विशेष कर इब्राहिम शाह के काल से संयुक्त किया जा सकता है। इस समय जौनपुर में जितनी शाही इमारतें, कब्रें, मस्जिदें आदि विनिर्मित की गई उतनी शायद किसी अन्य नगर में नहीं। यहाँ का स्थानीय स्थापत्य मुस्लिम और हिन्दू शिल्प कला का प्रतीक है। इब्राहिम शाह के समय में निर्मित अटाला मस्जिद, बड़ी मस्जिद, चार अंगुल की मस्जिद आज भी वहाँ के स्थापत्य की महानता का परिचय देती हैं। जौनपुर की स्थापत्य कृतियों की एक विशेषता यह भी है कि

---

* ईश्वर शरण महाविद्यालय, इलाहाबाद।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यहाँ के शाही इमारतों के पत्थरों पर अनेक शिलालेख उत्कीर्ण मिलते हैं जो तत्कालीन जौनपुर के इतिहास के लिये महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं। जौनपुर के अधिकांश स्थापत्य नमूने उचित सुरक्षा के अभाव में ढह चुके हैं किन्तु उनके बचे खुचे नमूने एवं ध्वन्सावशेष तत्कालीन स्थापत्य के गौरवपूर्ण अतीत के साक्षी हैं।

शाही किला

जौनपुर का शाही किला सन् १३६० ई० में फीरोजशाह द्वारा बनवाया गया था जो अब लगभग पूरी तरह क्षत-विक्षत हो चुका है। इसके अवशेष वर्तमान जौनपुर शहर के करारबीर मोहल्ले में स्थित हैं। इसके सामने के शानदार फाटक को मुनीम खाँ ने सुरक्षा की दृष्टि से बनवाया था जिसे नीले-पीले पत्थरों से सजाया गया था। पहला गेट पार करने पर हम दूसरे गेट पर पहुंचते हैं जो आज भी सुरक्षित हैं। फाटक को देख कर ही किले की विशालता का पता चलता है। किले में सभी पत्थर प्रायः हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर लगाये गये थे। इस किले के अन्दर का जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग था, विद्रोह के समय उसे उड़ा दिया गया था। इसके ऊपर से खड़े होकर देखने पर पूरे शहर का दृश्य बड़ा ही मनोरम लगता था।

शाही किले के अन्दर स्थित शानदार हम्माम और मस्जिद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हम्माम को तुर्की शैली में बनाया गया था और इसका उपयोग सम्भवतः स्नान के लिये किया जाता था। गर्म पानी से स्नान करने का इसमें उत्तम प्रबन्ध था। आजकल इसे भूल-भुलइया के रूप में जाना जाता है। स्थानीय लोगों के अनुसार जहाँ पर चोकोर हौज़ बना है, वहाँ सम्भवतः सुरंग थी। हौज़ के पास ही एक पक्का कुआँ भी है जिससे इसे स्नानागार मानने में कोई संकोच नहीं होता। शाही किले में स्थित मस्जिद बरबक द्वारा बनवाई गई थी जिसपर हिन्दू शिल्प कला की छाप दिखलाई पड़ती है। इसकी चौड़ाई २२ फिट और लम्बाई १३० फिट है। मस्जिद के सामने एक ऊँचा स्तम्भ था जो टूट जाने के कारण छोटा हो गया है। ऐसा लगता है कि रोशनी के लिए इसपर चिराग जलाया जाता था।

जामा मस्जिद

जौनपुर की जामा मस्जिद अपनी विशालता के कारण भारत भर में प्रसिद्ध है। इसका निर्माण इब्राहिम शाह ने करवाया था। कहा जाता है कि हज़रत ख्वाजा ईसा को नमाज़ पढ़ने के लिये जिस मस्जिद में जाना पड़ता था वह काफी दूर थी और साथ ही छोटी भी। यद्यपि कुछ इतिहासकार इस मत के हैं कि इसका निर्माण उसके पोते हुसेन शाह ने करवाया था, लेकिन वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। वस्तुतः इसका निर्माण इब्राहिम शाह द्वारा सन् १४३८ ई० में शुरू करवाया था जिसे हुसेन शाह शर्की ने १४७८ ई० में पूरा करवाया।

बड़ी मस्जिद

जौनपुर नगर के पुराने बाजार में स्थित यह विशाल मस्जिद जमीन से लगभग २० फीट की ऊँचाई पर स्थित है। इसके दालान, जो कि २१९ फीट लम्बी और २१७ फीट चौड़ी है, में पहुंचने के लिये ३१ सीढ़ियों को पार करना पड़ता है। सिकन्दर लोदी ने इसके पूर्वी दरवाजे को तोप से उड़वा दिया था। यह मस्जिद चूंकि अटाला मस्जिद से बड़ी है अतः इसे बड़ी मस्जिद नाम से भी जाना जाता है। इसका गुंबद लगभग साढ़े ७२ फीट ऊँचा है जिसकी मोटाई करीब ३ फीट है। मस्जिद की सामने वाली खिड़कियों पर संगतराशी के सुन्दर नमूने प्रस्तुत किये गये है और यहाँ की समान माप तथा बारीक नक्काशी देखने योग्य है। मस्जिद के दक्षिणी फाटक की मेहराब के एक उलटे पत्थर पर संस्कृत में एक छोटा सा लेख है जिसमें आठवीं शताब्दी के मौखरि सम्राट ईश्वरवर्मा के राज्य का जिक्र है। इस मस्जिद की देखरेख का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर है।

मस्जिद के मध्य भाग में एक सुन्दर हौज़ है जो अत्यन्त कलात्मक है। इसके अन्दर एक सुन्दर फौव्वारा है जिसकी बनावट में हिन्दू शैली की छाप स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। उस समय जबकि आज के जैसे यन्त्रों का अभाव था, तीन स्थानों से पानी ऊपर चढ़ कर फौव्वारे के रूप में हौज़ में गिरता था। उस समय की शिल्प कला का यह अद्भुत नमूना माना जा सकता है। हौज़ के किनारे एक सुन्दर धूप घड़ी है जो कभी ठीक समय देती थी। इसके अनेक भाग अब गायब हो चुके है किन्तु देखने में यह आज भी काफी साफ और सुन्दर है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अटाला मस्जिद

अटाला मस्जिद के बारे में स्थानीय लोगों का कहना है कि यह पहले अटल (अटला) देवी का मन्दिर था। गोमती के किनारे सिपाह मुहल्ले के पास आज भी इस नाम का एक घाट है। कन्नौज के राजा विजयचन्द्र ने इसका निर्माण करवाया था। पहले फिरोज शाह ने इस मन्दिर को गिरा देने का हुक्म दिया था। किन्तु हिन्दुओं के विरोध के कारण ऐसा करवाने में वह सफल न हो सका। १३६४ ई० में ख्वाजा कमाल खान ने इसे मस्जिद का रूप देना शुरू किया और १४०८ ई० में इब्राहिम शाह ने इसे पूरा करवाया। मस्जिद की दीवारों पर जो लेख मिलते हैं उनसे मालूम होता है कि इसके निर्माता राजगीर हिन्दू थे क्योंकि हिन्दू मन्दिरों के कुछ प्रतीक स्थान-स्थान पर तराशे गये हैं। जनरल कनिंघम इस मस्जिद को जौनपुर की शर्की शिल्प कला का उत्कृष्टतम नमूना स्वीकार करते हैं। थोड़ी सी छत और फर्श को छोड़कर यह मस्जिद भी प्रस्तर खण्डों से बनाई गयी है। इसके पश्चिमी हिस्से में जो इमारतें बनी हैं उनकी सज्जा अत्यन्त सुन्दर है जो हमें मिस्री मन्दिरों की याद दिलाती है। दीवार के पत्थरों पर जो लेख मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि इसका निर्माण संवत् १३६४ के आस पास हुआ था।

झंझरी मस्जिद

हिन्दू काल में जहां कन्नौज के राजा जयचन्द्र द्वारा बनवाया गया बौद्ध मन्दिर था वहीं पर यह मस्जिद बनवाई गई थी। गोमती में आने वाली बाढ़ों के कारण इसका अधिकांश भाग क्षति ग्रस्त हो चुका है फिर भी पत्थर के ठोस टुकड़ों पर काटी गई अत्यन्त बारीक झंझरी उसकी सुन्दरता को उजागर करती है। झंझरियों की मेहराब और शाही सजावट अद्वितीय है। झंझरी के मध्य में एक शिला-लेख है जिससे पता चलता है कि जिस जगह यह मस्जिद थी वहां अरबी के प्रकाण्ड विद्वान् तथा यूनानी चिकित्सा पद्धति के पारगंत हकीम निवास करते थे।

चार अंगुल की मस्जिद

खालिस मुखलिस अथवा दरीब या चार अंगुल की मस्जिद का निर्माण इब्राहिम शाह के काल में किया गया था। मस्जिद से प्रवेश के लिये सामने की ओर एक बड़ा फाटक लगा हुआ है जिसके ऊपर १० खम्भों के सहारे टंगी एक चपटी छत है जो हिन्दू शैली में बनाई गई है। मस्जिद का ऐसा नाम एक पत्थर के कारण है जो मस्जिद में प्रवेश करते समय बाईं ओर ऊपरी छोर पर लगा है। इस पत्थर की विशेषता इस बात में है कि बच्चा, बूढ़ा या जवान चाहे कोई भी इसे नापे यह चार अंगुल का ही रहता था। यह पत्थर मस्जिद में अब भी है। किन्तु इसकी शक्ति क्षीण हो चुकी है। इसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पवित्र मानते थे। ब्रिटिश शासन काल में किसी अंग्रेज के द्वारा दीवार से निकाल कर देखने कारण इसकी शक्ति नष्ट हुई थी, ऐसा लोगों का कहना है जो सत्य नहीं प्रतीत होता।

इन कलाकृतियों के अतिरिक्त जौनपुर के स्थापत्य में लाल दरवाजा, ईदगाह, शाहीपुल, शेर और हाथी की मूर्तियां मियोंपुर की मस्जिद, शाहीपुल की मस्जिद, बारह दरी, जयचन्द्र का किला, शाह का पंजा आदि कलात्मक नमूने भी यहां के स्थापत्य को प्रकट करते हैं।

यहाँ का शाहीपुल सम्राट अकबर के काल में बनवाया गया था। पुल के निर्माण में, जो नगर को दो भागों में बाँटता है, लगभग १४ लाख से ऊपर को धनराशि खर्च की गई थी। सन् १५६४ ई० से लेकर १५६८ ई० के मध्य यह बनकर तैयार हुआ था। पुल लगभग ७७२ फीट लम्बा और छत्तीस फीट चौड़ा है। इसके दोनों ओर गुम्बद बने हैं जिनमें आजकल रंग-बिरंगी दुकानें सजी हुई दिखलाई पड़ती हैं।

शाहा सेतु पर बनी एक मस्जिद के सामने बनाई गई गजशावकाक्रामक सिंह मूर्ति तत्कालीन शिल्प कला का आश्चर्यजनक नमूना प्रस्तुत करती है। यह मूर्ति अद्भुत एवं भयानक रसों की साक्षात् प्रतिमूर्ति प्रतीत होती है। इसके प्रथम दर्शन से हम इसके विशाल रूप के कारण आश्चर्य चकित होते है तो शीघ्र ही सिंह के भयानक रूप से भयाक्रान्त। शारीरिक संरचना और सौष्ठव की दृष्टि से यह मूर्ति सांची के अशोक स्तम्भ के शीर्ष का बृहद् रूप प्रतीत होती है। इसके प्रत्येक अंग में जो तादात्मय, सामञ्जस्य, एवं संतुलन दिखलाई पड़ता है, वह मौर्य एवं गुप्त कालीन कृतियों में भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दुर्लभ है। सिंह उत्कुटिकासन मुद्रा से स्वाभाविक आक्रामक रूप प्रस्तुत कर रहा है जिसके अगले दो लम्बवत् पैरों के मध्य लघु हरिर्मूर्ति है। अपनी विशालता के कारण यह मूर्ति स्थानीय कृति प्रतीत होती है जो चुनार के बलुए पत्थर से बनाई गयी है। स्थानीय लोकोक्ति के अनुसार इस मूर्ति का सिंह शेरशाह का प्रतीक है और गजशावक हुमायूँ का। वस्तुतः यह मूर्ति हुमायूँ पर शेरशाह की विजय का प्रतीक मानी जाती है।

निष्कर्ष रूप में यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक मध्यकाल में जौनपुर जहाँ राजनीति, शिक्षा एवं साहित्य का महान् केन्द्र बन रहा था वहीं शीराज-ए-हिन्द के नाम से विख्यात सुल्तान इब्राहिम शाह के काल में इसने स्थापत्य कला के विकास के लिए प्रर्याप्त अवसर प्रदान किया। इस युग का यहाँ का स्थानीय स्थापत्य मुस्लिम और हिन्दू शिल्प कला का प्रतीक है। विन्सेन्ट स्मिथ एवं जनरल कनिंघम जैसे इतिहासकारों ने मन्दिरों, मस्जिदों, मकबरों और रौजों के शहर जौनपुर और जफराबाद के ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार किया है। यहाँ पर अनेक ऐसे कलात्मक अवशेष प्राप्त हुए हैं जो काफी पुराने हैं। यदि गहराई से विचार किया जाये तो यह बात ज्ञात होगी कि जौनपुर की ऐतिहासिक इमारतों के निर्माण का जो श्रेय शर्की बादशाहों को दिया जाता है वह वास्तव में राजपूत शासकों द्वारा महल और मन्दिरों के रूप में बहुत पहले ही निर्मित किया जा चुका था क्योंकि यहाँ के हिन्दू मन्दिरों की कलाकृतियों एवं मूर्तियों को मुसलमानों द्वारा जबरदस्ती छीन कर अपने ढंग से काट-छाँट करके मस्जिदों, मकबरों और रौज़ों का रूप दे दिया गया था।

—: ० :—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय वास्तुकला में जौनपुर की भूमिका

रुदल प्रसाद यादव*

जौनपुर जनपद का हृदय पावन पयस्विनी गोमती के अजस्र सलिल प्रवाह से सतत् अभिषिंचित है। इस तपोभूमि की हृदय विशालता प्रारम्भ से ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों एवं परम्पराओं के आत्मसात् करने में सक्षम है। सम्प्रति साम्प्रदायिक उग्रता एवं कुरुपता से समग्र देश ग्रस्त है किन्तु जौनपुर अपने पुरातन आदर्शों, सर्वधर्म समन्वय प्रवृत्ति एवं उदारता के कारण इन विषाक्त क्षणों में भी साम्प्रदायिक सद्भाव का एक अप्रतिम आदर्श है। अनुकरणीय आदर्शों, आचार्यों एवं परम्पराओं के जनक जौनपुर का अतीत कितना दीर्घ है इसका उत्तर कतिपय मध्ययुगीन इतिहासकारों द्वारा भ्रमित कर दिया गया है। अधिकांश इतिहासकार इस मान्यता को स्वीकार करते हैं कि १३६२ ई० में फिरोजशाह तुगलक ने इस नगर की स्थापना मुहम्मद जूना (मुहम्मद तुगलक) के नाम पर की थी। यह नगर मस्जिदों की संख्या, विशालता एवं सुन्दरता की दृष्टि से दिल्ली एवं लखनऊ से भी भव्यतर है। अटाला मस्जिद, जामा मस्जिद, झझरी मस्जिद, लाल दरवाजा मस्जिद, शेर मस्जिद तथा फिरोजशाही दुर्ग शर्की काल के मुख्य वास्तु अवशेष हैं। फर्गुसन तथा पर्सी ब्राउन जैसे वास्तुविदों ने भी इन मस्जिदों के सौन्दर्य एवं वास्तुगत उत्कृष्टता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। शर्की तथा मुगल काल में जौनपुर मस्जिदों के नगर तथा महान् शिक्षा केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

इन भव्य मस्जिदों तथा धार्मिक रूप से किंचित मंदिरों के वास्तुगत विवेचन से एक प्राचीन भारतीय वास्तुकला के विद्यार्थी के समक्ष अनेक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होते हैं—

१—क्या फिरोजशाह तुगलक के पूर्व यहाँ कोई नगर या ग्राम था ?

२—क्या शर्की भवनों या मस्जिदों के निर्माण में हिन्दू मन्दिर वास्तुकला का कोई योगदान था ?

३—फिरोजशाह तुगलक ने जौनपुर को ही अपना राजनैतिक केन्द्र क्यों बनाया ?

यहाँ द्वितीय प्रश्न का ही विवेचन वास्तुगत विशेषताओं के आधार पर किया गया है। जहाँ तक फिरोजशाह के पूर्व जौनपुर की राजनैतिक स्थिति का प्रश्न है, इसका विवेचन डॉ० बीरेन्द्र बहादुर राव ने सम्यक् रूपेण किया है।[1] सैय्यद इकबाल अहमद ने अनेक पुरातन मतों की आलोचना करते हुए यह निष्कर्ष निकला है कि इसके पूर्व जौनपुर एक महत्वहीन साधारण गाँव था।[2] किन्तु डॉ० राव का विवेचन ही सत्य प्रतीत होता है जिन्होंने शर्की सुल्तानों के पूर्व मौखरियों तथा गाहड़-वालों के काल में जौनपुर को एक महत्वपूर्ण राजनैतिक केन्द्र माना है। श्री अहमद का मत पूर्णतः एकपक्षीय है। शर्की इतिहास लेखन में इन्होंने जौनपुर के उत्थान का पूर्ण श्रेय शर्की सुल्तानों को ही प्रदान किया है तथा पुरातन राजनैतिक घटनाओं को विस्मृत कर दिया है। जौनपुर जनपद में प्रचलित दन्तकथाओं में इसे यमदग्नि की तपभूमि कहा गया है जो आज भी यमदग्नि मंदिर से अभिप्रमाणित है। नगर के प्राचीनतम क्षेत्र से उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड के आधार पर भी इसे ६००-५००ई० पूर्व तक जनयुक्त कह सकते हैं। मौखरि ईश्वर-वर्मा का जौनपुर लेख उसे धारा एवं आन्ध्र का विजेता कहता हैं। सम्भवतः जौनपुर क्षेत्र में ईश्वरवर्मा ने अनेक शत्रुओं को पराजित किया। इन शत्रुओं को जौनपुर की आर्थिक सम्पन्नता ने ही आकृष्ट किया होगा। गाहड़वालों के भी कई लेख इस क्षेत्र से उपलब्ध हुए हैं। इनसे शर्की सुल्तातों के पूर्व जौनपुर

---

* प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर।

१. **भारतीय इतिहास संकलन समिति पत्रिका,** अंक २, १९८४, पृ० ५४-५७।

२. **शर्की राज्य जौनपुर का इतिहास,** पृष्ट १०३–११५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नगर के अस्तित्व की निश्चित धारणा स्थापित की जा सकती है। दिल्ली एवं बंगाल के मध्य राजनैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से विकसित इस नगर को फिरोजशाह द्वारा अपने साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बनाना स्वाभाविक ही था।

फिरोजशाह को दुर्ग, अटाला मस्जिद तथा जामा मस्जिद के निर्माण का श्रेय दिया गया है। अनेक मध्ययुगीन इतिहास के लेखकों ने भी जौनपुर के अधिकांश निर्माण कार्यो को शर्की सुल्तानों से सम्बन्धित किया है। यहाँ एक सहज संदेह उत्पन्न होता है कि तुर्कों की जो एक साधारण प्रवृत्ति थी कि वे हिन्दू भवनों को तुर्क भवनों में पारवर्तित करना अपनी धार्मिक विजय मानते थे, क्या जौनपुर में इस प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति नहीं हुई? सर्वत्र मंदिरों को ध्वस्त करने में गौर-वान्वित अनुभव करने वाले मुस्लिम शासकों की धर्मान्धता क्या जौनपुर में उदारता में परिणत हो गई थी? इन प्रश्नों का सम्यक् समाधान जौनपुर दुर्ग एवं अटाला मस्जिद की वास्तुगत विशेषताओं के आधार पर किया जा सकता है।

जौनपुर दुर्ग

जौनपुर का लघु दुर्ग अपनी प्राचीनता एवं निर्माण शैली के लिए विख्यात है। इसके निर्माण का श्रेय १३६३ ई० में फिरोजशाह तुगलक को दिया जाता है। यह दुर्ग आज जीर्णा-वस्था में है। दुर्ग के अभ्यन्तर भाग में मात्र एक मस्जिद तथा एक तुर्की स्नानागार अवशिष्ट है। इसका निर्माण चुनार के बलुए पाषाणखण्डों से हुआ है। इस दुर्ग में यत्र-तत्र कुछ टीले हैं जो अपने उदर में अनेक पुरावशेष समाहित किये हुए हैं। इसके समीप ही करारवीर का मन्दिर है। करारवीर भर जाति का आराध्य देव है। भरों ने यहाँ राजपूतों के युग में सामान्त के रूप में शासन किया था। ईश्वरवर्मा के जौनपुर लेख से ज्ञात होता है कि उसने इसी के समीप आन्ध्र एवं धारा के आक्रामक शासकों को पराजित किया था। ईश्वरवर्मा उदीयमान मौखरि नरेश था जो गुप्त सम्राट विष्णुगुप्त का सामन्त था। विष्णुगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ही मौखरियों ने मगध को अधिकृत करने का प्रयास किया। कन्नौज से मगध मार्ग में जौनपुर एक महत्वपूर्ण आश्रय स्थल था। क्या यह सम्भव नहीं है कि मगध पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से मौखरियों ने जौनपुर में सैनिक शिविर की स्थापना की हो। संभवतः यह मौखरियों की राजनीतिक दूरदर्शिता ही थी कि उन्होंने जौनपुर में स्थायी सैनिक छावनी एवं दुर्ग का निर्माण कराया हो तथा यहाँ से मगध पर आक्रमण किया हो। जौनपुर के समीप ही जमैथा, बदलापुर तथा जफराबाद से दुर्गों के अवशेष प्राप्त होते हैं। चुनार से पाषाण यहाँ सरलता पूर्वक उपलब्ध थे। संभव है कि सुरक्षात्मक एवं सामरिक दृष्टि से मौखरि ईश्वरवर्मा ने ही यहाँ एक लघु दुर्ग का निर्माण कराया हो।

इस दुर्ग के निर्माण की शैली यादव नरेश रामचन्द्र के दौलता-बाद दुर्ग से साम्य रखती है। यह लघु दुर्ग हिन्दू परम्परा के दुर्गों का ही प्रतिनिधित्व करता है। जौनपुर शर्की सुल्तानों का प्रधान राजनैतिक केन्द्र था। उनके लिए यहाँ से बंगाल तक शासन करना सरल था। यदि यह दुर्ग शर्की सुल्तानों के काल में पूर्णतः निर्मित हुआ होता तो निश्चय ही इसका स्वरूप विशालतर होता। यह मात्र एक छावनी दुर्ग ही प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरवर्मा ने यहाँ स्थायी सैनिक शिविर स्थापित किया एवं दुर्ग का भी शिलान्यास किया जो उसके उत्तराधिकारियों के काल में पूर्ण हुआ। भर शासकों ने ही इस दुर्ग का परिवर्धन किया तथा गाहड़वालों ने इसे अधिकृत कर अपनी सेना को आश्रय प्रदान किया। यद्यपि जफराबाद में भी गाहड़वालों की सेना रहती थी तथा यह संदेह भी व्यक्त किया जा सकता है कि इतने लघु अन्तराल पर दो सैनिक शिविरों की क्या आवश्यकता थी? रणनीति की दृष्टि से ऐसे सैनिक अड्डे सफल माने जाते हैं। शत्रुओं को धोखा देने तथा आत्म सुरक्षा की दृष्टि से इतने अन्तराल पर दो अड्डों को अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार जौनपुर दुर्ग का निर्माण मूलतः मौखरियों के काल में संभावित था। बाद में जब फिरोजशाह ने अधिकृत किया था तथा इसे अपना केन्द्र बनाया तो उसने अपनी आवश्य-कतानुसार दुर्ग के अन्तः भाग में स्नानागार एवं मस्जिद का निर्माण कराया। इसी से आज भ्रमवश इसे शर्की सुल्तानों से सम्बन्धित किया जाता है। दुर्ग के प्राचीर निश्चित रूपेण शैली एवं शिलाखण्डों की दृष्टि से स्नानागार एवं मस्जिद से प्राचीनतर प्रतीत होते हैं। निष्कर्षतः इस दुर्ग को यदि मौखरियों से सम्बद्ध किया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अटाला मस्जिद

अधिकांश इतिहासकारों की यह धारणा है कि अटाला-मस्जिद का शिलान्यास १३६३ ई० में फिरोजशाह ने किया तथा १४०८ ई० में इब्राहिमशाह शर्की के काल में यह पूर्ण हुआ। इस मस्जिद के सम्बन्ध में अनेक दन्त कथाएँ प्रचलित हैं। लेकिन अनेक मुस्लिम इतिहासकारों ने भी इसे मूलतः हिन्दू मन्दिर माना है। मौलवी खैरूद्दीन[1] ने इसका मूलनाम 'देवल अटाला' बताया है। इनका अनुमान है कि जयचन्द ने यहाँ एक मन्दिर का निर्माण कराया था तथा उसमें अटाला देवी की मूर्ति स्थापित की। मौलवी नूरूद्दीन जैदी[2] का भी अनुमान है कि यहाँ ११५९ ई० में गाहड़वाल विजयचन्द्र के काल में अटालादेवी के मन्दिर का निर्माण हुआ था। जब फिरोजशाह ने दुर्ग का निर्माण कराया तो उसकी दृष्टि इस मन्दिर पर पड़ी। उसने इस मन्दिर को मस्जिद में परिवर्तित करने का आदेश दिया। किन्तु हिन्दू जनता के प्रतिरोध के कारण मात्र अर्धभाग ही परिवर्तित किया जा सका। कुछ समय तक यह मन्दिर-मस्जिद के रूप में विद्यमान रहा किन्तु अन्ततः इब्राहिमशाह ने इसे पूर्णतः मस्जिद के रूप में परिणत करा दिया। इसी प्रकार खान बहादुर फसीहुद्दीन[3] तथा मौलवी नजीरूद्दीन जैदी[4] ने भी इसे गाहड़वालों से सम्बद्ध किया है। दूसरी ओर सैयद इकबाल अहमद ने उपर्युक्त मतों को आधारहीन एवं अनैतिहासिक कहा है।[5] सैयद अहमद का यह भी अनुमान है कि यदि जौनपुर में गाहड़वालों का कोई मन्दिर होता तो गौरी ने उसे भी ध्वस्त किया होता। किसी भी मुस्लिम इतिहासकार ने इस तथ्य का संकेत नहीं किया है। विजयचन्द्र या जयचन्द्र द्वारा निर्मित जौनपुर में किसी मन्दिर का उल्लेख साहित्य में भी उपलब्ध नही होता।

इकबाल अहमद के उपर्युक्त मत वाह्यतः अत्यन्त ही युक्तिसङ्गत प्रतीत होते हैं। किन्तु किंचित सहज प्रश्न भी हृदय को उद्वेलित करते हैं। क्या समकालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने मुस्लिम आक्रामकों द्वारा हिन्दू मन्दिरों की विनाश-लीला का सत्य चित्रण किया है। फिरोजशाह तथा इब्राहिम क्या इतने उदार थे कि हिन्दू मन्दिरों पर कोई आघात न पहुँचाते? क्या यह सम्भव नही है कि विजयचन्द्र ने जिस मन्दिर का श्रीगणेश किया हो जयचन्द्र ने उसे पूर्णता प्रदान की हो तथा इसीलिए जयचन्द्र तथा विजयचन्द्र दोनों को मंदिर निर्माण का श्रेय दिया गया है। विद्यापति ने जौनपुर के विशाल स्वर्णकलश युक्त मन्दिरों एवं मूर्तियों का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे जौनपुर में किसी विशाल मन्दिर का ही संकेत प्राप्त होता है। विशालता की दृष्टि से सहज ही ध्यान अटाला मस्जिद की ओर आकृष्ट होता है। जफराबाद जौनपुर का अंचलीय स्थल है जहाँ विजयचन्द्र एवं जयचन्द्र की कृतियों के साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध हैं। इसे ही साहित्य में मनइच कहा गया है। जौनपुर तथा जफराबाद के मध्य की दूरी नगण्य है। जफराबाद का विवरण जौनपुर के विवरण से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जौनपुर का गाहड़वाल युगीन साहित्य में कोई संकेत ही नहीं है।

वास्तव में साहित्यिक साक्ष्य की अपेक्षा अटाला मस्जिद की वास्तुगत विशेषताएँ ही उसे मन्दिर प्रमाणित करने में पूर्णतः सक्षम हैं। फसीहुद्दीन, पर्सी ब्राऊन तथा त्रिपाठी आदि विद्वानों ने इसे एक अप्रतिम मस्जिद कहा है जिसमें हिन्दू तथा मुस्लिम कला का अद्भुत सङ्गम है। १९७३ ई० में प्रो० बौशम ने इस मस्जिद में प्रविष्ट होते हो यह संदेह व्यक्त किया था कि कहीं यह मूलतः मन्दिर तो नहीं था? मस्जिद में हम जैसे ही प्रविष्ट होते हैं सहसा अजन्ता एवं एलोरा के बौद्ध विहार स्मृति पटल पर नृत्य करने लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ एलोरा-अजन्ता में एक ही शैलखंड को काट एवं तराशकर विहारों का निर्माण किया गया है वहीं विशाल शिलाखंडों से इस संरचना का निर्माण किया गया है। प्रवेश द्वार भाजा एवं कार्ले चैत्यगृहों के अनुकरण पर बने हैं। महायान युगीन बौद्ध विहारों में पृष्ठभाग की दीवार से सटे विशाल

---

१. **जौनपुरनामा**, द्वियीय सं०, पृ० ४२।
२. **तजलि-ए-नूर**, भाग ३, पृ० १८२-१८३।
३. **जौनपुर गजेटियर**।
४. **तारीख-ए- जौनपुर**।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतिमा स्थापित करने की परम्परा थी। स्तम्भों से प्रदक्षिणा-पथ का निर्माण किया जाता था। पूर्णतः उसी रूप में इस मस्जिद के पश्चिमी दीवार में गर्भगृह तथा विशाल स्तम्भों से निर्मित प्रदक्षिणा-पथ का रूप है। मध्य में विशाल आयताकार प्रांगण है। उसके चतुर्दिक् द्विभूमिक कक्ष बने हैं। ऐसे अनेक विहार एलोरा-अजंता में दर्शनीय हैं। गर्भगृह के ऊपर गुम्बद इत्यादि परवर्ती कृतियाँ प्रतीत होती हैं। स्तम्भों तथा अन्तः छत में पवित्र बौद्ध पद्मपुष्प निर्मित हैं। कहीं यह मूलतः बौद्ध विहार तो नहीं था ?

सारनाथ के समीप जौनपुर बौद्ध धर्म एवं दर्शन से उच्छिष्ट रहा हो यह सम्भव नहीं है। जब यमदग्नि शान्ति एवं नीरवता के लिए इस क्षेत्र में आश्रम स्थापित कर सकते हैं तो शांति एवं निर्जनता के परम आकांक्षी बौद्धों ने तो इसे अपेक्षा कृत अधिक महत्त्व दिया होगा। शान्ति के लिये ही तो बौद्ध भिक्षुओं ने अथक एवं अवर्ण्य परिश्रम से गिरि कन्दराओं को स्वयं उत्कीर्ण कर उनमें निर्विघ्न ध्यान् करना प्रारम्भ किया। सम्भवतः जौनपुर की वन्य भूमि ने शांति के अन्वेषक बौद्धों को आकृष्ट किया हो तथा यहां कोई भिक्षु समुदाय निवास करने लगा हो। मनइच (जफराबाद) में बौद्ध विहारों एवं बौद्ध भिक्षुओं के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। जौनपुर में अनेक स्थलों के नाम बौद्ध धर्मानुप्राणित हैं जैसे—पाली (पल्ली), केराकत (कीर्टागिरि), मछलीशहर (मच्छिकासंड), गभीरन तथा पिलकिछा इत्यादि। ये नाम जातकों में भी उपलब्ध होते हैं। इनसे प्रारम्भ में जौनपुर को एक बौद्ध केन्द्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। सम्भव है कि किसी बौद्ध शासक या भिक्षुओं ने ही यहाँ विशाल महायान बौद्ध विहार का निर्माण किया हो जो आज अटाला मस्जिद के रूप में विद्यमान है। इस विहार की रचना हर्ष के पूर्व ही हुई होगी।

हर्षोत्तरयुग में बौद्ध धर्म विघटित होने लगा तथा अन्ततः शंकराचार्य ने उसपर विशेष कुठाराघात किया। फलतः अनेक बौद्ध मंदिर ब्राह्मण मंदिरों में परिवर्तित होने लगे। सम्भवतः बाद में जौनपुर के बौद्ध विहार में हिन्दुओं ने अटालादेवी की मूर्ति स्थापित की तथा तभी से यह 'देवल अटाला' या अटाला देवी का मन्दिर के रूप में प्रख्यात हुआ। यह परिवर्तन गाहड़वालों के युग में स्वीकार किया जा सकता है।

इस प्रकार दुर्ग एवं अटाला मस्जिद के वास्तुविधान से निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मौखरियों तथा गाहड़वालों के काल से ही जौनपुर राजनैतिक आकर्षण का केन्द्र बना रहा और उसी समय दुर्ग एवं मन्दिर का स्वरूप निर्धारित हुआ। किन्तु दुर्भाग्य से इनका मूल रूप पूर्णतः परिवर्तित है तथा आज यह शर्की वास्तुकृति के रूप में प्रख्यात है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तुर्कपट्टी महुंअवाँ (सूर्यपुरी, देवरिया) की सूर्य प्रतिमाएँ तथा सूर्य मन्दिर : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

शशिबाला श्रीवास्तव*

(फलक २. क-ख)

प्राचीन काल से ही उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग इतिहास की क्रीड़ास्थली रहा है। इस क्षेत्र के प्रत्येक भाग में इतिहास के साक्षी स्थल और अवशेष बिखरे हुए हैं। इस क्षेत्र के देवरिया जनपद में कितने ही स्थानों से पुरावशेष उपलब्ध हुए हैं। विश्वविश्रुत बौद्ध धर्म का महानतीर्थ कुशीनगर, ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध फाजिलनगर (पावानगर) एवं जैनधर्म का द्योतन करता हुआ कहाँव स्थल सर्व विदित था। यह सम्पूर्ण जनपद भारत के तीनों प्रमुख धर्मों का आश्रय स्थल था। जनपद के पुरातात्विक वैभव की कड़ी में नवीन स्थल तुर्कपट्टी महुंअवाँ (सूर्यपुरी)[1] है। यह ग्राम कुशीनगर से १८ कि० मी० पूर्व में तमकुही मार्ग पर स्थित है। यहां १९८१ में एक टीले[2] का उत्खनन किया गया जिसमें से दो सूर्य प्रतिमाएँ उपलब्ध हुईं।

उत्खनन के पृष्ठभूमि में एक रोचक तथ्य उल्लेखनीय है। स्थानीय जनों के अनुसार 'मारी योगी टीला' की संज्ञा से ज्ञेय उक्त टीले पर लगभग पांच-छः वर्षों से एक सुदामाशर्मा नामक लौहकार घर बनाकर निवास करते थे। परन्तु दिन प्रतिदिन उनका जीवन कष्टमय होता जा रहा था और वे आर्थिक दृष्टि से विपन्न होते जा रहे थे। यही नहीं, उनके परिवार के तीन सदस्य काल-कवलित भी हो गये। ऐसी सङ्कट की स्थिति में ३० जुलाई १९८१ की रात्रि में उन्होंने स्वप्न में देखा कि जिस टीले के ऊपर उनका गृह निर्मित है उसके नीचे देव प्रतिमाएँ दबी पड़ी हैं। उन्हें यह भी बोध हुआ कि यदि उन प्रतिमाओं का टीले के नीचे से उद्धार न हुआ तो उनका संपूर्ण परिवार विनष्ट हो जायगा। तत्काल दूसरे ही दिन अर्थात् ३१ जुलाई को स्वप्न की बात जानकर ग्राम के वरिष्ठ एवं वृद्धजनों ने उस स्थल का उत्खनन कराया। परिणामस्वरूप विवेचित सूर्य प्रतिमाएँ तथा एक अलंकृत तोरण और अन्य बहुत सी सामग्रियां उपलब्ध हुईं। यहीं सूर्य मन्दिर का अवशेष उपलब्ध हुआ जो अपने वास्तुयोजना में भारत के समस्त सूर्य मन्दिरों में एकाकी है। स्थानीय जनों ने शाही परिवार (स्थल के जमींदार) के कुलदीपक श्रीनारायण शाही के नेतृत्व में मूर्ति को अत्यन्त श्रद्धा भाव से पुर्नस्थापित किया है। प्रतिमा को सुरक्षा हेतु काँच के द्वारा आवेष्टित कर विद्युत आदि से सुसज्जित कर दिया गया है। सर्वाधिक उल्लेखनीय रूप नवनिर्मित मन्दिर का है। कतिपय स्तम्भों पर तृणाच्छादित कोणाकार शिखर मन्दिर निर्माण प्रक्रिया के शैशव कालीन अवस्था का स्मरण कराता है।[3]

* हाता महादेव प्रसाद, गुरुद्वारा के समीप, धर्मशाला बाजार, गोरखपुर।

१. उल्लेखनीय है कि सूर्यषष्ठी के अवसर पर आयोजित संगोष्ठी में डॉ० शैलनाथ चतुर्वेदी (रीडर, प्राचीन इतिहास विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय) ने अपने वक्तव्य में इस स्थल को तुर्कपट्टी के स्थान पर सूर्यपुरी के नाम से अभिहित करने की इच्छा प्रकट की थी जो स्थल के सौर सम्प्रदाय से निकटतम संबन्ध को स्वयमेव व्यक्त कर देगा।

२. अभी तुर्कपट्टी के दो टीले शेष हैं जिनके उत्खनन की आवश्यकता है।

३. औदुम्बर घरघोष के सिक्के पर उत्कीर्ण मन्दिर के शिखर का रूप इससे तुलनीय है। (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध **वास्तु शास्त्रीय सन्दर्भ में देव मूर्तियों का अध्ययन**, अ०-१, डॉ० श्रीमती शशिबाला श्रीवास्तव; **रूपमण्डन**, अ० २, श्लोक १८, वृ० सं० अ० ५७/४६-४७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस स्थल पर दो सूर्य प्रतिमाएँ उपलब्ध हुईं, एक कृष्ण पाषाण (black stone) निर्मित तथा दूसरी बालुका पाषाण (sand stone) द्वारा निर्मित है। दोनों प्रतिमाओं में द्विभुजी देवता सप्ताश्व रथ पर स्थानक समभङ्ग मुद्रा में स्थित हैं। उनके करों में पूर्ण विकसित सनाल पद्म है जो उत्तर भारतीय परम्परा का उद्वहन करता हुआ देवता के स्कन्धों तक उठा है। स्मित मुद्रा से युक्त आदित्य किरीट, हार, कङ्कण, भुजबन्द, वर्म एवं यज्ञोपवीत धारण किए हैं। चरणों में उपानह (पनही) भी द्रष्टव्य है। आदित्य के दक्षिण पार्श्व में द्विभुजी पिंगल एवं वाम पार्श्व में दण्ड अपने आयुधों से युक्त विभङ्ग मुद्रा में स्थित हैं। इनके पार्श्व में सूर्य की दो पत्नियां राज्ञी एवं निक्षुभा भी स्थित हैं। देवता के चरणों के समीप पंगु सारथि अरुण अश्वों की रश्ना थामे प्रदर्शित हैं। इनके पृष्ठभाग में महाश्वेता स्थानक मुद्रा में स्थित हैं। **(फलक २. क)**। द्वितीय मूर्ति की पीठिका में ऊषा एवं प्रत्यूषा भी शर संधान करती हुई प्रदर्शित है। प्रभावली में आकाशचारी मालाधारी विद्याधर, आकृतियों के मध्य कीर्ति-भाव प्रदर्शित हैं एवं नीचे की ओर खजुराहो एवं भुवनेश्वर मन्दिरों की शार्दूल एवं व्याल सदृश काल्पनिक आकृतियां उत्कीर्ण की गई हैं। **(फलक २. ख)**

उपलब्ध तोरण के दोनों पार्श्ववर्ती रथिकाओं में द्विभुजी भास्कर पद्मासन मुद्रा में ध्यानावस्थित हैं। वे सर्वाभरण विभूषित हैं उनके मुखमण्डल पर सम्पूर्ण संसार को तोष देने वाली असीम शान्ति व्याप्त है।

उपर्युक्त मूर्तियां अपने विकसित प्रतिमाशास्त्र की दृष्टि से वृहतसंहिता, रूपमण्डन, विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं विश्वकर्माशिल्प के नियमानुसार निर्मित हैं। रूपमण्डन में उल्लिखित है—

सर्वलक्षण संयुक्त सर्वाभरण भूषिताम्।
द्विभुजं चैक मुखं च श्वेत पद्माधृतकरम्॥

अर्थात् सर्वलक्षणों से युक्त, सर्वाभरण विभूषित, द्विभुज सूर्य एक मुखवाले हों तथा श्वेत पद्म धारण किए हुए निर्मित हों। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी लगभग ऐसा ही उल्लेख है। विश्वकर्माशिल्प में भी सूर्य प्रतिमा का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। इस ग्रन्थ के अनुसार द्विभुज, पद्मधारी, सर्वाभरण अलंकृत सूर्य-देव के साथ उनकी पत्नियां राज्ञी एवं निक्षुभा तथा पार्षद दण्ड एवं पिंगल को प्रदर्शित करने का वर्णन है। वे सब लोकों को प्रकाश देने वाले हैं—**सदीप्यमान वपुसर्वलोकैकदीपम्।**

उपर्युक्त दोनों प्रतिमाओं के प्रदर्शन में इस ग्रन्थ के नियमों का अधिकांशतः पालन हुआ है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में सूर्य देवता के पार्श्व में दण्ड एवं पिंगल को भी निर्मित करने का वर्णन है।[२] विश्वकर्माशिल्प, मत्स्य पुराण, भविष्य पुराण आदि ग्रन्थों में भी सूर्य के पार्षदों दंड एवं पिंगल को उनके साथ निर्मित करने का निर्देश है। अतः उपर्युक्त मूर्ति के प्रदर्शन में इन शास्त्रों का नियम व्यवहृत हुआ है।

उपर्युक्त एक मूर्ति में सूर्य देव के दोनों पार्श्व में ऊषा एवं प्रत्यूषा का भी अङ्कन किया गया है। इनके प्रदर्शन में अंशुभद्र भेदागम के नियम का पालन हुआ है।[३] भविष्य पुराण के अनुसार अश्विनी देवता भी बनने चाहिए। इस ग्रन्थ में राज्ञी तथा निक्षुभा को वायु या भूमि का प्रतीक माना गया है।[४]

उपर्युक्त मूर्तियां अपने प्रतिमा-लक्षण की दृष्टि से उत्तर भारत के प्रायः समस्त मन्दिर समूहों में उपलब्ध सूर्य मूर्तियों से साम्य रखती हैं। चार अश्वों पर आरूढ़ सूर्य के साथ उनके उषा-प्रत्यूषा की मूर्तियों का प्रदर्शन बोधगया[५] अनन्तगुम्फा,[६] चन्द्रकेतुगढ़,[७] एलोरा[८] आदि की मूर्तियों में

१. बद्रीनाथ मालवीय, **वि० ध० पु०**, अ०, २१।
२. तदैव।
३. *EHI*, Vol. I. Pl. I.
४. **वही**, पृ० ३०५।
५. L. P. Pandey, *Sun Worship in Ancient India*, pl. fig 1. p 691.
६. **वही**, फलक ५, चित्र २।
७. **वही**, फलक ४, चित्र २।
८. *EHI*, Vol. I, Part II, pl. LXXX VIII, fig 2, pl. 313.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ है। यहाँ ऊषा-प्रत्यूषा शर संधान द्वारा अन्धकार का विनाश करती हुई प्रदर्शित की गई हैं। यही नहीं अन्धकार के प्रतीक कतिपय असुर आकृतियों का भी सूर्य के रथ द्वारा दलित होते हुए अङ्कित किया गया है। ये सभी प्रतिमाएँ प्रायः शुंग कालीन हैं, जिनके तत्व आगे की मूर्तियों में अनुपलब्ध हैं। भास्कर के साथ सात अश्वों, सारथि अरुण, उनके पार्षद दंड-पिंगल एवं पत्नियों राज्ञी, निक्षुभा आदि का प्रदर्शन मथुरा संग्रहालय से प्राप्त बहुसंख्यक मूर्तियों,[१] पटना संग्रहालय की मूर्ति,[२] भेलूपुर थाना वाराणसी[३] की सूर्य मूर्ति, लाला भगत की सूर्य मूर्ति आदि में द्रष्टव्य है।[४]

भास्कर के सम्मुख महाश्वेता अथवा भू-देवी का अङ्कन, म० प्र० चांदा की सूर्य मूर्ति जिन्हें 'मार्कण्ड सूर्य' की संज्ञा दी गई है,[५] के साथ तथा पटना संग्रहालय की मूर्ति,[६] खजुराहो स्थित जवारी मन्दिर की सूर्य मूर्ति में हुआ है। ओसियाँ की प्रायः समस्त सूर्य प्रतिमाओं के साथ उनके पार्षद दंड-पिंगल को निर्मित किया गया है। इसी प्रकार सूर्य के साथ ऊषा-प्रत्यूषा का अत्यन्त सजीव अङ्कन भुवनेश्वर स्थित वैताल देउल की पूर्वी राहा के चैत्य झरोखे में हुआ है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि विवेचित सूर्य मूर्तियाँ अपने पार्श्व अङ्कन की दृष्टि से सम्पूर्ण उत्तरी भारत की सूर्य प्रतिमाओं से तुलनीय हैं।

उपलब्ध दोनों मूर्तियों का काल निर्धारण करना समीचीन प्रतीत होता है। सूर्य मूर्तियों के विकास क्रम का सूक्ष्म अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि उनके साथ चार अश्वों, अरूण अव्यङ्ग (Avionghan) तथा दो स्त्री मूर्तियों का अङ्कन कुषाण युग से पूर्व ही प्रचलित हो गया था। कुषाण कलाकारों ने उनके करों में पद्म (पूर्ण विकसित सनाल पद्म) का प्रदर्शन करना प्रारम्भ किया।[७] उपर्युक्त विवेचित शुंग-कालीन मूर्तियों में भी यही तत्व उपलब्ध हैं।

विकास के द्वितीय चरण में भास्कर के साथ उनके सप्ताश्व रथ, किरीट, कुण्डल, पाषर्द दण्ड-पिंगल आदि तत्वों का समावेश परवर्ती युग में अर्थात् दूसरी शती में अथवा गुप्त-काल में हुआ।[८] भूमरा शिव मन्दिर के चैत्य में सूर्य मूर्ति अङ्कित है उसमें उनके साथ दण्ड-पिंगल आदि का निर्माण किया गया है।[९] इसी प्रकार भीटासील पर 'भगवतो आदित्स्य' लेख प्रारम्भिक गुप्त कालीन अक्षरों में है। इसपर अङ्कित मूर्ति की पीठिका में सात अश्वों की मूर्तियाँ बनी हैं।[१०] परवर्ती गुप्तों के शासन काल की देवबरणार्क से उपलब्ध भास्कर प्रतिमा में उपरिवर्णित समस्त पार्श्व अङ्कन उपस्थित हैं। यह प्रतिमा जीवितगुप्त द्वितीय के समय की है। इस पर अङ्कित अभिलेख में सूर्यदेव को 'वरूण वास' की संज्ञाओं से अभिहित किया गया है।[११]

विकास के अगले चरण में उनके वस्त्रालंकार पर विशेष ध्यान दिया गया। परवर्ती गुप्त युग से ही उनके यज्ञोपवीत तथा अलंकृत प्रभा मण्डल का प्रदर्शन होने लगा था यह तथ्य रानू-पिपली की सूर्य प्रतिमा पद्रा तालुका बरौडा में दृश्य है। प्रतिहारकालीन अर्थात् नवीं शताब्दी की आसन मुद्रा में उत्कीर्ण सूर्य प्रतिमाओं में पद्म पंखुड़ियों से अलंकृत प्रभामण्डल का

---

१. *Sun Worship in Ancient India*, p. 193.
२. **वही**, फलक ९०।
३. **वही**, फलक ९, चित्र १।
४. **वही**, पृ० ७०, वैर हट्ट दीनाजपुर की मूर्ति में भी ये सभी तत्व हैं। बनर्जी, *DHI.*, p. 440.
५. *Sun Worship in Ancient India* p. 123.
६. **वही**, फलक ८, चित्र २।
७. **वही**, पृ० ७७।
८. **वही**, पृ० ७०, (fn.)।
९. **वही**, पृ० ८५।
१०. **वही**, पृ० १९३।
११. **वही**, पृ० २१३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रदर्शन हुआ है।[१] विकासक्रम में अगला क्रांतिकारी योगदान महाश्वेता अथवा भूदेवी का सूर्य देव के चरणों के समीप अरुण के पृष्ठ में अङ्कन था। ये तत्व पटना संग्रहालय में सुरक्षित सूर्य प्रतिमा में दृश्य हैं।

इस युग में निर्मित सूर्य प्रतिमाओं के मुख मण्डल पर अद्वितीय दैवी आभा विद्यमान है। उनकी उकेरी अत्यन्त गहरी है और वे शिल्पी को उच्चतम प्रतिमान को द्योतित करती हैं।

विकास की चरम अवस्था में अर्थात् पाल एवं सेन युग की सूर्य मूर्तियों में अन्य तत्वों का भी समावेश हो गया। अब देवता के शीर्ष के चतुर्दिक् निर्मित अलंकृत प्रभामण्डल के मध्य (देवता के शीर्ष के ठीक ऊपर) कीर्तिमुख का अलंकरण भी होने लगा। ध्यातव्य है कि तुर्कपट्टी की कृष्ण पाषाण सूर्य प्रतिमा के प्रभामण्डल में भी यह तत्व विद्यमान है (फ० २.ख)। इस युग की सूर्य मूर्तियों में उनकी चारों पत्नियाँ राज्ञी, निक्षुभा, छाया सुवर्चसा तथा महाश्वेता अथवा भू देवी भी सम्मिलित हो गई। इस प्रकार शिल्प शास्त्र के सम्पूर्ण नियमों का अक्षरशः पालन इन प्रतिमाओं में हुआ है।[२]

इसी संदर्भ में उल्लेखनीय है कि इसी पूर्वांचल के बस्ती जिले में कृष्ण पाषाण निर्मित एक अन्य सूर्य मूर्ति उपलब्ध हुई है[३] जिसमें उपर्युक्त तत्वों के साथ ही अश्विनी कुमारों को भी प्रदर्शित किया गया है। यह तत्व चरमावस्था में सम्मिलित किया गया था जिसका उदाहरण पंजाब में हिसार जिले में हांसी में उपलब्ध सूर्य मूर्ति तथा खजुराहो में प्रदर्शित सूर्य मूर्तियों में हैं। कतिपय सूर्य मूर्तियों के क्रमिक विकास पर तर्कपूर्ण दृष्टिपात करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि तुर्कपट्टी में उपलब्ध दोनों सूर्य मूर्तियों में विकास क्रम के चरमावस्था में व्यवहृत समस्त तत्व विद्यमान हैं। अतः निःसन्देह ये प्रतिमाएँ नवीं एवं दसवीं शताब्दी की कृतियाँ हैं। यद्यपि इनकी तिथि को और पहले रखने का प्रयास किया गया है।

विवेचित दोनों सूर्य प्रतिमाओं के अतिरिक्त एक भव्य एवं अलंकृत तोरण भी उपलब्ध हुआ है जो निश्चय ही उन मूल मन्दिरों के समीप स्थलों पर रहा होगा। उसके दोनों पार्श्ववर्ती रथिकाओं में द्विभुजी आदित्य पद्मासन मुद्रा में ध्यानावस्थित हैं। उल्लेखनीय है कि यह तोरण अवश्य ही मूल मन्दिर के सम्मुख स्थापित रहा होगा जैसा कि खजुराहो के लक्ष्मण मन्दिर, कन्दरिया विश्वनाथ आदि मन्दिरों में अर्ध मंडप के सम्मुख निर्मित है। इतना ही नहीं भुवनेश्वर स्थित मुक्तेश्वर मन्दिर के सम्मुख भी एक अत्यन्त अलंकृत तोरण द्वार स्थापित है। तोरण द्वार मंदिर का मुख्य प्रवेश द्वार होता है। सूर्य मन्दिर के सम्मुख निर्मित तोरण द्वार के प्रमुख रथिकाओं में सूर्यदेव को स्थापित करना सर्वथा न्यायसङ्गत है, इस परम्परा का पालन अनेक स्थानों पर हुआ है। खजुराहो के प्रसिद्ध सौर मन्दिर चित्रगुप्त के गर्भगृह के द्वार पर उत्तरङ्ग में पार्श्ववर्ती तथा मध्य की तीनों रथिकाओं में सूर्य देव प्रदर्शित हैं।[४] भारत के अनेक स्थलों से इस परम्परा के प्रमाण उपलब्ध होते हैं यथा कुम्राहार से उपलब्ध उत्तरङ्ग पर सूर्य मूर्ति अंकित है।[५] इसी प्रकार गौरा प्रतापगढ़ में (तुरहिन, बिहार से ढाई मील दूर) मन्दिर के उत्खनन में उत्तरङ्ग एवं द्वारपार्श्व के अंश मिले हैं। यहाँ भी उत्तरङ्ग के मध्य में सात अश्व युक्त सूर्य अंकित है। यह मन्दिर नवीं-दशवीं शती का है।[६]

ये सभी उदाहरण इस क्षेत्र में सूर्य मन्दिर की उपस्थिति का तो बोध कराते ही हैं साथ ही उत्तर भारतीय ग्रन्थ प्रासादमण्डन में उल्लिखित उस सार्वदेशिक नियम का भी उद्वहन कर रहे हैं, जिसके अनुसार जिस देवता का मन्दिर

---

१. **वही**, पृ० ८९।

२. **वही**, पृ० ९२, फलक १०, चित्र १ व २।

३. यह मूर्ति अभी अप्रकाशित एवं अविवेचित है।

४. यहाँ के लक्ष्मण मन्दिर के दक्षिण पश्चिमी गौण मन्दिर, जो सौर मन्दिर है, के द्वार उत्तरङ्ग पर भी सूर्य स्थापित है।

५. *Sun Worship in Ancient India* pl. 211.

६. **वही**, फलक १९८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो उसके उत्तरंग पर उसी देवता को स्थापित करने का निर्देश है :-

यस्य देवस्य या मूर्तिः सैव कार्योत्तिरंगके ।

अ० ३, श्लोक ६८.

उत्तर भारतीय मन्दिरों का सर्वेक्षण करने पर यह सत्य पूर्ण रुपेण उद्घाटित होता है कि यहाँ खजुराहो, देवगढ़ (दशावतार मन्दिर), ओसियाँ के प्रायः सभी मन्दिर एवं उड़ीसा में भुवनेश्वर के कतिपय मन्दिरों में इस नियम का पालन करते हुए वैष्णव मन्दिर के उत्तरंग पर विष्णु, शैव के शिव एवं सौर मन्दिरों के उत्तरंग पर सूर्य स्थापित किये गये हैं। अर्थात् इस सार्वदेशिक नियम का गुप्तकाल से प्रारम्भ कर मध्ययुगीन प्रमुख मन्दिर-समूहों तक में अनिवार्यतः पालन किया गया है। उसी कड़ी में तुर्कपट्टी का उपर्युक्त विवेचित मन्दिर का तोरण द्वार (उत्तरंग) भी आ जाता है।

इन समस्त तथ्यों के उद्घाटन के पश्चात् अत्यन्त महत्वपूर्ण बात स्थल पर उपलब्ध सूर्य मन्दिर के अवशेष में उसकी वास्तुयोजना है। इस मन्दिर की वास्तुयोजना सम्पूर्ण भारत में उपलब्ध सौर मन्दिरों की वास्तुयोजनाओं से पृथक् है। उपलब्ध अवशेष एवं मन्दिर के अवलोकन से ज्ञात होता है कि मन्दिर में दो गर्भगृहों का निर्माण किया गया था, दोनों समतुल्य हैं और उनके मध्य एक लघु अन्तराल है। दोनों का प्रवेश द्वार एक ही दिशा में है। उन दोनों गर्भगृहों के सम्मुख संभवतः एक विशाल मण्डप था जैसा कोणार्क एवं मोढ़ेरा के विशाल सूर्य मन्दिरों में है। सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि इन दोनों गर्भगृहों का निर्माण पूर्ण नियोजित ढंग से हुआ है। यह सम्पूर्ण मन्दिर प्राचीर के ठीक मध्य भाग में स्थित हैं और दोनों गर्भगृह एक ही काल के बने प्रतीत होते हैं। दो गर्भगृहों के अवशेषों की प्राप्ति एवं दो सूर्य प्रतिमाओं की उपलब्धि से (जो अपने प्रतिमा लक्षणों की दृष्टि से प्रायः समकालीन ही हैं) निश्चय ही इस सूर्य मन्दिर को भारत के समस्त सौर समुदाय के केन्द्रों में निर्मित मन्दिरों में एकाकी स्थान प्रदान होता है और इस प्रकार स्थल की महत्ता और अधिक बढ़ जाती है।

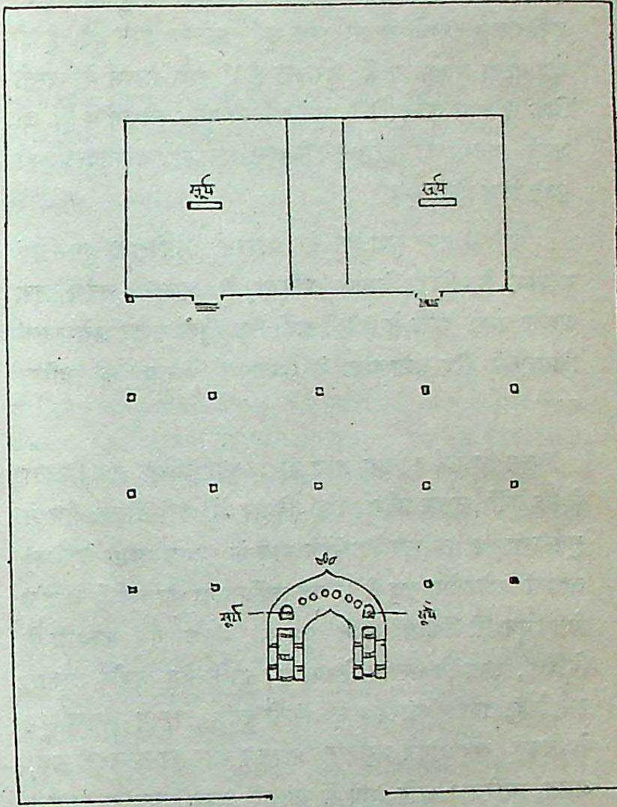

तुर्कपट्टी सूर्यमन्दिर का तलच्छन्द

समस्त तथ्यों का अवलोकन करने के पश्चात् यह सिद्ध होता है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश का यह भाग निश्चय ही गुप्तोत्तर युग में सौर सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र बन चुका था। आज भी यहाँ आस पास के गाँवों यथा-कोइया, खोरिया, गुखलिया, राजापाकड़, विजयपुर, जौरा बाजार, शंकर पटखौली, महुँअवा, देवपोखर आदि अनेक ग्रामों में शाकद्वीपीय ब्राह्मणों की बहुलता है जो निश्चय ही प्राचीन काल से ही सूर्य की उपासना करते थे। उपलब्ध मन्दिर सम्भवतः नवीं-दसवीं शती के मध्य निर्मित हुआ होगा। उसके पूर्व ही परवर्ती गुप्त सम्राट जीवितगुप्त द्वितीय के समय की देवबरणार्क (आरा जिला) से सूर्य की मूर्ति उपलब्ध हुई थी जो यहाँ सूर्य मन्दिर की उपस्थिति का संकेत देती है। गुप्तोत्तर युग अर्थात् ६००-७०० ई० की दो सूर्य मूर्तियाँ बिहार से उपलब्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुई हैं जो अब इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता में सुरक्षित हैं।[१] इसी प्रकार राँची से भी एक सूर्य प्रतिमा प्राप्त हुई है जो अब पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। इसी सन्दर्भ में बस्ती जिले से प्राप्त अप्रकाशित सूर्य प्रतिमा भी उल्लेखनीय है जो अपने लक्षणों की दृष्टि से विकास क्रम की चरमावस्था की कृति सिद्ध होती है।[२]

ये सभी तथ्य गुप्त युग से प्रारम्भ, गुप्तोत्तर युग एवं मध्ययुग के मन्दिर निर्माण प्रक्रिया के अन्तिम चरण तक अर्थात् चौथी शती से १३वीं शती तक (पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार) में सौर सम्प्रदाय के व्यापक प्रभाव को दर्शित करते हैं।

इस निष्कर्ष को इस तथ्य द्वारा और अधिक बल मिलता है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार के सम्मिलित क्षेत्र में सूर्य-षष्ठी का त्यौहार (कार्तिक मास के शुक्ल षष्ठी के दिन) अत्यन्त लोकप्रिय व्रत है। यह सूर्योपासना का पर्व है। इस दिन पुत्रवती स्त्रियां अपने पुत्र की मंगल एवं कल्याण के निमित्त, तथा निःसन्तान स्त्रियां पुत्र प्राप्ति हेतु निर्जल उपवास करती हैं, तथा संध्याकाल में किसी नदी, तड़ाग अथवा कूप के निकट खड़े होकर भगवान् भास्कर का दर्शन करके फल, अक्षत, नारियल आदि सूप में रखकर अर्घ्य दान करती हैं। रात्रि में अपने निवास पर लौटकर अपने आँगन में ईंख का चंदोवा बनाकर उसके नीचे फल, सब्जी आदि वस्तुओं के द्वारा द्वादश सकोरों में नैवेद्य चढ़ाती हैं, तथा द्वादश दीप जलाती हैं। निश्चय ही यह द्वादशादित्यों का विशिष्ट पूजन है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को लोक-भाषा में 'कोसी भरना' कहते हैं। तत्पश्चात् रात्रि जागरण एवं गीतों के मार्मिक ध्वनि के द्वारा अपने इष्ट का अर्चन करने के पश्चात् रात्रि के चतुर्थ प्रहर में सम्पूर्ण नैवेद्य को पुनः घाट पर ले जाकर सजाया जाता है। पुनश्च व्रत को धारण करने वाली स्त्री जल में (लगभग घुटने तक खड़ी होकर पूर्वदिशा की ओर मुख कर के उदित होते हुए सूर्य की प्रतीक्षा करती है। इस समय निःसन्तान स्त्रियाँ पुत्र प्राप्ति हेतु तीन चार घण्टे तक आवक्ष जल में डूबे रहकर सूर्योदय को प्रतीक्षा करती हैं। इस विशिष्ट अवसर पर गाया गया गीत निश्चय ही पुत्र विहीन नारी के करुण दशा का द्योतक है जो मर्म का छू लेती है। गीत के बोल सर्वविदित हैं—

"सबके डलियवा ए दीनानाथ लेहनी उठाय,
बांझिन डलियवा ए दीनानाथ दरिय तवांय।"

सूर्योदय के साथ ही विशाल जनसमूह आह्लादित हो जयजयकार कर उठता है। व्रती स्त्रियां पूर्वाभिमुख हो पुनः सांध्य बेला वाले अनुष्ठान अर्थात् अर्घ्य दान करती हैं और भगवान् आदित्य से अपने पुत्र की मंगल कामना करती हुई जल ग्रहण करती हैं। सम्पूर्ण अनुष्ठान सामूहिक रुप से वाद्य, नृत्य एवं गान के साथ भव्य रूप में सम्पादित किया जाता है। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सूर्य पूजा का इतना बृहद् रूप से द्वि-दिवसीय आयोजन उत्तरी भारत के मात्र इसी क्षेत्र (अर्थात् उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्र एवं सम्पूर्ण बिहार तथा बंगाल के कतिपय भागों में) किया जाता है।

समस्त तथ्यों के सूक्ष्म अवलोकन के फलस्वरूप यही निष्कर्ष निकलता है कि निश्चय ही पूर्व मध्य काल तक सूर्योपासक शाकद्वीपीय ब्राह्मणों का प्रवेश इस क्षेत्र में (पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार का संलग्न भाग) हो चुका था और उनके कारण इस क्षेत्र में सूर्य पूजा को प्रोत्साहन मिला। यह परम्परा इस स्थल के लोक जीवन में अद्यावधि स्थान रखती है। तुर्क पट्टी की सूर्य मूर्तियाँ एवं मन्दिर इस सुदीर्घ परम्परा के मूक साक्षी हैं।

---

१. S. C. De. *JOHRS*, Vol. I, 1952-53, pp. 254-55, fig. 1-2. figures Nos. 3857 & 3931 Indian Museum, Calcutta.

२. यह प्रतिमा गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के पुरातत्व सहायक श्रीकृष्णानन्द त्रिपाठी ने बस्ती जिले के देवकुन्डा ग्राम में सर्वेक्षण के फलस्वरूप प्राप्त किया। इसके विषय में उनका शोधपत्र प्रकाशित होने वाला है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

A TYPOLOGICAL STUDY OF THE COINS OF KAUSAMBI

N. D. DWIVEDI*

The coins of Kosom (ancient Kausambi, the capital of Vatsa) bear the name of the Kausambi as Kasabikanan, Kasabi, Kasabiya or Kosavisa with a number of variants. Beside the coins with the city names a large number of coins, bearing the personal names of the ruler have also been found from this site. Thus the coinage of Kausambi fall mainly into two groups: Group I & Group II. They comprise of round cast pieces and the die-struck coins.[1] Beside these two main groups, there are two other more minor groups of late Kausambi coins, which may be classified as Group III and Group IV. Thus Group III of Kausambi coins comprises of the issues of Dhanadeva and of some other rulers while the coins of Group IV consist of the coins of Magha kings.

Group I

Among the early cast pieces, the majority of which are uninscribed, there are also some inscribed coins bearing the name of Kausambi city[2] and of two rulers, Sudeva and Bahasatimita.[3] On the obverse the coins bear the figure of an elephant on pedestal along with several symbols including the triangle headed standard and the Ujjain symbol. On the reverse, the symbol tree-in-railing is common to all, others varying on different coins.

Group II

From the die struck coins of somewhat later period we get the names of Agnimitra, Aśvaghosha, Bṛihaspatimitra II, Jyeshṭhamitra and Parvata. Numerous other names like Agarāja, Īśvaramitra, Jyeshṭhabhūti, Prājapatimitra, Praushṭhamitra, Priyamitra Rāḍhamitra, Rājāmitra, Rajanimitra, Rāmamitra, Sarpamitra, Satamitra, Varaghosha or Śivaghosha, Sūramitra and Varuṇamitra have also come to light. The characteristic types of Kausambi coins which prevail throughout the series are a bull and tree-in-railing.[4] The 'bull' symbol occurs on the coins of almost all the rulers except Īśvaramitra, Jyesṭhabhūti, Priyamitra and Rāmamitra.[5] On the coins of Praushṭhamitra and Śivaghosha the bull is seen turned to the left,[6] while on those of Agarāja, Agnimitra, Bṛihaspatimitra II and Jyeshṭhamitra the bull is seen as turned both to left[7] and to right.[8] Horse symbol is seen

---

* Research Fellow, Deptt. of Ancient History, Culture & Archaeology, University of Allahabad, Allahabad.

1. *BMC, AI*, p. xciv.
2. *BMC, AI*, pp. xcviii–xcvix; *JNSI*, vol. 11, pp. 9-10; *JNSI*, vol. 24, p. 140; *JNSI*, vol. 25, p. 20.
3. *BMC, AI*, p. 150, pl. xx. 11 and pl. xx. 1.
4. *BMC, AI*, p. xciv.
5. *JNSI*, vol. 15, p. 44; *JNSI*, vol. 22, p. 180-181.
6. *JNSI*, vol. 4, p. 133.
7. *JNSI*, vol. 4, p. 15; *BMC, AI*, pp. 152-158.
8. *JNSI*, vol. 13, p. 198; *BMC, AI*, pp. 151-153; Also see *JNSI*, vol. 4, p. 144.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

on the cast coins of Bahasatimitra I and on a few varieties of the struck coins of Jyestha-mitra.[1] The 'lion' type occurs on some coins of Aśvaghosha, Rāḍhamitra and Varuṇa-mitra,[2] while a 'rude male figure' appears on the coins of Jyeshṭhabhūti and Jyeshṭhamitra.[3]

The Ujjain symbol appears on the issues of Agarāja, Agnimitra, Bṛihaspatimitra, Prajāpatimitra, Praushṭhamitra, Rajanimitra, Sarpamitra, Satyamitra, Sūryamitra, Varuṇa-mitra and Śivaghosha. Beside this the most important symbol 'tree-in-railing' is found on the coins of all the rulers except Rāḍhamitra.[4] Some other minor symbols found on Kausambi coins are *nandipada* above 'three-arched hill within railing', the *svastika*. the taurine, the triange-headed standard, a wavy line between two straight lines, the three-arched hill and the *nandipada*.

Group III

The type of Dhanadeva group and its imitation by some rulers whose names are doubtful and read as Nava, Mūlahasta, Vishṇuśrī, are distinct from the early struck coins of Kausambi.[5] However, the tree device, also appears on all these pieces, although the form of the tree is a little bit different from that on the earlier issues. The 'bull' also finds place on the coins of Dhandeva, Nava and Mūlahasta,[6] while the 'elephant' appears on those of Nava and Vishṇuśrī.[7] The three-arched hill is also seen on those of Dhanadeva and Vishṇuśrī. The trident occurs on the coins of Dhanadeva and Mūlahasta.

Thus it appears that the 'tree symbol' which invariably occurs on all classes of Kausambi coins, irrespective of dynasties, was the local emblem of Kausambi and is also to be found on the later coinage of the Maghas. Perhaps the 'bull' was the next common device, but it is absent from the early inscribed cast pieces as well as from some early struck coins of several rulers.

Group IV

The Magha coins are of different groups. But they are connected with the earlier series of their types. The form of the tree, as it appears on the Magha coins, is quite similar to that of the coins issued by the kings of the Dhanadeva group. The tree is to be found on the coins of every Magha king. The bull device also occurs on almost all the Magha coins.[8] The elephant, which forms the main type of the early cast inscribed pieces of Kausambi and appears on the issues of some rulers of the Dhanadeva group, is also found on those of some Magha kings, viz, Śivamagha and Puramagha.[9]

A 'ladder-like symbol' is characteristic symbol of most of the Magha coins. It is

1. *BMC, AI*, p. 150; *JNSI*, vol. 11, p. 11.
2. *JNSI*, vol. 4, p. 14, 141; vol. 8, p. 17.
3. *JNSI*, vol. 22, p. 131; vol. 11, p. 11.
4. Narain, A. K. (Ed.), *Seminar Papers on the Local Coins of Northern India*, 1968, p. 38.
5. *BMC, AI*, p. xcvii.
6. *BMC, AI*, pp. 153-156.
7. *IMC*, p. 206; *BMC, AI*, p. 157.
8. *JNSI*, vol. 8, p. 15; *JNSI*, vol. 4, p. 136; *JNSI*, vol. 2, p. 106; *JNSI*, vol. 9, p. 11; See also, *BMC, AI*, p. 158.
9. *JNSI*, vol. 8, p. 8; *BMC, AI*, p. 156.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

seen on the coins of Śivamagha, Bhadramagha Vaiśravaṇa, Bhīmavarman and Jayamagha.[1] The three-arched hill symbol found on the issues of a few earlier rulers is also very common on the Magha coins, and appears on those of Śivamagha, Praushṭhaśrī, Bhadramagha, Vaisravaṇa, Bhimavarman and Vijayamagha. The *nandipada* is found on a few coins of Bhīmasena, and Vaiśravaṇa, while a wavy line makes its appearance on those of Bhadramagha, Vaiśravaṇa and Vijayamagha.

Another coin with the legand 'Śrī Rudra' on the obverse and 'Śiva with his bull' on the reverse is ascribed to Kausambi on the ground of provenance.[2] But since none of the familar symbols found on the Kausambi coins, especially the tree symbol, which invariably occurs on the coins of all the known Kausambi rulers, is to be seen on this coin. Hence it is doublful if this coin was actually issued by any ruler of Kausambi.

1. *JNSI*, vol. 2, p. 12.
2. *JNSI*, vol. 11, p. 13.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तृतीय अनुभाग

जनपदीय इतिहास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सीतापुर जनपद का इतिहास

गणेशदत्त सारस्वत

सीतापुर जनपद में नैमिष तीर्थ संहिता-काल से पुराण-काल तक भारतवर्ष में ख्यात रहा है। अथर्वा ऋषि के पुत्र दध्यङः आथर्वण (महर्षि दधीचि) के तप एवं त्याग से परिष्कृत इस क्षेत्र का वर्णन संहिताओं,[1] ब्राह्मणों,[2] पुराणों[3] तथा

---

१. **काठक संहिता**, १०/६।

2. (क) "The Sattrine of Naimisa with Somasusma as *Grahpati* celebrated a *Sattra*. Great Indra, desirous of spoiling it in the shape of a monkey snatched away the sacrificial cake. Now their *adhvarya* priest, Sitabahu Aishkrta, was a learned man. He by means of three-fold knowledge, knew the bright Soma-Juice to have been snatched away and the expiation for everything by means of these (sacred) exclamations, to wit, *bhūr bhuvas svaḥ*. For these (sacred) exclamations are an expiation for everything. Just as here the ocean is endless, infinite, imperishable, heaven and earth, all these worlds, even so these (sacred) exclamations are imperishable, inexhaustible, endless syllables (elements). As for this, that is this world; as far *bhvvas*, that is the air-space; as for *svah*, that is the yohder world. These are the (sacred) exclamations, these divinities are (indentical with) these (sacred) exclamations. From Sitabahu Aishkrta, the Naimisan, the monkey snatched away the sacrificial cake........".

—जैमिनिब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद: अनुवादकर्ता, Hannas Oertel, **अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी की पत्रिका** के २६ वें खंड के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित, पृष्ठ संख्या १७७।

(ख) **कौशीतकी ब्राह्मण**, २६/४-५।

३. **विष्णुपुराण**—"He who bathes in the Gomti at Naimisa expiates all his sins"—
अनुवादकर्ता—H. H. Wilson—पृष्ठ संख्या ३२३।

वाराहपुराण—एवं कृत्वा ततो देवो मुनि गौरं मुखंतदा, उवाच निमिषेणोऽनिहितं दानवं बलम।
अरण्येऽस्मिन ततस्त्वेन्नैमिषारण्य संज्ञितं, भविष्यति यथार्थं वै ब्राह्मण्यं विशेषकम् ॥११-१०८॥

कूर्मपुराण
—इदं त्रैलोक्य विख्यातं तीर्थं नैमिषमुत्तमम्। महादेवप्रियकरं महापातकानाशनम्॥
अत्र दानं तपस्तपूतं श्राद्धयागादिकं च यत्। एकैकं नाशयेत पापं सप्तजन्मकृतं तथा॥उत्तर०४२-१,१४॥

बृहद्धर्मपुराण
—एतत् तु वैष्णवं क्षेत्रं नैमिषारण्य संज्ञितम्। अधिष्ठायाद्यापि विप्राः कुर्वन्ति सत्क्रियाः सदा ॥१३-३३॥

वायुपुराण—प्रययुस्तस्य चक्रस्य यत्र नैमिर्व्यशीर्यत्। तदवनम् तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम् ॥१-१८१-८६॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपनिषदों[1] में बहुलता से मिलता है। महर्षि वेदव्यास ने यहीं पुराणों की रचना की थी। महाभारत[2] तथा श्रीमद्भागवत[3] आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी इसका विवरण मिलता है। उत्तर वैदिक काल में एक विशाल आरण्यक विश्वविद्यालय (कुल) के इस क्षेत्र में स्थित होने के भी संकेत मिलते हैं।[4] इस 'शाला' में अट्ठासी हजार ऋषि शास्त्रार्थ द्वारा ज्ञानार्जन करते थे। शौनक जी इस विश्वविद्यालय के कुलपति थे।[5]

इन जनपद के नामकरण के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वैसे सीता जी से इस भूमि का सम्बन्ध होने के कारण, सीतापुर गजेटियर में, इसे विशिष्ट ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि से सम्पन्न माना गया है।

ऐसा कहा जाता है कि भगवान राम वनवास-काल के पश्चात् इस क्षेत्र में पधारे थे। कुछ समय तक यहाँ निवास भी किया था। सिधौली तहसील के निकट 'सीतारसोई' रियासत की स्थिति से भी इसी तथ्य पर प्रकाश पड़ता है। जनश्रुति के अनुसार, सीता जी ने इसी स्थान पर पाक-व्यवस्था की

---

१. **छान्दोग्योपनिषद—**
तेनतघह वको दात्म्यो विदान्चकार स ह नैमिषीयानामुदगाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति—
—प्रथम अध्याय, द्वितीयखंड, १३, पृष्ठ संख्या १८॥

अथर्ववेदीय नारदपरिव्राजयोपनिषद्—
प्रथम उपदेश—नारद-सौनक-संवाद—
"एक समय की बात है, परिव्राजकों के समुदाय को सुशोभित करने वाले नारदजी सब लोकों में विचरण कर रहे थे। उन्होंने अपूर्व-अपूर्व पुण्यस्थलों एवं पुण्यतीर्थों में जाकर उन्हें और भी पवित्र बनाया और उन तीर्थों के दर्शन से स्वयं भी चित्त-शुद्धि प्राप्त की। उनके मन में कहीं किसी भी प्राणी के प्रति वैर का भाव नहीं था। उसका मन शान्त था और सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में कर लिया था। वे सब ओर से विरक्त हाकर अपने स्वरूप के अनुसंधान में लगे हुए थे। घूमते-घूमते वे नैमिषारण्य आये, जो नियमजनित आनन्द के कारण विशेष रूप से गणना करने योग्य पवित्र तीर्थ है। वह स्थान असंख्य मुनिजनों से भरा हुआ था। उन्होंने उस पुण्य स्थली का दर्शन किया........"
—कल्याण, उपनिषदांक (सौरभाघ २००५ वि०) पृष्ठ संख्या ७३५।

२. ततस्तु नैमिषं गच्छेत पुण्यं सिद्धि निषेवितम्।
तत्र नित्यं निवसति ब्रह्मादेवगणैः सह॥ —वनपर्व, अध्याय ८४, श्लोक संख्या ५९, पृष्ठ संख्या ११९।

३. नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः। सत्र स्वर्गीय लोकाय सहस्त्रसममासत॥
—प्रथम खंड, (गीताप्रेस द्वारा २०१३ वि० में प्रकाशित) प्रथम स्कन्ध, श्लोक सं० ४, पृष्ठ संख्या ४८।

4. (A) "Apart from its being a holy place worthy of being visited by people desire being cleansed of their sins and seeking merit the Naimisa forest also served the functions of university"—*Naimishāraṇya in 'Literature'*.
लेखक—राजेन्द्र बिहारी पाण्डेय
अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी की पत्रिका, ८४ वां खंड, अंक ४, अक्तूबर-दिसम्बर १९६४, पृष्ठ संख्या ४०७।

(B) डा० राधा कुमुद मुखर्जी, *Hindu Civilization*, पृष्ठ सं० ११३।

५. "शौनको ह वै महाशालोहङ्गिरसं विधिवदुरसन्नः प्रपच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति'
—अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद, प्रथममुण्डक, प्रथम खण्ड, सं० ३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी।[१] अकबर के शासनकाल में इसे जहाँ 'छितनापुर' कहा गया है, वहीं 'छीत्यापुर' का भी उल्लेख मिलता है।[२] 'छितनापुर' का सीतापुर से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही दीखता है। हाँ, 'छीत्यापुर' रूप परिष्कृत का सीतापुर हो सकता है।

पश्चिम से पूर्व तक ७० मील लम्बे तथा उत्तर से दक्षिण तक ५५ मील चौड़े प्रस्तुत जनपद का आकार लगभग नारंगी के समान है। २७°६' तथा २७°५४ उत्तरी अक्षांश तथा ८०°१८' तथा ८१°२४' पूर्वी देशान्तर के मध्य की सम्पूर्ण भूमि इस जनपद में समाहित है। घाघरा नदी इसकी पूर्वी तथा गोमती नदी पश्चिमी सीमा निर्धारित करती है तथा इस प्रकार क्रमशः बहराइच तथा हरदोई जिलों से पृथक् करती है। सीतापुर जनपद के उत्तर में खीरी, दक्षिण में लखनऊ तथा बाराबंकी, पूर्व में बहराइच तथा पश्चिम में हरदोई जिले हैं। सीतापुर जनपद का कुल क्षेत्रफल, सन् १९०२ ई० में, १४,४०,२४३ एकड़ अथवा २,२५०-३८ वर्ग मील था। हाल में ही पैमाइश किये जाने पर इसका कुल क्षेत्रफल १४,४०,२७७ एकड़ निकला है।[३] वास्तविकता यह है कि घाघरा नदी की अनिश्चित-धारा के कारण, जो अधिकतर मार्ग-परिवर्तन किया करती है, जिले का क्षेत्रफल बदलता रहता है। सम्पूर्ण जनपद पाँच तहसीलों, इक्कीस परगनों तथा सोलह थानों में विभाजित है। स्वास्थ्यप्रद-जलवायु की दृष्टि से जनपद सामान्य है।

अब हम इसके इतिहास की ओर आते हैं। वास्तव में सीतापुर जनपद के इतिहास की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए किवंदन्तियों एवं परम्परागत कथाओं का आधार ही विशेष रूप से लेना पड़ता है। वैसे तो हाल की खुदाई से प्रागैतिहासिक काल की लगभग पाँच हजार वर्ष पुरानी कुछ मूर्तियां गंधौली में, तीसरी शताब्दी की मिट्टी की कुछ मूर्तियां बड़ेसर में तथा गुप्त-कालीन ईंट-कला के कुछ अवशेष हरगाँव, उन्चागाँव, बड़ागाँव, नसीराबाद तथा गंगोई में प्राप्त हुए हैं।[४] किन्तु जनपद की विशालता को देखते हुए यह सामग्री नगण्य ही है। यदि पौराणिक गाथाओं पर विश्वास किया जाये तो जनपद की स्थिति महाभारत-काल में स्वीकार की जा सकती है। हस्तिनापुर के चन्द्रवंशी तथा अयोध्या के सूर्यवंशी शासक इसी जनपद में मिले थे।[५] एक अन्य विश्वास के अनुसार अयोध्या के शासकद्वय में से राजा हरिश्चन्द्र ने हरगाँव की तथा मान्धाता ने मनवी की स्थापना की थी।[६] कुछ प्रचलित लोक-कथाओं में इस बात का भी संकेत मिलता है कि हरगाँव ही विराटनगर था, जहाँ पाण्डवों ने अपने अज्ञातवास का कुछ समय व्यतीत किया था। कहा जाता है कि कस्बे में स्थित शिवमन्दिर के सामने वाले सरोवर को पाण्डवों ने एक रात्रि में बनाया था। जनश्रुति के अनुसार अर्जुन ने बाण मारकर इसमें जल प्रकट कराया था। यहाँ से थोड़ी दूर पर बाणगंगा सरोवर है। कस्बे के दक्षिण में बनी हुई कीचड़ की समाधि भी इसी तथ्य की (हरगाँव में पाण्डवों के निवास

---

१. **सीतापुर गजेटियर**, पृष्ठ संख्या ९, भाग XL, आई० सी० एस०, १९२३ ई०, एच० आर० नेविल।
२. **सेटिलमेण्ट-रिकार्डस**—टोडरमल।
३. **सीतापुर-गजेटियर**, पृष्ठ संख्या १।
४. **नेशनल हेराल्ड** (२१-७-१९५७) सीतापुर सप्लीमेण्ट—**Place of Archaeologicai Importance in Sitapur**—लेखक श्रीराजेन्द्र बिहारी पाण्डेय, पृ० संख्या १।
५. "If Tradition is to be accepted, the ancient kingdoms of the Lunar race of Hastinapur and the Solar race of Ayodhya met in this district".
—**सीतापुर गजेटीयर**, पृष्ठ संख्या ११९।
६. "Hargaon in tehsil Sitapur was founded by the renowned Harish Chandra of Ayodhya....Manwan (Sidhauli Tehsil) is described as having been built by Māndhatri of Ayodhya".
—**सीतापुर गजेटियर** पृष्ठ संख्या ११९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की) द्योतक है।[१] पाण्डवों के नैमिष में आने का वर्णन महाभारत में भी मिलता है।[२] राम तथा सीता के नैमिषारण्य में स्नान करने तथा इस प्रकार सीतापहरण तथा रावण-वध के कलंक को धोने का भी उल्लेख मिलता है। इसी क्रम में यह भी संकेत मिलता है कि सीता-त्याग के पश्चात् राम ने यहीं अश्वमेध-यज्ञ आयोजित किया था। इस यज्ञ में महर्षि वाल्मीकि भी लव तथा कुश के साथ सीता सहित आये थे। यहीं पर राम ने सीता की पवित्रता की सिद्धि चाही थी। अन्त में पृथ्वी फट गई थी तथा सीता अपने को पवित्र सिद्ध करती हुई उसी में समा गई थीं।[३] नैमिषारण्य से कुछ ही दूरी पर मिश्रित में सीताकूप की स्थिति भी इस तथ्य का प्रमाण है कि उक्त घटना इसी स्थान पर घटी होगी। नैमिष में मनु के द्वारा तप किये जाने का उल्लेख भी मिलता है।[४] श्री वल्लभाचार्य की ८४ बैठकों में से एक बैठक यहाँ भी हुई थी। यहीं गोविन्द-कुण्ड पर छोकर वृक्ष के नीचे आपने भागवत का सप्ताह-पारायण किया था। एक दिन तीन प्रहर तक "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्"[५] श्लोक की व्याख्या करके आपने विद्वान् वैष्णवों को अपनी विद्वता से चमत्कृत किया था।[६] इसी प्रकार नैमिष के निकटवर्ती ओराझर, ओराडीह अथवा वेननगर का सम्बन्ध पौराणिक राजा 'वेन' अथवा 'बेन' से जोड़ा जाता है, जिसकी कहानियाँ पंजाब से बंगाल तक प्रचलित हैं।[७] सेदुता का किला परमालदेव चन्देल के सेनानी आल्हा द्वारा निर्मित बताया जाता है। इसी आल्हा के सेनानी 'रनुवा पासी' ने तम्बोलिनपुरवा की स्थापना की थी, जो आगे चलकर तम्बौर के नाम से विख्यात हुआ।[८]

सीतापुर में अनेक जातियों का अभ्युदय हुआ। इनमें से सबसे अधिक प्राचीन तथा शक्तिशाली जाति 'पासियों' की थी। सामान्य विश्वास के अनुसार वे मिश्रित तहसील तथा सीतापुर के हरगाँव, लहरपुर, खैराबाद तथा तम्बौर आदि परगनों में फैले हुए थे। महोली में हंस नामक

---

१. **कल्याण**, तीर्थाङ्क (सौरमाघ, २०१३), पृष्ठ संख्या १०८।

२. ते तथा सहितावीरा वसन्तस्त्र तत्र ह।
क्रमेण पृथ्वीपाल नैमिषारण्यमागताः॥

—श्रीमहाभारत, ९५ वां अध्याय, श्लोक सं० १, पृष्ठ सं० १२२६।

३. **श्रीमद्वाल्मीकि रामायण**, उत्तरकाण्ड, ९१ से ९७ सर्ग तक, पृ० संख्या १६४८ से १६५८ तक।

४. तीरथवर नैमिष विख्याता, अतिपुनीत साधक सिधि दाता।
बसहिं तहाँ मुनि सिद्धि समाजा, तह हिय हरषि चले मनु राजा॥

—रामचरित मानस, पृष्ठ संख्या ११४-११५।

५. **श्रीमद्भागवत** १-५-१२—नैष्कर्म्यप्यच्युत भाववर्जितं, न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे, न चार्पितं कर्मयदप्यकारणम्॥

—पृष्ठ संख्या ६३-६३।

६. **कल्याण**-तीर्थाङ्क, पृष्ठ संख्या, ५७१।

७. "A place opposite to Nimshar called Orajhar, Oradih or Bennagar is connected with the mythical Raja Ben or Ven, stories of whom are current from Punjab to Bengal".

—सीतापुर गजेटियर, पृ० संख्या ११९।

८. "A fort near Seota (Biswan) was built by Alha hero of Parmaldeo, the Chandel ....one of the Alha's Captains was Ranua, a Pasi, the reputed founder of Purwa Tambolian afterwards known as Tambore".

—सीतापुर गजेटियर, पृष्ठ संख्या ११९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शासक के नेतृत्व में यह जाति अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न रही। महौली के इसी शासक का मितौली की राजकुमारी के प्रश्न को लेकर मितौली के राजा के साथ युद्ध भी हुआ था।[१] जनपद में आजकल भी पासी पर्याप्त संख्या में हैं। यद्यपि उन्हें उस आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता है, तथापि ये अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। इसी प्रकार कछेर, अहीर, भार, राढ़ तथा रघुवंशी आदि जातियों के भी जनपद में पनपने का संकेत मिलता है। कछेर शोशे का काम करने वाली जाति थी। यही सम्भवतः हरदाई के ठठेर थे। इन कछेरों का शासन रामकोट, जहाँ भगवान राम के द्वारा दुर्ग बनवाये जाने की जनश्रुति है, परिनगर, बाड़ी तथा बिसवाँ के कुछ भागों में था। अहीरों का प्रभुत्व बाड़ी तथा चंडरा में, भारों का बिसवाँ में तथा राढ़ों (कुर्मियों का ही एक वर्ग) का शासन सदरपुर में था। रघुवंशियों के कुंडरी उत्तर तथा तम्बौर में स्थित होने का संकेत मिलता है।[२] ये समस्त हिन्दू-जातियाँ आगे चलकर अठारहवीं शती के लगभग राजपूतों के विभिन्न वर्गों द्वारा पराजित कर दी गईं।[३]

राजपूतों की सर्वप्रथम सत्तारूढ़ जाति अह्वनों की थी। यह जाति 'गोपी' तथा 'सोपी' नामक दो नेताओं के संरक्षण में इस प्रदेश में आई। गोपी ने हरदोई में गोपामऊ की स्थापना की। सोपी ने सीतापुर में प्रवेश किया तथा मिश्रित में 'पतौजा' नामक स्थान की स्थापना की।[४] साथ ही मिश्रित, महोली, औरंगाबाद, मछरेहटा, खैराबाद तथा चँडेरा के भी भागों पर अधिकार कर लिया। किन्तु इनका यह अधिकार स्थायी न रहा। कुछ ही वर्षों के उपरान्त खैराबाद उनके हाथ से निकल कर यूसुफ्जा गाज़ी के कब्जे में चला गया। अकबर के शासन काल में मछरेहटा पर केसरी सिंह ने आक्रमण किया तथा जीत कर अकबर को सौंप दिया। आगे चलकर औरंगजेब ने मिर्जा बहादुर वेग को अह्वनों के समूह विनाश के लिए सीतापुर भेजा। उसने उन्हें महोली, मिश्रित, औरंगाबाद तथा गौरों की सहायता से चंडरा से भी बाहर खदेड़ दिया। इस प्रकार अह्वनों का सम्पूर्ण राज्य पँवारों, मुसलमानों तथा ब्राह्मणों के हाथ में चला गया। राजपूतों की दूसरी जाति 'रैकवाड़' ने आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व अर्थात् १४५० ई० में घावरा तथा चौका नदी के बीच की भूमि घेर ली। सालदेव तथा बालदेव के नेतृत्व में इस जाति ने १६०० ई० के लगभग इस जनपद में प्रवेश किया। पाद-टिप्पणी में प्रस्तुत विवरण के अनुसार १११९ संवत् में इनका प्रवेश

---

१. "The inhabitants before the coming of the Rajputs (in this district) are said to have been Pasis....According to general belief they held sway in all the Misrikh Tahsil and in the Parganas of Sitapur, Hargaon, Laharpur and Tambore....They were strongest in Maholi where the story goes that one Hans, a Chief Pasi, demanded in marriage the daughter of the Raja of Mitauli. The insult was followed by the usual sequel."

—**सीतापुर गजेटियर**, पृ० सं० १२०।

२. "....Kachens or glass makers, who correspond to the Tatheras of Hardoi extended their rule over Ramkot, where Rama is said to have built a fort and parts of Pirnagar, Bari and Biswan....we hear Ahirs in Bari and Chandra, Bhars in Biswan and Rarhs in Sadarpur....Tradition assigns Kondri and part of Tambore to the Raghuvanshis." **सीतापुर गजेटियर**, पृ० सं० १२०-१२१।

३. "The Rajputs generally firmed the soil occupied by the Pasis whom they crushed or drove away." **दि इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया**, Vol. XXIII, पृष्ठ संख्या ५५।

४. **सीतापुर गजेटियर**, पृष्ठ संख्या १२१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ। यह तिथि घटना क्रम से मेल नहीं खाती। इसी जाति के सदस्यों ने ही रामपुर-मथुरा तथा मल्लापुर की स्थापना की।[१] जनवार जाति १४वीं शती के लगभग गुजरात से इस ओर आई। इस जाति की एक शाखा ने बिसवाँ में अपना शासन स्थापित किया तथा दूसरी ने सदरपुर में। किन्तु महोना (लखनऊ) के पँवारों के आक्रमण के कारण उन्हें ये क्षेत्र भी छोड़ने पड़े। इस जाति के निवासी रामकोट कोरौना तथा मछरेहटा में आज भी पाये जाते हैं। वैरामशाह के नेतृत्व में कछवाहा जाति जयपुर से सन् १४५९ ई० में मछरेहटा आई। दिल्ली तथा अजमेर के शासक पृथ्वीराज चौहान के सम्बन्धी गोहिलदेव ने जनपद की आदिवासी जातियों को पराजित कर तथा सीतापुर परगने पर अधिकार कर चौहान जाति का मस्तक ऊँचा किया। काछिल जाति आज भी गोदलामऊ में विद्यमान है। सीतापुर परगना की गौर जाति अठारहवीं शताब्दी तक विशेष महत्वपूर्ण नहीं थी। अठारहवीं शताब्दी के बाद ही उसने प्रभुता प्राप्त की तथा चंडरा, महोली, सीतापुर, हरगाँव तथा लहरपुर आदि क्षेत्रों में अपने राज्य स्थापित किये।[२] इस जाति के सम्बन्ध में विशेष जानकारी अभी तक प्राप्त नहीं की जा सकी है।

राजपूतों के इस विवरण के पश्चात् अब हम मुसलमान शासकों की ओर आते हैं। इनका सर्व प्रथम उल्लेख सईद सालार मसूद के आक्रमण के सम्बन्ध में मिलता है। इस मसूद की मुख्य छावनी सतरिख (बाराबंकी) में थी। यहाँ से वह सीतापुर होता हुआ बिसवाँ पहुँचा। यहीं पर सोहैल्देव के साथ उसका इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हुआ। जिस स्थान पर यह युद्ध हुआ था, वह आज भी मुसलमानों द्वारा पूजा जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई विवरण इसके सम्बन्ध में नहीं मिलता है।

---

१. उन त्यागी निज पितु जवानी। रैका नगर बसे प्रिय जानी।।
रैकवारभो तिनकर वंशा। कवि कोविदनित करत प्रशंसा।।

....भैरव के द्वैपुत्र भ शालदेप बड़नाम।
बालदेव दूसरे प्रबल निवसत रैका धाम।।

संवत गृह सित भानु महि, क्षपानाथ शुभ भानि।
अवध देश आये दुओं, संग चमू बलखानि।।

....**नृपयशवंत** पितापुर त्यागो-नेक न लोभ धामधन लागो
ग्राम बसायो रामपुर सरि शशि भागातीर।
कीन्हो तहाँ निवास तिन धर्म ध्वज रणधीर। **महेश्वर-परीक्षा**, रामपुरपुराधीश ठा० महेश्वर बख्श सिंह—कृत पृष्ठ संख्या ८-९

"....other members of the clan founded the estates of Mallanpur and Rampur Mathura."

—**सीतापुर गजेटियर**, पृष्ठ संख्या १२१।

२. "The Janwars, who claim to have come from Gujrat, arrived in Oudh about the end of fourteenth century (and) spread into Biswan and thence at later date in Sadarpur....The Chauhans of Pargana Sitapur....settled here in 1194 A. D. under Gohildeo, a relative of Prithvi Raj of Delhi. He drove out the Kurmis and other low caste tribes....The Gaus of Pargana Sitapur....spread over Chandra, Maholi, Sitapur, Hargaon and Laharpur...." **सीतापुर गजेटियर**, १२२-१२३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैसा कहा जा चुका है, बारहवीं शती के अन्त में ही खैराबाद अह्वनों के हाथ से निकलकर यूसुफ़खाँ गाज़ी के अधिकार में चला गया था। लहरपुर तथा नौगढ़ (तम्बौर) भी मुसलमानों के अधिकार में थे। इनमें से नौगढ़ की स्थापना मोहम्मद बिन साम के एक सेनानी द्वारा सन् ११९९ ई० में की गई थी।[१] लहरपुर को सन् १३७४ ई० में फीरोजाशाह तुगलक ने उस समय बसाया था, जब वह सईद सालार मसूद के मज़ार पर फूल चढ़ाने के लिए बहराइच जा रहा था। उस समय लहरपुर का नामकरण 'तुगलकपुर' के रूप में किया गया था।[२] नगर से लगभग दो फलांग की दूरी पर पूर्व में स्थित 'सुलतान तालाब' के अवशेष भी इस घटना की पुष्टि करते हैं। तीस वर्ष बाद तैमूरलंग के आक्रमण के समय लहरपासी ने नगर पर अधिकार पर तुगलकपुर से इसे लाहौरीपुर बना दिया, जो कालान्तर में 'लहरपुर' हो गया। आगे चलकर पासी-शासकों के अत्याचार से पीड़ित नगरवासियों की प्रार्थना पर स्थानीय मुस्लिम सन्यासी शाह अलाउद्दीन शीरमीनापोश के शिष्य ताहीर गाज़ी ने कन्नौज से आकर पासी शासकों को पराजित करके में नगर को अपने अधिकार में ले लिया। इस नगर में अनेक साहित्यिकारों ने जन्म लिया, जिनमें अब्दुल कलाम शाह, अब्दुल रहमान जाँबाज़कलन्दर, हज़रत शाह मुस्तफा तथा मोलवी शेख आदि प्रमुख हैं।[३]

सन् १३९४ ई० में मोहम्मदशाह के शासनकाल में यह जनपद दिल्ली साम्राज्य का अंग न रहकर मलिक सरवर के हाथों में चला गया[४] तथा बहलोल लोदी के शासन काल तक उसी के अधिकार में रहा। बहलोल लोदी ने जौनपुर के हुसेनशाह को यहाँ से खदेड़ कर इसे दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया।[५] बहलोल लोदी के वंशज इब्राहीम लोदी के पराजित होने पर खैराबाद को छोड़कर सीतापुर जनपद का शेष भाग मुगलों के हाथ में चला गया। खैराबाद अब भी बहादुर खां अफ़गान के हाथ में था, किन्तु १५२७ ई० में बाबर ने कन्नौज से लखनऊ की यात्रा करते समय इस क्षेत्र को भी अपने अधिकार में ले लिया। शेरशाह सूरी से पराजित होने तक सम्पूर्ण जनपद हुमायूं के हाथ में रहा।[६] इसके बाद का जनपद से सम्बन्धित इतिहास एक प्रकार से अन्धकारपूर्ण ही है। अकबर के राज्यारोहण के तीन वर्ष पश्चात् हुमायूँ के एक पुत्र मिर्जा मुबारक ने बाड़ी की स्थापना की।[७] अकबर ने शासन की सुविधा के लिए चार सरकारों की स्थापना की थी। उनमें से एक सरकार खैराबाद में भी थी। खैराबाद सरकार में बाइस महाल अथवा परगने थे, जिनमें से अधिकांश आजकल वर्तमान खीरी तथा हरदोई जिलों में स्थित हैं। खैराबाद में भी महाल था, जिसे हवेली खैराबाद के नाम से अभिहित किया जाता था। हरगाँव उस समय एक ब्राह्मण परगना था।

---

१. "....And so was Nawagarh in Tambaur which is said to have been founded in 1199 A. D. by an officer of Md. bin Sam.

—**सीतापुर गजेटियर**, १२३

२. **दि हिस्ट्री आफ इण्डिया**—ले० सर एच० एम० इलियट, के०सी०बी०, पृष्ठ सं० २४९ (तृतीय-भाग)

३. **(अ) नेशनल हेराल्ड** (२१-७-५७) सीतापुर सप्लीमेन्ट, लेखक श्री अहमद हुसेन, पृष्ठ संख्या ५, Laharpur Pargana in Sitapur District.

(ब) तजकिर-ए-उल्मा व मशायख लहरपुर—मो० शहीदुलहसन उस्मानी, पृ० सं० १-२।

४. **दि हिस्ट्री आफ इण्डिया**—ले० सर एच० एम० इलियट, पृष्ठ संख्या २९-३७ (चतुर्थ-भाग)

५. **वही** पृष्ठ संख्या ३५२ (चतुर्थ-भाग)

६. **दि हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स**—लेखक सर एच० एम० इलियट, चतुर्थ भाग, पृष्ठ संख्या २६६

७. **फाइनल रिपोर्ट आन दि सेटिलमेन्ट आफ दि सीतापुर डिस्ट्रिक्ट**—लेखक एस० एच० बटलर, पृष्ठ संख्या ११९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लहरपुर, बिसवाँ, मछरेहटा तथा सीतापुर अथवा छीत्यापुर के परगने भी उस समय अपने इन्हीं नामों से विख्यात थे। इनके अतिरिक्त सरदपुर तथा नीमषार में भी महाल थे। नीमषार महाल के अन्तर्गत वर्तमान मिश्रित, औरंगाबाद तथा महोली परगनों का अधिकांश क्षेत्र सम्मिलित था। नीमषार के साथ ही कोरौना में भी इंटों का दुर्ग था। यह दुर्ग खारकिला कहलाता था। दूसरी सरकार लखनऊ के अन्तर्गत बाड़ी, मनवाँ, परिनगर, महमुदाबाद तथा रामकोट शामिल थे। बहराइच सरकार में कोडंरी उत्तर तथा तम्बौर के क्षेत्र सम्मिलित थे।[१]

अकबर से शासन-काल में खैराबाद जनपद का मुख्य केन्द्र था। सन् १५६७ ई० में इस्कन्दर खां ने खानजमान के छोटे भाई बहादुर खां के साथ मिलकर विद्रोह कर दिया तथा खैराबाद नगर के साथ ही जनपद को भी घेर लिया। अकबर ने मीर मुईजुलमुल्क को विद्रोह दबाने के लिए भेजा। काफी प्रयत्नों के बाद विद्रोही पराजित हुए।[२] कालान्तर में, अकबर ने अवध तथा खैराबाद क्षेत्र मोहम्मद कुली खां को सौंप दिए। वह काफी समय तक शासन करता रहा। १५७८ ई० में सम्पूर्ण जनपद गाजीखां बदख्सी के अधिकार में चला गया। इसके चार वर्षों के अल्पकालीन शासन के पश्चात् १५८२ ई० में आसफखां के भाई वजीरखां के हाथों में जनपद की सत्ता आ गई। १५८८ ई० में अकबर ने प्रत्येक प्रान्त में संयुक्त शासकों के नियुक्त करने की प्रथा चलाई तथा कासिम खां के साथ फत्तेह खां तुगलक को अवध की बागडोर सौंप दी। इनमें से क़ासिम अली खां खैराबाद सरकार की सुव्यवस्था के लिए उत्तदायी था। उसने इस दावित्व का निर्वाह कालपी थानान्तरण किए जाने तक अर्थात् १५९२ ई० तक भली प्रकार किया।[३] दूसरा गवर्नर अब्दुल मुज़फ्फर था, किन्तु उनके सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं। आगे चलकर अब्दुल मुफ्तीदर ने भी शासन-व्यवस्था में योग दिया।[४] इन छुटफुट उल्लेखों के अतिरिक्त मुगल कालीन अन्य विवरण अभी तक उपलब्ध नही हो सके हैं।

जनपद में नबाबी शासन के सम्बन्ध में भी कोई जानकारी नहीं है। अकबर की व्यवस्था पद्धति आसफुद्दौसा के समय तक समान रूप से चलती रही। उसने अपने शासन-काल के अन्तिम वर्षों में एक नवीन प्रथा चलाई, जिसे सआदत अली खां के द्वारा पूर्णता प्राप्त हुई। इस प्रथा के अनुसार जिले, अर्थव्यस्थाधिकारी की देख रेख में चकलों तथा निज़ामतों में बांट दिए गए। ऐसे मुख्यतः तीन चकलों की की बात सुनी जाती है। वे हैं मुहमदी, खैराबाद तथा बिसवां-बाड़ी। चकलों के ये क्षेत्र घटबढ़कर सीतापुर तथा खीरी जिलों को अपने में सम्मिलित किए रहे। इस काल का प्रमुख शासक हकीम मेंहदी अली खाँ था। मोहमदी का चकला उसके अधिकार में था। सन् १८०७ ई० में शेष दोनों चकलों के अधिकारी शीतल प्रसाद त्रिवेदी को ८,११,००० रुपए देकर उससे खैराबाद तथा बिसवां-बाड़ी के चकले भी

---

१. *Journal of the Bengal Asiatic Society*, 1884, पृष्ठ संख्या २१५

२. "Akbar deputed Muizulmuluk against Iskandar and Bahadur....(He) fought a battle with Iskandar and Bahadur near Khairabad, four miles South-east of Sitapur district in which Iskandar was defeated and put to flight."

—अकबर दि ग्रेट, प्रथम भाग, पोलिटिकल हिस्ट्री (१९४२ से १६०४), लेखक डॉ० आशीर्वादी लाल, पृष्ठ संख्या १०२-२०३

३. **(अ) आइन-ए- अकबरी,** १, ४६५

(ब) वही—ले० अबुलफज्ल सल्लामी, अनु० H. Blockmann, पृष्ठ सं० ५१८

४. **वही**, Abdul Muqtad rose to command of 1000 Six hundred horse, and was Faujdar of Khayrabad. पृष्ठ सं० ५२३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त कर लिए ।[1] मेंहदी अली खां योग्य शासक था । उसने राजमार्गों के साथ ही महोली के निकटवर्ती कठना आदि पुलों का भी निर्माण कराया । हकीम मेहदी अली खां ने इन नवीन प्राप्त चकलों की व्यवस्था के लिए अपने भाई हादी अली खां को उत्तरदायी बना दिया । हादी अली खां के उपरान्त उसके पुत्र मुनावरुद्दौला को सन्तानहीन हकीम मेहदी अली खां की विशाल रियासत उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुई । इनके पश्चात् दो एक अन्य शासक भी हुए, किन्तु वे विशेष महत्त्व के नहीं थे ।

नवाबी काल में जनपद की सामान्य दशा असन्तोषजनक थी । अंग्रेज लेखक स्लीमैन के अनुसार खैराबाद तथा बिसवां-वाड़ी दोनों ही क्षेत्रों में लुटेरों का काफी भय था ।[2] कटेसर तथा महमूदाबाद रियासतों की दशा तो बहुत ही चिन्ता-जनक थी । जहां एक ओर रियासतों की दयनीय दशा थी, वहीं जनपद के छोटे-छोटे गाँव सम्पन्न भी थे । गांवों की इस कदर सम्पन्नता के विषय में स्लीमैन ने आश्चर्य व्यक्त किया है ।

आगे चलकर अवध के ब्रिटिश राज में मिला लिए जाने के पश्चात् खैराबाद-विभाग के कमिश्नर की देख रेख में फरवरी सन् १८५६ ई० में जनपद का एक मुख्यालय तो सीतापुर बना तथा दूसरा मल्लापुर । मल्लापुर बहराइच जनपद की सीमा पर स्थित था ।

जनपद ने स्वातंत्र्य-संग्राम में सक्रिय भाग लिया । रामकोट के जनवारों तथा बिसवां के सेठों को छोड़कर प्रायः सभी शासकों ने अंग्रेजों का मुकाबला करते हुए देश से बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया । महमूदाबाद के नवाब अली खां ने पहले तो अंग्रेजों का पक्ष लिया, किन्तु बाद में उनका कट्टर विरोधी बन गया । जनपद को विद्रोहियों के हाथ में चला गया देखकर सर होप ग्राण्ट के नेतृत्व में ११ अप्रैल को ब्रिटिश सेना चली । काफ़ी प्रयत्न के बाद उसने बाड़ी पर अधिकार प्राप्त कर लिया । स्वतन्त्रता सैनिकों को वहां से भागना पड़ा । १५ अप्रैल को महमूदाबाद पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया । अक्टूबर के अन्त में कर्नल टुप ने सीतापुर में प्रवेश किया तथा सीतापुर में एकत्र स्वतंत्रता सैनिकों को छिन्न-भिन्न कर दिया । ८ नवम्बर को मितौली पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया । मेंहदी के निकट स्वतंत्रता सैनिकों की शक्ति को पूरी तरह से कुचल दिया गया । शेष स्वतंत्रता सैनिक बहराइच भाग गए । लार्ड कलायड ने उन्हें वहां भी दम न लेने दिया । अन्ततः नैपाल की तराई में उन का समूल विनाश हो गया ।[3]

जनपद के अधिकार में आते ही स्थानीय शासन फिर से संगठित किया गया । सन् १८५९ ई० में कैप्टेन थामसन ने नए सिरे से सीतापुर स्टेशन का शिलान्यास किया । इन्हीं थामसन महोदय ने एक विशाल बाज़ार की भी नींव डाली,

---

१. "The greatest personality in the history of the district during this period was Hakim Mehndi Ali Khan, who after holding Muhamdi for three years took Khairabad as well in 1807, succeeding the notorius Shital Prasad Trivedi and paid Rs. 8, 11,000 for the two Chaklas." **सीतापुर गजेटिएर,** पृ० संख्या ११८

२. **"ए जर्नी थ्रू दि किंगडम आफ अवध"** ले० मेजर जनरल सर डब्लू० एच० स्लीमैन १९५८, ११, पृष्ठ संख्या २१५ ।

"दि सिपाय वार" ले० जनरल सर हीप आन्ट, लन्दन १८७३ ।

३. "In thd end of October Col. Troup entered the district, dispersed the Taluqdars who had cellected in front of Sitapur and after cspturing Mitauli on the 8th of Nov. inflicted a final defeat on the enemy near Mehndi. The remnants of the rebel army were then driven into Bahraich and there Lord Claide hemmed them till the majority perished in the Nepal Tarai. **सीतापुर गगेटियर,** पृष्ठ संख्या १३३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जो आज भी उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। साथ ही छावनी क्षेत्र को भी नया रूप दिया गया।

इसके अनन्तर अब हम जनपद के धार्मिक गौरव की ओर आते हैं। इस जनपद का सबसे प्रमुख एवं प्रसिद्ध तीर्थ है 'नैमिषारण्य'। यह तीर्थ गोमती के वामतट पर स्थित है। जैसा उल्लेख किया जा चुका है इसका विवरण विभिन्न पुराणों में मिलता है। इसके माहात्म्य के सम्बन्ध में कूर्म-पुराण में कहा गया है कि यह नैमिषारण्य तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। यह भगवान शंकर को परम प्रिय तथा महापातकों को दूर करने वाला है। यहां की गई तपस्या, श्राद्ध, यज्ञ दानादि एक एक क्रिया सात जन्मों के पापों का विनाश कर देती है।[1] इसकी गुहाओं में आज भी स्वाध्यायानुष्ठान चलता रहता है। लोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा ने यहीं ऋषियों को पौराणिक कथाएं सुनाई थीं।[2] वाराहपुराण के अनुसार यहाँ भगवान द्वारा निमिष मात्र में दानवों का संहार कर देने से नैमिषारण्य कहलाया। वायु तथा कूर्म आदि पुराणों में प्राप्त संकेतों के आधार पर भगवान के मनोमय चक्र की नैमि यहीं पर विशीर्ण हुई थी।[3]

नैमिषारण्य के साथ ही मिश्रित तीर्थ का भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है। यहाँ पर दधीचिकुण्ड है। जनश्रुति के अनुसार यही पर महर्षि दधीचि का आश्रम था। देवताओं के माँगने पर वज्र बनाने के लिए उन्होंने उन्हें अस्थियाँ यहीं पर दी थीं। यहाँ दधीचि ऋषि का मन्दिर भी है। कहते हैं कि दधीचिकुंड में समस्त तीर्थों का जल मिश्रित होने के कारण ही यह मिश्रित तीर्थ कहलाया। इस तीर्थ का माहात्म्य निर्देशन करते हुए कहा गया है :

ततो गच्छेत् राजेन्द्र! मिश्रकं तीर्थमुत्तमम्।
तत्र तीर्थानि राजेन्द्र मिश्रितानि महात्मना॥
व्यासेन नृपशार्दूल द्विजार्थमिति नः श्रुतम्।
सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यौ नरः॥

—महा० वनपर्व, तीर्थयात्रापर्व ८३।९१-९२; पद्म-पुराण, आदि खंड २६।८५-८६।

अर्थात् जो 'मिश्रक' में स्नान करता है, वह मानो सभी तीर्थों में स्नान करता है।

जनपद का हरगाँव तीर्थ भी कम महत्त्व का नहीं। यहाँ एक प्राचीन शिव मन्दिर है। कार्तिकी पूर्णिमा को इस स्थान पर बड़ा मेला लगता है। इसकी पौराणिकता के सम्बन्ध में अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है।

खैराबाद भी प्राचीनकाल में एक हिन्दू तीर्थ था। इसका तत्कालीन नाम 'मनसछत्र' था। इलाहाबाद विश्व-विश्वविद्यालय के तत्त्वाधान में हाल ही में हुई खुदाई से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है।[4]

---

१. **कूर्मपुराण**, उत्तर० ४२/१, १४
इदं त्रैलोक्य विख्यातं तीर्थं नैमिषमुत्तमम्।
महादेव प्रियकरं महापातकनाशनम्।
अत्र दानं तपस्तप्तं श्राद्धयागादिकं च यत्।
एकैकं नाशयेत् पापं सप्तकन्मकृतं तथा॥

२. **बृहद्धर्मपुराण**, १३/३३
एततु तु वैष्णवं क्षेत्रं नैमिषारण्य संज्ञितम्।
अधिष्ठायाद्यापि विप्राः कुर्वन्ति सत्क्रियाः सदा॥

३. **वायुपुराण**, १/१८१/८७→
प्रययुस्तस्य चक्रस्य यत्र तैमिर्व्यशीर्यत्।
तदवनम् तेन विख्यातं नैमिषं मूनिपुजितम्॥

४. "Khairrbad is reputed to be a very old Hindu tirth Manas Chhatra, Contemporeneous with Ahi Chhstra, recently excavated under the aegis of Allahabad University." **नेशनल हेराल्ड**, (21-7-57) सीतापुर सप्लीमेण्ट, Brief History of Sitapur. लेखक, डाक्टर नवल बिहारी मिश्र, पृ० सं० १।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अब आलोच्य काल की धर्मनिष्ठा पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लेना असंगत न होगा। राजनैतिक परिस्थितियों के साथ ही धार्मिक गतिविधियों में भी मोड़ आया। विभिन्न आक्रामक जातियों के सम्पर्क ने जनपद में ऐसी अनेक जातियों को जन्म दिया, जिनका रहन-सहन, रीति-रिवाज, विचार-पद्धति एवं धार्मिक दृष्टिकोण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न था। ऐसी जातियों में मुसलमान तथा ईसाई उल्लेखनोय हैं। इन पृथक भाषा-भाषियों के आगमन के साथ ही कर्मकांड की जटिलता के कारण यहाँ की मूल जातियाँ भी अनेक सम्प्रदायों में बँट गईं। सन् १९२३ ईसवी की जनगणना में ऐसे सम्प्रदायों की संख्या ७१ थी।[१] इनमें से वैष्णवों तथा शैवों के सम्प्रदाय अपेक्षाकृत अधिक विशाल थे। आर्यसमाज ने विशेष सन्तोषजनक प्रगति नही की। सन् १८९१ ई० में इस सम्प्रदाय में आस्था रखने वाले व्यक्तियों की संख्या ८८ थी। १९२३ ई० में यह संख्या घटकर ७३ रह गई।[२] हाँ, इधर लगभग चालीस वर्षों में इस सम्प्रदाय ने जो लोकप्रियता प्राप्त की, वह आश्चर्यजनक है। जनपद में जैनमतावलम्बी अल्पसंख्य हैं।

स्वतन्त्राता सिद्धि के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों में इस जनपद का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। सीतापुर का लालबाग पार्क आजादी के दीवानों की बलिदानी गाथा का चिरस्मारक है।

---

१. **सीतापुर गजेटियर**, पृ० सं० ५२।
२. **सीतापुर गजेटियर**, ,, ,, ५०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लखीमपुर-खीरी जनपद : ऐतिहासिकता तथा सांस्कृतिक विरासत

मानिक लाल गुप्त*

लखीमपुर खीरी उत्तर-प्रदेश के महत्वपूर्ण जनपदों में स्थान रखता है। महत्वपूर्ण होने का कारण जनपद की प्राचीन सांस्कृतिक विरासत और इस जनपद का भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान रहा है। जनपद का नाम 'खीरी' है परन्तु मुख्यालय लखीमपुर नगर में स्थित होने के कारण सामान्य रूप से प्रचलित नाम लखीमपुर-खीरी ही है। यह जनपद उत्तर में नेपाल से सटे होने के कारण राजनितिक तथा आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थिति रखता है। भारत-नेपाल सम्बन्धों में इस जनपद की सदैव महत्वपूर्ण भूमिका रही है। दोनों ही देशों के स्थानीय राजनीतिज्ञ, विद्यार्थी, व्यापारी सामाजिक और असामाजिक तत्त्व 'भारत-नेपाल' सम्बन्धों को प्रभावित करते रहे हैं।

अतीत में इस जनपद में 'खैर' (कत्था) के अत्यधिक जंगल विद्यमान थे और अब भी बहुत कुछ हैं, इसी से यह जनपद 'खैर'-'खैरी'-'खीरी' के नाम से लोकप्रिय हुआ। जनपद में विद्यमान खैरीगढ़ स्टेट के अवशेष तथा वंशज इस तथ्य की प्रामाणिकता के प्रतीक हैं। इस जनपद का जंगल कभी अवध साम्राज्य में सबसे कीमती जंगल समझा जाता था। इसकी मूल्यवान लकड़ी पाने के लिए भारत के दूरस्थ राजे अवध के नवाबों से सम्पर्क करते रहते थे। वर्तमान में भी जनपद का जंगल 'प्रदेश' में महत्वपूर्ण स्थिति रखता है। लखीमपुर नगर से १०४ कि० मी० उत्तर-पश्चिम में 'दुधवा नेशनल पार्क' सुरभित सुरक्षित अरण्य है।

खीरी जनपद में महत्वपूर्ण रियासतें

इतिहास की पर्तों में उल्लेखनीय प्रामाणिक तथ्य यह व्यक्त करता है कि इस्लामशाह सूर (अफगान-शासक) के राज्यकाल में (१५५३ ई० में) यज्ञमान जनवार नामक व्यक्ति को खीरी परगने का चौधरी नियुक्त किया गया था। इसी के वंशज प्रबलसिंह को मुगल सम्राट बहादुरशाह ने १७०९ ई० में 'राय' का खिताब प्रदान किया था। इसी परम्परा में आगे चलकर मेहरमान शाह बहुत ही पराक्रमी राय हुआ जिसकी पुत्री का विवाह जयपुर के समीप नीमराणा के चाहमान वंश के हरदेवशाह के साथ सम्पन्न हुआ। हरदेवशाह के वंशजों ने खीरी जनपद में तीन रियासतें 'ओयल', 'महेवा', 'कैमहरा' स्थापित की थीं। इन तीनों रियासतों में 'ओयल' रियासत की सीमायें सभासिंह के समय में अधिक विस्तृत हो गईं, इसके उत्तराधिकारी अनरुद्ध सिंह को अवध के नवाब वाजिदअलीशाह ने 'राजा' का खिताब प्रदान किया था। १८६७ ई० में ब्रिटिश सरकार ने 'राजा' को पैतृक मान्यता प्रदान कर दी थी।

इस जनपद की दूसरी उल्लेखनीय रियासत 'अहवन' राजपूतों की थी जिसका प्रमुख केन्द्र 'मितौली' था। इस स्टेट के अन्तिम राजा लोने सिंह ने १८५७ ई० के स्वतन्त्रता संग्राम में अपने साहस, शौर्य तथा देशभक्ति का परिचय देकर स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानियों में अमरत्व प्राप्त किया था। मानव तथा प्रकृति के कोप से धँसी हुई गढ़ी इस वीर राजा की यादगार में अभी भी शेष है।

जनपद की अन्य उल्लेखनीय रियासत 'धौरहा' थी। इसे मुगल सम्राट जहाँगीर के समय में अजमेर के चाहमान राजपूत अख्यराजसिंह(अक्षयराजसिंह)ने स्थापित किया था। इसके पौत्र चतुर्भुज सिंह को मुगल सम्राट औरंगजेब ने वीरता प्रदर्शन से प्रभावित होकर, 'जंग-अंगेज खाकती राजा' का खिताब प्रदान किया था। इसी उपाधि से लोकप्रिय यह राजा और इसके वंशज स्थानीय भाषा में बिगड़ते शब्दों से 'जांगड़ा' राजा कहलाने लगे। १८५७ ई० में जांगड़ा राजा इन्द्रविक्रम सिंह ने ३३ माह तक ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लिया था। अन्त में यह बन्दी बना लिये गये तथा अण्डमान निकोबार द्वीप भेज दिया गया, जहाँ यह वीर सदैव के लिये विलीन हो गया।

* इतिहास विभाग, वाई० डी० कालेज, लखीमपुर-खीरी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जनपद की एक प्रसिद्ध रियासत 'खैरीगढ़ स्टेट' के नाम से अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं से सम्बद्ध थी। इसके वंशज आज भी सिंगाही में हैं। मुगल सम्राट अकबर के समय इस स्टेट के राजा अर्जुनमल थे। अकबर ने इनकी वीरता से से प्रभावित होकर इन्हें महाराजा की उपाधि प्रदान की थी। इस स्टेट के वैवाहिक सम्बन्ध दोती स्टेट (नेपाल के गुरखा राजा) से थे। इस स्टेट की रानी सूरत कुँवरि नेपाल के राजा भूपशाह की पुत्री थीं।

प्राचीन स्थापत्य अवशेष तथा जनश्रुति

यह जनपद अनेक जनश्रुतियों तथा प्राचीन स्थापत्य स्मारकों को संजोये हुये है। इस जनपद की मुहम्मदी तहसील में स्थित 'बालमिया बरखर' नामक ग्राम जनश्रुति के अनुसार महाभारत के वैराट राजा की राजधानी था जहाँ निर्वासन अवधि में पाण्डवों ने अपना समय व्यतीत किया था।

खैरीगढ़ के समीप 'कुन्डलपुर' ग्राम 'कृष्ण-रुक्मिणी' की की गाथा को संजोये हुये हैं। कहते हैं कृष्ण रुक्मिणी को यहीं से ले गये थे।

बौद्धकाल (६०० ई० पू०—३०० ई० पू०) के भी कुछ अवशेष यहाँ पर प्राप्त हुये हैं। एक प्राचीन अवशेष, जो खैरीगढ़ किले से ३ कि० मी० दूर जंगल से प्राप्त की गई थी लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है, बोद्धकालीन कलाकृति की श्रेष्ठ प्रतीक है। इस पर उत्कीर्ण घोड़ा शिल्पकला के विकास, विस्तार एवं शौर्य का प्रतीक है। यहीं से सम्राट समुद्रगुत की की एक मुद्रा तथा कन्नौज के राजा भोजदेव की अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई थीं, जिनसे इस जनपद की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है।

खैरीगढ़ किले की प्राचीनता सन्दिग्ध नहीं है। सम्भवतः यह किला १३७९ ई० में सुल्तान फिरोज शाह तुगलक के समय में निर्मित हुआ था। यह किला उत्तर भारत के महत्वपूर्ण किलों में से एक था जो सल्तनत की सीमा सुरक्षापंक्ति का निर्माण करते थे। चूँकि सल्तनत की सीमायें नेपाल राज्य को स्पर्श करती थी अतः इस किले का जो सीमा पर स्थित था, विशेष महत्व रहा होगा। 'आईन-ए-अकबरी' में अबुल फजल ने इस किले की सुदृढ़ता, एवं सामरिक महत्व का उल्लेख किया है।

इस जनपद का औरंगाबाद कस्बा नवाब सैयद खुर्रम ने मुगल सम्राट औरंगजेब के काल में उसी के नाम से स्थापित किया था। नवाब ने यहाँ पर किला, महल तथा मस्जिद का निर्माण कराया था जो जीर्ण-अवस्था में अभी भी विद्यमान है। जनपद का बरबर क्षेत्र सैय्यदों का प्रसिद्ध केन्द्र था। इस कस्बे में औरंगजेब के काल की निर्मित मस्जिद के अवशेष देखे जा सकते हैं।

जनपद में उल्लेखनीय दर्शनीय क्षेत्र 'गोला गोकर्णनाथ' है। यह प्रदेश के महत्वपूर्ण तीर्थस्थानों में से है। यहाँ का प्राचीन तथा प्रसिद्ध शिवलिंग तीर्थयात्रियों का मुख्य आकर्षण है। यह शिवलिंग गोकर्णनाथ मन्दिर में प्रतिष्ठापित है तथा हजारों की संख्या में आने वाले यात्री भक्तगण गङ्गाजल तथा विल्वपत्रों से इस शिवलिंग का प्रक्षालन करते हैं। जनश्रुति है कि रावण 'शिव' को कैलाश से लङ्का ले जाने हुये यहीं ठहरा था। भगवान् शिव ने यहीं रावण के आग्रह को ठुकरा दिया था तथा शिवलिंग पृथ्वी में धँसता चला गया, तब रावण ने असहाय होकर यहीं शिव की अभ्यर्थना की थी। यह प्रसिद्ध शिवलिंग मन्दिर में १.२ मी० गहराई में स्थापित है।

पुरातात्विक अवशेषों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह क्षेत्र बौद्धों का प्रसिद्ध केन्द्र रहा होगा। मन्दिर की दीवालों पर तथा समीपवर्ती क्षेत्र में अनेक मिट्टी की प्रतिमायें—तथा समय-समय पर कुछ मूर्तियाँ उत्खनन में प्राप्त हुई हैं जिससे इसके बौद्धनगरी होने का भी अनुमान किया जा सकता है। मन्दिर के समीप ही गोसाइयों की समाधियाँ बौद्ध स्तूपों का आभास देती हैं। शिवलिंग भी बौद्ध स्तम्भ सदृश प्रतीत होता है।

लखीमपुर नगर से ठीक १ कि० मी० पश्चिम में स्थित देवकली भी प्राचीन नगरी थी। यहाँ पर प्रसिद्ध सूर्यकुण्ड विद्यमान है। सम्भवतया यह स्थल सूर्यपूजा का केन्द्र रहा। जनश्रुति है कि राजा जनमेजय का नागयज्ञ यहीं सम्पन्न हुआ था। सिंगाही से ८ कि०मी० उत्तर-पश्चिम में प्रसिद्ध सरयू नदी के बाँये तट पर स्थित 'किला गौरी शाह' मुख्य केन्द्र है। इसे फीरोजशाह तुगलक ने निर्मित कराया था। इसका उल्लेख अबुलफजल ने 'आईन-ए-अकबरी' में किया है।

इस प्रकार यह जनपद अपने में प्राचीन, मध्यकालीन, एवं वर्तमान समय की अनेक घटनाओं तथा अवशेषों को संजोये हुये है। यह अवध के महत्वपूर्ण जनपदों में उल्लेखनीय रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पिथौरागढ़ जनपद का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

श्याम लाल

हिन्दुओं के पवित्र तीर्थ-स्थल कैलाश मानसरोवर को जाने वाले मार्ग में अवस्थित जनपद पिथौरागढ़ की पुनीत वसुमती युग-युगों से भारतीय इतिहास के पन्नों में पन्ने जोड़ती आ रही है। देश के समतल भागों में समय-समय पर विदेशी आक्रामकों के जो घात-प्रतिघात होते रहे, उनकी प्रतिध्वनि से सुदूरस्थ यह भूमि भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। अनुश्रुतियों एवं कतिपय पुरावशेषों से ज्ञात होता है कि यहाँ आदि काल से ही अनेक नस्लों एवं जातियों के लोगों ने राज्य किया था, जिनमें किन्नर, किरात, यक्ष, गन्धर्व, खस, दरद, नाग, शक, कुषाण, हूण, सोर, ओड्र, चाण्डाल, वैदिक हिन्दू तथा अंग्रेज प्रमुख थे। इन विभिन्न एवं विचित्र जातियों का यहाँ जो समन्वय हुआ, उसके मूल-चूलों को खोज पाना नृतत्त्व-विज्ञानियों के लिए भी दुष्कर नहीं, तो कठिन कार्य अवश्य है। यहाँ राजाओं का इतिहास उतना अधिक महत्त्वपूर्ण नही रहा, जितना कि जन-सामान्य का। यहाँ की शिल्पकृतियाँ एवं अन्य सांस्कृतिक वस्तुयें इसकी ऐतिहासिक गौरव-गरिमा में चार चाँद लगा देती हैं।

जहाँ आज पिथौरागढ़ जनपद का मुख्यालय है, उसका पुराना नाम 'सोर' था। यह नाम कत्यूरी नरेश ललितशूरदेव के पांडुकेश्वर ताम्रपत्राभिलेख के अतिरिक्त परवर्ती चन्दवंशी राजाओं के अभिलेखों में भी पाया जाता है।[1] 'पिथौरागढ़' नाम तो केवल अंग्रेजों के समय से प्रकाश में आने लगा। 'सोर' नाम पड़ने का कारण यहाँ 'सोर' नामक नागजाति द्वारा राज्य किया जाना था। पांडुकेश्वर ताम्रपत्र[2] में अन्य जातियों के अलावा 'सोर' को भी ललितशूरदेव की अधीनस्थ जाति कहा गया है। इसी प्रकार पिथौरागढ़ नामकरण के संबंध में भी दो-तीन मत हैं। किन्तु, सर्वमान्य मत यह है कि यहाँ पिथौरा नामक एक स्थानीय राजा ने राज्य किया था और उस स्थान पर अपना एक गढ़ (किला) बनाया था, जहाँ आज सदर तहसील की इमारत है। इसी गढ़ के नीचे पश्चिम व दक्षिण की ओर आज 'पिथौराटा' नामक एक गाँव भी है।

भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से पिथौरागढ़ जिला कुमायूँमण्डल के उत्तर-पूर्वी भाग में पड़ता है। इसके उत्तर में तिब्बत, पूर्व में नेपाल एवं कालीनदी, दक्षिण में नैनीताल तथा पश्चिम में अल्मोड़ा एवं चमोली स्थित हैं। जिले में इस समय पाँच तहसीलें हैं—पिथौरागढ़, डीडीहाट, मुनस्यारी, धारचूला तथा चम्पावत। इनमें से मुनस्यारी मिलन ग्लेशियर जाने वाले मार्ग में पड़ता है और धारचूला मानसरोवर जाने वाले मार्ग में।

२४ फरवरी १९६० ई० में पिथौरागढ़ जनपद की स्थापना हुई। उस समय इसमें कुल ३२ पट्टियाँ थीं। दिसम्बर, १९६८ ई० में पिथौरागढ़ को कुमायूँमण्डल में मिलाया गया। प्रारम्भ में चम्पावत तहसील पिथौरागढ़ में नहीं थी, किन्तु ३ मई, १९७२ ई० में इसे भी पिथौरागढ़ में मिला दिया गया। इस प्रकार वर्तमान समय में पिथौरागढ़ जनपद का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल ८,८५५ वर्ग किलोमीटर है। यह समुद्र तट से २५० मीटर की ऊँचाई से ७,३०७ मीटर की ऊँचाई तक घाटियों तथा हिमालय पर्वत की श्रेणियों के मध्य स्थित है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हम पिथौरागढ़ के इतिहास को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

१. प्राचीनकाल : जिले का प्राचीन इतिहास लोकोक्तियों एवं पुरावशेषों पर आधारित है। पुरावशेषों में यौधेयों तथा कुणिन्दों के सिक्कों के अतिरिक्त शक एवं

१. लछिमन चन्द का मूनाकोट ताम्रपत्र तथा उद्योत चन्द का ताम्रपत्र।

२. बदरीदत्त पाण्डेय, **कुमाऊँ का इतिहास**, पृ० १९८, पं० १४-१५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुषाण राजाओं द्वारा निर्मित भौतिक तथा धार्मिक दोनों ही प्रकार की मूर्तियाँ भी यहाँ प्रायः देखने को मिलती हैं। किन्तु कुल मिलाकर ये पुरातात्त्विक प्रमाण ई० सन् के बाद के ही माने जा सकते हैं। किंवदंतियों के अनुसार ईसवी सन् से काफी पूर्व से यहाँ अनार्य जातियों का शासन चलता था। यहाँ असुरों तथा दानवों द्वारा राज्य करने के भी संकेत मिले हैं। 'असुर' का तात्पर्य यहाँ बौद्ध धर्मावलम्बी राजाओं से होता था। बौद्ध-मठों एवं विहारों को भी यहाँ के लोग अभी तक 'असुर चूला' नाम से पुकारते आ रहे हैं। बौद्धों को असुर कहने के प्रमाण मार्कण्डेयपुराण के 'देवी माहात्म्य' तथा भागवत पुराण में भी देखे जा सकते हैं जिनमें बुद्ध के अनुयायियों को 'सुर-द्विष' (असुर) कहा गया है। ज्ञात होवा है कि यहाँ ईसा के पहले और बाद में भो बौद्ध धर्म बहुत जोरों पर था। असुरों के अतिरिक्त किरातों, खसों (एक संस्कार-विहीन जाति), शकों, हूणों, कुणिन्दों, ओड्रों, आन्ध्रों, नागों तथा चाण्डालों के द्वारा भी यहाँ राज्य करने के उल्लेख मिलते हैं।[१] चम्पावत में स्थित 'चाण्डालकोट' आज भी इस बात का साक्षी है कि वहाँ कभी चाण्डाल जाति ने राज्य किया था। किरात लोग काँगड़ा से लेकर बैजनाथ (अल्मोड़ा) तक राज्य करते थे। यहाँ द्रविड़ों, चेरों और गौंड़ों ने भी राज्य किया था जिनके नामों से सम्बद्ध आज भी अनेक स्थान यहाँ मौजूद हैं। चेरों जाति द्वारा यहाँ राज्य करने की पुष्टि डॉ० डी० डी० कोसांबी ने भी की है।[२] ओड्र तथा आन्ध्र भी द्रविड़ जाति के थे। असम्भव नहीं कि पिथौरागढ़ जनपद का 'वड्डा' नामक स्थान ही ओड्रों से सम्बद्ध रहा हो।

यहाँ सर्वाधिक समय तक नागों ने राज्य किया था। हांप्किन्स महोदय के अनुसार नाग जाति के लोग मंगोलिया के मूलनिवासी थे। वे भारत में आकर बस गये। यह जाति बड़ी शक्तिशाली थी। आर्यों से इनके युद्ध हुए थे और अंततः आर्यों के हाथों पराजित होने के उपरान्त ये इधर-उधर, मुख्यतया पर्वतीय प्रदेशों में, बस गये थे। महाभारत से शेषनाग, वासुकि, कर्कोटक, धृतराष्ट्र, तक्षक आदि नागजातियों के नाम मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अनन्त, गण, भूत, चिंडा, बिंडा, केदार, बस्तिस तथा बल्तिर नाम की भी अन्य-नाग जातियाँ थीं। सर्प इनका वंश-चिह्न तथा देवता था। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ-लेख तथा स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ शिलालेख में भी इनका उल्लेख है। ये काश्मीर से लेकर काँगड़ा-कुलूत घाटी एवं कुमायूँ-गढ़वाल सहित अधिकांश उत्तरी भारत पर राज्य करते थे। चिन्डा नाग आधुनिक पिथौरागढ़ के चण्डाक तथा बिंडानाग बिंडाक (बेरीनाग) में भी राज्य करते थे। चिंडा नाग पीलीभीत[३] तथा मध्य प्रदेश में भी रहते थे। पहाड़ों में प्रचलित सिंदुवा-बिंदुवा से संबंधित कहानियाँ भी सिंदुवा-बिंदुवा नामक नाग वीरों से संबंध रखती हैं।

यहाँ से शक एवं कुणिन्दों के भी पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। शकों ने यहाँ सूर्य-प्रतिमाओं की पूजा का प्रचलन किया। पिथौरागढ़ के उत्तर में स्थित तिब्बती सीमांत पर बसी शौका जनजाति (भोटिया) पर तो आज भी शक-प्रभाव देखा जा सकता है। पिथौरागढ़ के दक्षिण-पश्चिम में स्थित थरकोट के एक मन्दिर में एक शक-राजा की प्रतिमा है जो शक-वेश में है।

कुमायूँ के इतिहास निर्माण में खस जाति का विशेष योगदान माना जाता है। प्राचीनकाल में समूचे हिमालयवर्ती क्षेत्रों में खसों के राज्य थे। मनु उन्हें व्रात्य-क्षत्रिय कहते हैं; जो मोनियर विलियम्स के अनुसार, संस्कार-विहीन पतित लोग थे। वे न जनेऊ धारण करते थे और न वैदिक विधि-विधानों का पालन करते थे। उनके नाम भी प्रायः महा-प्राणान्त होते हैं। यथा—बिजड़, जीजड़, जाजड़, जड़, पीड़ा, नागू, भागू, कलसू, जाहल, मूल, आदि।[४] दसवीं

---

१. 'अष्टादश प्रकृत्यधिष्ठानीय-खस-किरात-द्रविड़-कलिंग-सोर-हूणोड्र-मेदान्ध्र-चाण्डाल पर्यन्ता-सर्वसंवस्समस्त-जनपदान्'—ललितशूरदेव का पांडुकेश्वर ताम्रपत्र।

२. **इंडियन सोसाइटी : हिस्टॉरिकल प्रॉबिम्स**, पृ० ३३२।

३. **भण्डारकर की अभिलेख सूची**, पीलीभीत स्थित देवल अभिलेख, नं० ९२।

४. पाण्डेय, **कुयायूँ का इतिहास**।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शती के कवि राजशेखर ने कार्तिकेयनगर (कत्यूर-अल्मोड़ा) में खसों के राज्य का उल्लेख किया है। यहाँ के खसाधिपति के साथ गुप्तवंशी रामगुप्त व द्वितीय चन्द्रगुप्त के युद्ध का प्रसंग अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इस प्रकार पिथौरागढ़ का यह क्षेत्र जहाँ एक ओर अशोकीय साम्राज्य का एक सीमावर्ती भाग था, वहीं असंभव नहीं कि यह गुप्तों के सुविशाल साम्राज्य का भी एक सीमावर्ती भाग रहा हो।

भारतीय इतिहास के पूर्व-मध्यकाल में यहाँ कत्यूरी राजाओं द्वारा राज्य करने के भी साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। कत्यूरियों द्वारा इस क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिये जाने के पूर्व यहाँ काली कुमाऊँ को केन्द्र बनाकर चाण्डालों ने राज्य किया था। कालान्तर में जब कत्यूरी नरेश शक्तिशाली हुए, तो उन्होंने अन्य जातियों की भाँति चाण्डालों को भी अपने अधीन कर लिया था। कत्यूरी राजाओं ने अपने साम्राज्य में भोट-पर्यन्त तमाम राजाओं को विलीन कर एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की थी। इसकी पुष्टि कत्यूरी नरेश देसटदेव के बालेश्वर (चम्पावत)-मन्दिर अभिलेख से होती है।

२. मध्यकाल : पिथौरागढ़ के इतिहास का मध्यकाल मुख्यतया चन्दवंशी राजाओं का काल माना जाता है। लगभग १०वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध से लेकर १६वीं शती के अंतिम दशक तक यहाँ अनेक मांडलिक राजाओं द्वारा राज्य करने के उल्लेख मिलते हैं। ये माण्डलिक राज्य कत्यूरी साम्राज्य से स्वतन्त्र होने के बाद स्थापित हुए थे। ये माण्डलिक राज्य थे—सोर, सीरा, गङ्गोली, अस्कोट तथा दारमा-जोहार। स्वतन्त्र होने के पश्चात् इन माण्डलिक राज्यों के राजाओं ने भी अपने को राजा, महाराजाधिराज, परममाहेश्वर, परमवैष्णव तथा देव जैसी उपाधियों से विभूषित करना प्रारम्भ कर दिया था। सीरा (डीडीहाट) में लगभग १०वीं-११वीं शताब्दियों में डोटी (नैपाल) के मल्ल वंश ने अपना आधिपत्य जमाया। बत्यूली (थल) ताम्रपत्र-अभिलेख से इस वंश की प्राचीनतम तिथि १३५३ ई० (शाके—१२७५) ज्ञात हुई है। इसमें श्रीराजाधिराज राइ तारामृगांक के पौत्र तथा राइ प्रतापनारायण के पुत्र श्री निरैपाल (निर्णयपाल) का उल्लेख है जो अटकिसन द्वारा प्रस्तुत वंशावली में नहीं मिलता। बत्यूली से ही १४४२ ई० (शाके १३६४) का एक अन्य ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है, जिसे महाराजाधिराज बलिनारायण ने जारी किया था। उक्त अभिलेख में बलिनारायण को चौवालीस राइ राजाओं का भर्तार कहा गया है। बलिनारायण के पश्चात् लगभग तीन पीढ़ियों तक सीरा में डुंगरा बसेड़ा के वंशजों ने राज्य किया। किन्तु शोभामल्ल ने बसेड़ों को वहाँ से मार भगाया और पुनः मल्लवंश की स्थापना की। परन्तु शोभामल्ल के पुत्र हरिमल्ल के समय चन्द राजा रुद्रचन्द ने सीरा को विजित कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार सीरा से मल्लवंश का पतन हुआ। यह घटना लगभग १५९० ई० की है।

कत्यूरी साम्राज्य से स्वतन्त्र होने वाले राज्यों में सीरा के बाद सोर का नम्बर था। सोर, अस्कोट, दारमा-जोहार आदि इस काल में सीरा के अधीन रहे। सोर (पिथौरागढ़ खास) उस समय नौ राजाओं द्वारा शासित था जो सीरा को कर दिया करते थे। इन नौ राजाओं में उदयपुर कोट का बम (ब्रह्म) राजा भी एक था। बम राजा डोटी राजवंश से संबंधित थे। इनकी अभी तक पूरी वंशावली प्राप्त नहीं हुई है। अटकिंसन ने बम राजाओं के इन नामों को गिनाया है—कराकील बम, चन्द्र बम, हरक बम, अनि बम, शक्ति बम, विजय बम तथा हरि बम। इन्हीं में से एक उदय बम भी था, जिसने उदयपुर नामक राजधानी की नींव डाली। विजय बम का शक संवत् १३४९ (१४२७ ई०) का एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है,[१] जिससे बमों के उत्कर्ष पर कुछ प्रकाश पड़ता है। सारांशतः उनका उत्कर्ष भी १२वीं शती ई० में ही हुआ होगा। पिथौरागढ़ नगर के पश्चिम में स्थित हुड़ेती नामक ग्राम से भारतीचन्द का एक ताम्रपत्राभिलेख प्राप्त हुआ है, जिस पर शक संवत् १३७३ की तिथि पड़ी है। यह इस बात का द्योतक है कि कम से कम १३७३ शक (१४५१ ई०) तक सोर में चन्दों का अधिकार हो गया था। इसमें साक्षी के रूप में भारती चन्द के पुत्र रत्नचन्द का भी उल्लेख है। अतः कुछ काल तक चन्दों ने सोर के बमों को अपने अधीनस्थ सामन्तों के रूप में भी शासन करने दिया था। किन्तु प्रतीत

१. यह ताम्रपत्र इस समय श्री जे० सी० पाटगी, नयाबाजार, पिथौरागढ़, के अधिकार में है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है कि सोर के मामले में चन्दों और सीरा के मल्लों के मध्य काफी समय तक संघर्ष चलता रहा और कुछ काल के लिये सोर पुनः मल्लों के अधिकार में चला गया था क्योंकि जिस समय बालो कल्याण चन्द की रानी ने डोटी (सीरा) के अपने पिता हरिमल्ल से सीरा दहेज में माँगा था उस समय रैंका राजा ने सीरा के बजाय उसे सोर देने का वचन दिया था। बालो कल्याण चन्द का समय १५६० से १५६८ ई० था, अतः इस समय सोर भी सीरा में रहा होगा। इस काल में सोर पर पुनः बमों का अधिकार हो गया।

सोर एवं सीरा की भाँति गङ्गोली (गङ्गावली) में भी एक माण्डलिक राज्य था, जिसे मणकोटी राज्य कहते थे। यहाँ १५वीं शती में चन्द्रवंशी राजाओं ने अपने राज्य कायम किये। गङ्गोलीहाट के जान्हवी नौले से १२६४ ई० का एक अभिलेख मिला है। इसमें गङ्गोले राजाओं का उल्लेख है। बैजनाथ (अल्मोड़ा) के लक्ष्मी-नारायण मन्दिर में भी १३५२ ई० का एक लेख मिला है। इसमें कहा गया है कि हमीरदेव, लिंगराजदेव तथा धारलदेव नामक तीन गंगोला राजाओं ने उक्त मन्दिर के कलश का निर्माण किया। वहीं पर भोग मन्दिर में रखी हुई एक गौरी-महेश्वरी की मूर्ति पर १३६५ ई० का एक अन्य लेख मिला है जिसमें कहा गया है कि कल्हण पंडित की पत्नी सुभद्रा ने अपना एक संकल्प पूरा किया था। इसमें विचित्र बात यह है कि १३५२ तथा १३६५ ई० में हमीरदेव राजा था और उसी के साथ लिंगराजदेव एवं धारलदेव नामक दो राजा भी राज्य करते थे। ये तीनों राजा सम्भवतः भाई थे और अलग-अलग राज्यों में राज्य करते थे।

मनकोट के चन्द्रवंशी राजाओं में नारायण चन्द अंतिम स्वतन्त्र राजा था जिससे कुमायूँ के चन्द्रवंशी राजा बालो-कल्याणचन्द ने मनकोट का राज्य छीन कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। इनका समय १३६५ ई० के पश्चात् ही मानना समीचीन होगा, और चन्दों द्वारा पराजित किये जाने के बाद भी ये मनकोट में चन्दों के अधीन रजवारों की हैसियत से शासन करते रहे। पृथ्वीचन्द्र के अठिगाँव ताम्रपत्र[1] (शक १५३२-१६१० ई०) में पृथ्वीचन्द्र को रजवार कहा गया है।

कत्यूरी राजाओं के माण्डलिक राज्यों में काली कुमायूँ का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ कत्यूरियों के पूर्व चाण्डाल तथा खस राजा राज्य करते थे। शक संवत् ११४५ (१२२३ ई०) के क्राचल्लदेव के बालेश्वर मन्दिर ताम्रपत्राभिलेख[2] में इन माण्डलिक राजाओं के नाम इस प्रकार हैं—श्री याहड़देव माण्डलिक, श्री चन्द्रदेव माण्डलिक, हरिराज रावत राजा, श्रीअनिलादित्यरावतराजा, श्री विलयचन्द्र माण्डलिक, वाद्यचन्द्र माण्डलिक, श्री जयसिंह माण्डलिक, जिहलदेव माण्डलिक, श्रीबल्लालदेव माण्डलिक, मुसादेव माण्डलिक। अस्तु, क्राचल्लदेव जिनिकुल में उत्पन्न हुआ था और बौद्धधर्मावलम्बी था। क्राचल्लदेव के वंशज अशोक चल्ल के अभिलेख बोध गया के अतिरिक्त गोपेश्वर से भी उपलब्ध हुए हैं। प्रतीत होता है कि चल्लनामान्त ये राजा नेपाली आक्रामक थे और कुछ समय तक कुमायूँ तथा गढ़वाल में राज्य करने के उपरान्त चन्दों द्वारा पराजित कर पुनः नेपाल की ओर भगा दिये गये थे। काली कुमाऊँ से कत्यूरियों का अंतिम निष्कासन भी क्राचल्लदेव ने ही किया था। कदाचित् इन्हीं विजयों के उपलक्ष में उसने बौद्धों की पवित्र-भूमि बोध गया की भी यात्रा की थी।

उपरोक्त राज्यों के अतिरिक्त पिथौरागढ़ के उत्तर-पश्चिम में स्थित अस्कोट में भी काफी समय तक रजवारों ने जमींदारों की हैसियत से सामन्ती-शासन की बागडोर ग्रहण की थी। ये अपने को कत्यूरी खानदान का मानते थे तथा नाम के अन्त में 'पाल' उपनाम धारण करते थे। इनकी प्रारम्भिक राजधानी लखनपुर तथा उत्तरवर्ती राजधानी अस्कोट में थी। ये किसानों पर मनमाना कर लगाने, उनका दमन करने तथा कुत्सित न्याय-प्रणाली के लिये कुख्यात हैं। छोटे जमींदार होते हुए भी ये 'महाराज' तथा 'महाराजाधिराज' जैसी भारी-भरकम उपाधि धारण करते रहे। इस

---

१. **पर्वतीय इतिहास परिषद् की शोध-पत्रिका,** अंक ३, पृष्ठ ११।

२. यह अभिलेख पहले देसटदेव द्वारा जारी किया गया और बाद में क्राचल्लदेव ने भी इसी पर अपना अभिलेख खुदवाया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संदर्भ में तिलकपाल का शक संवत् १३४३ (१४२१ ई०) का अभिलेख द्रष्टव्य है—

"ॐ स्वस्ति। श्री शाके १३४३ चैत्रवदि पंचम्यां तिथौ चन्द्र दिनेमूल-नक्षत्रे। श्री राजाधिराज परममाहेश्वर तिलकपाल भूपालसान्नपुर सपरिवार पादा चिरं जयन्तु।"

काली कुमाऊँ और पिथौरागड़ जनपद में सबसे अधिक जिस वंश ने राज्य किया वह था चन्द वंश। चन्द लोग चन्द्रवंशी चन्देल राजपूत थे। डॉ० स्मिथ चन्देलों को गौड़ तथा घर नामक आदिवासियों की मिश्रित सन्तान[1] मानते हैं। कुमायूँ में इस वंश की स्थापना सोमचन्द ने की थी। प्रतीत होता है कि सोमदेव यहाँ तीर्थाटन के बहाने मैदानी भागों से आया था और कत्यूरी राजा से कुछ जमीन प्राप्त कर चम्पावत में बस गया था। यदि हम क्राचल्लदेव के माण्डलिक राजाओं में चन्दों की भी गणना करें, तो ज्ञात होता है कि कुमाऊँ में चन्द वंश की स्थापना लगभग १०वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुई थी और १७९० ई० तक निर्बाध गति से इस वंश ने लगभग सारे कुमायूँ में एकच्छत्र साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। यद्यपि सोमचन्द के बाद अनेक राजा हुए थे, किन्तु ऐतिहासिक साधनों के अभाव में सभी के विषय में विस्तृत विवरण नहीं दिया जा सकता।

सोमचन्द के बाद आत्मचन्द राजा हुआ, अटकिंसन महोदय का कथन है कि उसी के समय में कुमाऊँ में खसिया-विप्लव हुआ था। किन्तु शीघ्र ही घोहरचन्द ने अपना राज्य दृढ़ता से स्थापित कर लिया। घोहरचन्द के बाद कल्याणचन्द, त्रिलोक चन्द, धर्मचन्द तथा अभय चन्द एक के बाद एक राजा बने। किन्तु उनका शासनकाल किन्हीं महत्वपूर्ण घटनाओं के अभाव में प्रभावशून्य ही सिद्ध हुआ।

लगभग १३७४ ई० में गरुड़ ज्ञान चंद चंपावत में राजबुङ्गा की गद्दी पर बैठा। उसका शासन काल चन्दवंशी राजाओं के इतिहास में विशेष घटनापूर्ण माना जाता है। उसी के समय मुस्लिम इतिहासकारों को कुमाऊँ की जानकारी हुई थी। १४१९ ई० के आसपास ज्ञान चन्द की मृत्यु हो गई और उसके बाद हरिहर चन्द, उद्यान चन्द, आतन चन्द तथा हरिचन्द नामक चन्द राजा एक के बाद एक गद्दी पर बैठे। हरिचन्द के बाद सन् १४२३ ई० में विक्रम चन्द तथा सन् १४३७ ई० में भारती चन्द सिंहासनारूढ़ हुये। भारती चन्द के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने कुमायूँ से डोटी राजाओं का आधिपत्य समाप्त कर दिया। उन्होंने अपने पुत्र रत्नचन्द की सहायता से डोटी-विजय की और उसी उपलक्ष में जुमला, बजांग, थल, सोर ओर सीरा को भी अपने अधीन कर लिया। भारती चन्द के अवतक अनेक ताम्रपत्र उपलब्ध हुये हैं जिनमें से हुड़ेती ताम्रपत्र उनकी अन्तिम तिथि १४५१ ई० (शाके १३७३)[2] पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। भारती चन्द के बाद रत्नचन्द गद्दी पर बैठा। उसके बाद कीर्तिचन्द, प्रतापचन्द, ताराचन्द, मानिकचन्द, कुली कल्याण चन्द, पूरन चन्द, भीष्म चन्द आदि सिंहासनारूढ़ हुये। उनके बाद लगभग १५५५ ई० में बालो कल्याण चन्द सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने मनकोटी राजा नारायण चन्द से गंगोली छीनकर अपने राज्य में मिला लिया। उसकी रानी डोटी के रैका राजा की बहिन थी। अतः वह दहेज के बहाने सीरा लेना चाहता था; किन्तु सीरा उसे न मिला। इसके बजाय उसे सोर दे दिया गया। लेकिन इससे उसको संतोष न हुआ। इसके बाद उसके पुत्र रूपचन्द ने अपने पिता के स्वप्नों को पूरा करना चाहा। उसने सीरा के राजा हरिमल्ल पर चढ़ाई की और उसे जीतकर सीरा का राज्य अपने राज्य में मिला लिया। यही हाल सोर का भी हुआ। इस अर्थ में उसका राज्य काफी विशाल था। चन्दों से पराजित होने के बाद मल्ल भी डोटी (नेपाल) को भाग गये।

रूपचन्द के बाद लक्ष्मी चन्द, दीलिप चन्द, त्रिमल चन्द, (१६१६ ई०) विजय चन्द (१६२५ ई०), बाज बहादुर चन्द, उद्योत चन्द, ज्ञान चन्द, जगत चन्द, देवी चन्द, अजीत चन्द, कल्याण चन्द, दीप चन्द आदि सिंहासनारूढ़ हुये। इस कालमें गढ़वाल में बधाणकोट पर चढ़ाई की गई, अजैमेर के किले से नेपालियों का सफाया किया गया और रोहिल्लों के आक्रमणों का प्रतिरोध किया गया। वस्तुतः यह चन्दों का पतन काल

---

१. **जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल,** जि० ४०, पृ० २२९।

२. **पर्वतीय इतिहास परिषद् की शोध-पत्रिका,** अंक, ३, पृ० ११।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

था। फलस्वरूप अनेक षड्यन्त्र राजधानी में होते रहे। चन्दों की उत्तरवर्ती राजधानी अल्मोड़े के समय तो यह पारिवारिक सङ्घर्ष पराकाष्ठा को पहुंच गया। इस आन्तरिक कलह का परिणाम यह हुआ कि चन्दों का चिरकाल से स्थापित एक बड़ा राज्य नेपाली गोरखों के हाथ चला गया।

३. आधुनिक काल : १७९० ई० में नपाल नरेश के चाचा हस्तीदल चौतरिया तथा अमरसिंह थापा के नेतृत्व में कुमायूँ पर गोरखों के आक्रमण से आधुनिक काल का श्रीगणेश होता है। गोरखों के आक्रमण का धमाका सुनते ही अल्मोड़े के चन्द राजा महेन्द्र पाल के पैरों से धरती खिसकने लगी। अभी तक चन्द राजाओं को छोटे-छोटे मांडलिक राजाओं से लड़ना पड़ा था, किन्तु इस बार उन्हें एक ऐसी खूंखार जाति का सामना करना था, जिसके अत्याचारों की कहानियाँ सुनने मात्र से आज भी कुमायुँ की मातायें अपने बच्चों को छिपाने के लिये घरों में छिपकर द्वार बन्द कर देती हैं। गोरखे वीर जिधर भी जाते, अपने पीछे तैमूर की याद ताजी कर जाते थे। घर उजड़ गये, गाँव वीरान हो गये, कुमायूं की हेकड़ी हिल गई। जिधर देखो लूट-पाट तथा मार-धाड़। परन्तु कुमायूं को अभी बहुत कुछ और देखना था। अतः ब्रिटिश गवंनर जनरल लार्ड हेस्टिंग्स के निर्देशन पर अप्रैल १८१५ ई० में अंग्रेज सेना ने गोरखों को बुरी तरह पराजित कर दिया। फलतः २८ फरवरी १८१६ ई० में सिगौली की संधि हुई, जिसके द्वारा गोरखा सरकार ने पिथौरागढ़ सहित समूचा कुमायूं क्षेत्र ईस्ट इंडिया कम्पनी को सौंप दिया।[1] इस प्रकार कुमायूं में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई।

अंग्रेजों का काल समूचे कुमायूं के लिये एक प्रकार का वरदान सिद्ध हुआ। अंग्रेजी शासन के आने से यहाँ लोगों में चेतना जागी। स्कूल खुले, अस्पताल खुले, सड़कें बनाई गयीं तथा न्याय की स्थापना हुई। दण्डनीयों को दण्ड दिया गया तथा वफादारों को 'रायबहादुर' की पदवी के साथ-साथ सम्मान भी प्रदान किया गया। भूमि का बन्दोबस्त किया गया तथा भारतीय पोशाक के स्थान पर यूरोपीय पोशाक लोकप्रिय हो गई।

अस्तु, कुमायूं अभी गुलाम था। सिर्फ मालिक और सभ्यता बदली थी। गाँधी जी के नेतृत्व में देश गुलामी से छुटकारा पाने के लिए जाग उठा। १९१२ ई० में जब कुमायूँ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की शाखा खोली गई, तो उसके फलस्वरूप १९१६ की लखनऊ कांग्रेस में यहाँ वालों ने भी भाग लिया। १९२१ में पिथौरागढ़ सहित समूचे कुमायूँ में असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। १९२० में गाँधी जी द्वारा चलाये गये सविनय अवज्ञा आन्दोलन में १० लोगों ने पिथौरागढ़ से भी भाग लिया। १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में पिथौरागढ़ से १५० आदमियों को गिरफ्तार किया गया। यही नहीं, यहाँ के कम से कम ४० आदमियों ने आजाद-हिन्द-फौज में रहकर 'शेरे-हिंद' सुभाष के कंधे से कंधा मिलाकर दासता के विरूद्ध अपना खून तक अर्पित करने का सङ्कल्प किया था। विचित्र बात यह थी कि इसमें हर जाति और धर्म के लोग सम्मिलित थे। १९४५ के चुनावों में पिथौरागढ़ से कांग्रेस को एक सीट भी प्राप्त हुई। अन्ततः १९४७ ई० में भारत की आजादी के साथ-साथ इस क्षेत्र को भी अंग्रेजी दासता से मुक्ति प्राप्त हुई।

समाज तथा संस्कृति

पिथौरागढ़ अनेक देशी तथा विदेशी जातियों का सङ्गम-स्थल होने के कारण यहाँ की वर्ण एवं जाति-व्यवस्था सदैव लचीली रही। पुनः अन्तर्जातीय विवाहों के कारण यहाँ के समाज में कभी भी उस प्रकार की जाति-व्यवस्था नहीं पनप सकी, जो देश के मैदानी भागों में आज भी देखने को मिलती है। यहाँ के समाज में आर्य-नस्ल के अतिरिक्त मङ्गोल-नस्ल का भी अच्छा खासा प्रभाव देखने को मिलता है। किरातों, नागों, खसों तथा आर्यों का इस प्रकार यहाँ सामाजिक सामंजस्य स्थापित हुआ कि नृतत्त्व-विज्ञानी भी यह निर्णय नहीं कर सकते कि कौन जाति आर्य-नस्ल की है, और कौन मङ्गोल अथवा अन्य नस्ल की। फलतः समाज में हम केवल दो वर्गो की प्रधानता पाते हैं—१. अगड़ी जाति, २. पिछड़ी जाति। यह वर्गीकरण विशुद्ध आर्थिक आधार पर हुआ है। यहाँ के समूचे इतिहास का अच्छी तरह विश्लेपण करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि राज-कार्य में सभी जातियों को

---

१. **फ्रीडम स्ट्रगल इन उत्तर प्रदेश**, जिल्द १, पृ० १४३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समान अवसर प्रदान किया गया और राजाओं द्वारा जो भी जमीनें लोगों को प्रदान की गयीं, उनके प्राप्तकर्त्ता लगभग सभी जातियों के लोग थे। उदाहरणार्थं, जहाँ गढ़वाल के राजा अजयपाल के समय बशरंबु पट्टी में स्थित कोलीगढ़ में कोली (शिल्पकार) 'नेगी' की हैसियत से शासन करते थे,[१] वहीं कुमायूँ के कत्यूरी- मनकोटी एवं चन्द राजाओं ने न केवल 'राजकोली' का दर्जा प्रदान किया, अपितु, टम्टे, सुनार, नाई तथा पहरियों और बखरियों को भी राज-काज में ऊँचा पद प्रदान कर उन्हें जमीनें जागीर (रोत) में दी थीं। निःसंदेह यहाँ के स्वदेशी राजाओं के समय में यहाँ के हर वर्ग की जनता खुशहाल थी। शिल्पियों को राजकीय संरक्षण प्राप्त था, जिस कारण यहाँ पर्याप्त सांस्कृतिक उन्नति सम्भव हो सकी। कुछ एक उदाहरण ही ऐसे जिनसे यह ज्ञात होता है कि यहाँ के कत्यूरी नरेश यहाँ के ब्राह्मणों को अपनी पालकी ढोने के लिये विवश करते थे।[२]

इस क्षेत्र की जनता में सामाजिक स्तर पर अथवा आर्थिक स्तर पर जो भी गिरावट आई, उसका श्रेय अंग्रेजो की उस स्वार्थ-नीति को दिया जाता है, जिसके आधार पर उन्होंने यहाँ अपने माल की विक्री करने के लिये स्वदेशी उद्योग-धन्धों को ठप्प कर दिया था। इससे यहाँ के शिल्पी, जो स्वदेशी राजाओं के समय समाज में सम्मानजनक जीवन व्यतीत करते थे, बेकार हो गये, और उनके द्वारा तैयार किये गये माल का कोई ग्राहक नहीं रह गया। पिथौरागढ़ अपनी शिल्प-कृतियों के लिये प्रसिद्ध था। इन्द्रचन्द के समय ही यहाँ चीनी रेशम का उद्योग स्थापित हो गया था। यहाँ के सूती, रेशमी तथा ऊनी वस्त्र दिल्ली के मुगल बादशाहों तक को पसन्द थे। यहाँ की काष्ठकला तो सदैव से ही प्रसिद्ध मानी जाती है। मर्सोली, नकुलेश्वर, डिङास, कासनी, चम्पावत, थल, थलकेदार, रामेश्वर घाट, चौपाता, पातालभूनेश्वर, मढ़, ज्ञानदेव, सीराकोट आदि स्थान अपनी सुन्दर मूर्तियों तथा भव्य मन्दिरों के लिये तो प्रसिद्ध हैं ही, साथ ही इनमें विभिन्न धर्मों और उनके देवी-देवताओं के पारस्परिक सामंजस्य का एक जोता-जागता रूप देखने को मिलता है। देव-प्रतिमाओं में यक्ष-यक्षिणी, वैरागिन, नाग, गन्धर्व, गणेश, गौरी, महिषासुरमर्दिनी तथा सूर्य की प्रतिमाएं विशेष दर्शनीय हैं। विष्णु के लगभग सभी अवतारों का चित्रण यहाँ के मन्दिरों के पैनलों में देखने को मिलता है। तथापि, शिव-भूमि होने के कारण, यहाँ के अधिकांश मन्दिरों का नामकरण शिव के नाम पर हुआ है।

बौद्धधर्म के अतिरिक्त यहाँ पौराणिक धर्मों की भी प्रचुरता रही है। देवी सर्वत्र पूज्य है। नाथ व सिद्ध सम्प्रदायों के अवशेष भी अद्यतन वर्तमान हैं। टोना तथा टोटके की प्रथाएँ भी अभी तक गाँवों में वर्तमान हैं। शकों के प्रभाव में रहने के कारण यहाँ सूर्य-मन्दिरों की भी बहुलता है। सूर्य प्रतिमाएं प्रायः ऊदीच्यवेश में हैं। नवग्रहों की प्रतिमाएं भी यहाँ-मन्दिरों में रखी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के मंदिरों तथा मूर्तियों का निर्माण करने के लिए शिल्पियों की कई श्रेणियाँ (गिल्ड्स) यहाँ रही होंगी, क्योंकि अधिकांश मूर्तियों एवं मन्दिरों में कला की एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। एक ही चट्टान को तराशकर मन्दिर बनाने अथवा बावड़ी (नौले) बनाने की भी यहाँ प्रथा रही है।

यहाँ की भाषा सदैव संस्कृत-मिश्रित रही है। यहाँ की कुमाऊँनी भाषा पर नेपाली खसकुरी का भी प्रभाव पड़ा है। पुराने अभिलेख सब के सब इसी संस्कृत-मिश्रित कुमाऊँनीं में लिखे गये हैं। उनमें जो भी संस्कृत-श्लोक उद्धृत हुये हैं, उनके पढ़ने से ऐसा लगता है कि लेखक संस्कृत भाषा के व्याकरण से अपरिचित थे। केवल पूर्वजों से सुने-सुनाये श्लोक ही उन्होंने शुद्ध-अशुद्ध रट लिये थे। इस प्रकार का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"मेरुस्चलति कल्पांते मर्यादा च महोदधि महासत्यं न न वीचलंति कदाचन"—भारती चन्द का खेतीखान ताम्रपत्र।

१. भक्तदर्शन, **गढ़वाल को दिवगत विभूतियाँ**, पृ० १३।
२. यमुनादत्त वैष्णव, **कुमायूँ का इतिहास**।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चतुर्थ अनुभाग

प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तात्याटोपे की कथित फाँसी

गजेन्द्र सिंह सोलंकी*

हमारे देश के प्राचीन इतिहास के साथ जिस प्रकार धोखा-धड़ी और खिलवाड़ किया गया है, कुछ वैसा ही १८५७ के स्वातन्त्र्य समर के इतिहास के साथ भी करने का प्रयास किया गया है। जो घटना साम्राज्यवादी अंग्रेजों के दृष्टि में सिपाही विद्रोह थी, वह भारतीयों की दृष्टि से स्वतंत्रता संग्राम थी। इस दृष्टिकोण के भेद को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि अनेक भारतीय इतिहासकार भी इस सम्बन्ध में भूल कर गये हैं और उन्होंने स्वातन्त्र्य समर को स्वार्थी लोगों का युद्ध बताया है। यहाँ तक कि महान् इतिहासकार डॉ० मजूमदार ने भी यह स्पष्ट किया है कि १८५७ के युद्ध में भाग लेने वाले तात्या-टोपे, लक्ष्मीबाई, नाना साहेब, बहादुरशाह अपने स्वार्थ से प्रेरित थे और उन्हें बाध्य होकर संग्राम में आना पड़ा था। अंग्रेजों के समय में ही राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने **इतिहास तिमिर नाशक** नामक पुस्तक १८७४ ई० में इलाहाबाद से प्रकाशित की थी, जो तत्कालीन लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के आदेशानुसार लिखी गयी थी और स्पष्ट ही इस घटना को सिपाहियोंका असफल बलवा कहा गया जिसमें विद्रोहियों को बदमाश और बेवकूफ बताकर नाना राव धुन्दुपन्त को हिन्दु जाति का कलंक तक कहा गया। इसमें सितारे हिन्द अन्त में लिखते हैं—"पाठकजनों, ईश्वर से यही प्रार्थना करो कि हमारी मलिका क्वीन विक्टोरिया का राज चिरस्थाई हो, सदा ईश्वर ऐसी प्रजापालक मलिका को हम लोगों के सर पर बनाये रखे (खण्ड २, पृष्ठ ९८)।" इस प्रकार के ग्रन्थों से क्या आशा की आ सकती है, इसपर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने १८५७ का भारतीय ग्रन्थ स्वातन्त्र्य समर लिखकर भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। वे अपनी भूमिका में लिखते हैं कि "इस में दिये गये सब प्रमाण लगभग अंग्रेज लेखकों के ही हैं। उनके अपने पक्ष के कर्तृत्व का चित्र जिस विस्तार तथा श्रद्धा से रंगा है उसी तरह दूसरे पक्ष से भी न्याय करना उनके लिए असम्भव हो गया होगा। कई प्रसंग अनुल्लिखित रह गये हों, इस ग्रन्थ में कई प्रसंग गलत तरीके से वर्णित हों,..............।" उन्होंने एक और महत्वपूर्ण इच्छा व्यक्त की है "किसी भारतीय सज्जन की लेखनी से अत्यन्त त्वरित १८५७ की कहानी ऐसी लिखी जाय जो देशभक्तिपूर्ण होने पर भी प्रामाणिक हो और बहुत विस्तार से कही जाने पर भी सुसंगत हो, और ऐसे सुन्दर कार्य के कारण मेरा यह नम्र-लेखन जल्द ही विस्मृत हो जाये।" सावरकर जी ने जिस शोधपूर्ण ढंग से स्वातन्त्र्य समर के इतिहास को विपुल सामग्री से युक्त करके लिखा है और उसे आधुनिक भारत का प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध घोषित किया है, वह अब तक अद्वितीय है।

जहाँ तक तात्याटोपे का प्रश्न है, उनके सम्बन्ध में यह प्रचारित किया गया कि पाण्डौन के राजा मानसिंह ने धोखा देकर उन्हें गिरफ्तार करवा दिया और १८ अप्रैल १८५९ ई० (संवत् १९१५) को शिवपुरी में कोर्टमार्शल द्वारा फाँसी दे दी गई। जिस स्थल पर फाँसी दी गई वहाँ नगरपालिका के सहयोग से सरकारी सहायता द्वारा तात्याटोपे स्मारक समिति ने एक प्रतिमा स्थापित की है, जहाँ प्रतिवर्ष समारोह आयोजित किया जाता है। इसमें कथित तात्याटोपे के स्मृतिचिन्ह प्रदर्शित किये जाते हैं। उनकी तलवार, बयान की प्रति और दो चित्र भी प्रदर्शित किए जाते हैं। यह सामग्री ग्वालियर के संग्रहालय से लाई जाती है और समारोह के बाद वापस भेज दी जाती है।

लेकिन कुछ दस्तावेज और जनश्रुतियाँ यह बताती हैं कि वास्तविक तात्याटोपे इस गिरफ्तारी के समय बचकर घोड़े पर

*. मोहन सदन, लाडपुरा, कोटा—३२४००६, राजस्थान।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निकल भागे थे और उसके बाद अनेक वर्षों तक जीवित रहे। अभी १८५७ के स्वातन्त्र्य समर की प्रथम शताब्दी मनायी गई थी, उस समय बम्बई के एक समारोह में तात्याटोपे के वृद्ध भतीजे एवं भतीजी का सम्मान किया गया। इस समारोह में प्रो० टोपे ने सार्वजनिक रूप से घोषणा की थी कि हमारे काका तात्याटोपे को फाँसी नहीं दी गई थी; किन्तु जब वे १९०९ में मृत्यु को प्राप्त हुए तब हमारे यहाँ सूचना आने पर उनके विधिवत् संस्कार आदि किए गये थे। इस कारण यह आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में हम पुनः छान-बीन करें।

गिरफ्तारी का वृत्तान्त

केन्द्रीय पुरालेखागार में सुरक्षित १८५७ सम्बन्धी दस्तावेजात के अनुसार तात्याटोपे की गिरफ्तारी सम्बन्धी प्रथम सूचनाएँ मेजर आर० मीड द्वारा दी गई, जिसने कुशलता पूर्वक राजा मानसिंह को अपनी ओर करके उसके निर्देशन में तात्याटोपे को गिरफ्तार कराया। राजा साहब पाड़ौन के बस्ते में दो महत्त्वपूर्ण पत्र हैं जो राजा मानसिंह को समर्पण हेतु लिखे गये थे। एक पत्र १८ मार्च १८५९ ई० का है जो सर रावर्ट हेमल्टीन का है और दूसरा है मेजर आर० मीड का। यह पत्र ३ अप्रैल, १८५९ का है।

सर राबर्ट हेमल्टीन का पत्र इस प्रकार है :

"अज लाला सीलचन्द वकील राजे मानसिंग हाजिर होकर षत उनका गुजराना और उसका तरजुमा अंग्रेजी में होकर पेश हुआ। ई जानिब में कई बार राजे मानसिंग को लिषा मगर तेहरीरात मजफर पर उन्होंने कुछ अमल नहीं किया। अगर उनकी नीयत दुरुस्त है तो उन्हें मुनासिब है कि पास कप्तान मीड साहिब बमुकाम शीवपुरी या मेजर मेकफारसन साहिब बहादुर बमुकाम गोवालीयर में या पास ई जानीब के मुकाम ईन्दौर हाजुर होवे। उनकी इज्जत का लेहाज रखा जाइगा और जो सुनीदनी है वह सुनी अलमरकुम १८ मार्च सन् १८५९ इसवी।"

दूसरा पत्र मेजर आर० जे० मीड का इस प्रकार है :

"राजा साहेब मुसफक मेहरवान करम फरवाय मुफलीसान राजा मानसिंग साहब जादतफक्त हु—

बाद सलाम के मुदा यह है के खत आपका मबरखे मिती चैत बदी १३ सम्वत १९१५ वे खते हिन्दी मशक आने आपके ई जानिब का पास पहोचा और मजमून मुँदरजा जाहिर हुआ। लिहाजा आपको कलमी होता है के आप अपने हमराईयान को मय घोड़े वहाथी वगैरा के जो के हमराह आपके होवे इस मुकाम पर अपने पास बुलवा लीजीये और व खैरख्वाहि सरकार कोशिश व परवी रखीये अगर कोई अमर खैरख्वाही सरकार अपकी जानिब से जहूर में आवेगा हर तरह पर सरकार ख्याल बवूदी आपका होगा, फकत ३ अप्रैल, सन् १८५९,

द० : आर० जे० मीड मेजर
कमांडिग केम्प—महोदरा"

मेजर मीड ने महोदरा केम्प से ८ अप्रैल, १८५९ को पत्र क्रमांक ४८ एवं ४९ से जो लिखा वह पठनीय है। उसने इससे पूर्व तार दिया था कि—**'Tantia Topee captured by the detachment with Maun sing's assistance last night and now a prisoner in Camp and waiting orders for his disposal.'**

मेजर मीड ने अनेक पत्र अपने वरिष्ठ अधिकारियों को एक के बाद एक इस गिरफ्तारी के सम्बन्ध में दिये थे। उनकी भाषा से लगता है कि ये उसके स्पष्टीकरण थे। उसने एक पत्र में लिखा है कि राजा मानसिह को मेरे केम्प में लाने की प्रेरणा सीपरी के नायब सुवा ने नहीं दी। यह पत्र मेजर मेकफर्सन को लिखा गया था। पत्र में कहा गया कि दरबार के इस कर्मचारी का राजा मानसिंह के समर्पण कराने बाबत कोई सम्बन्ध नहीं रहा। जिन व्यक्तियों (पार्टीज) के माध्यमसे वार्ता हुई और संतोषप्रद परिणाम सामने आया, वह व्यक्ति है पहला सरसामऊ का नरंजनसिंह और उसका लड़का हठीसिंह। दूसरा व्यक्ति मानसिंह का दीवान किशोरलाल है और तीसरा और अन्तिम व्यक्ति है प्रभुलाल सीपरी का नायब कमासदार जिसको मैं सबसे अधिक श्रेय का अधिकारी समझता हूँ जिसने अपनी युक्ति और निर्णय के साथ वफादारी और कीमती सहायता दी कि जब वह मेरे अधीन था।

मेरे आदेशानुसार यह आदमी केम्प से १० या १२ मील जाकर मानसिंह से मिला और पहले ही अवसर पर अपने व्यक्तिगत जोखम उठाकर भी उसके भय को समाप्त करने में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कामयाब हुआ। और उसे अपने साथ लाने में कामयाब हुआ........।"

मेजर मीड ने लम्बा विवरण भेजा है। उसमें राजा मानसिंह को पेन्शन देने के वायदे का भी उल्लेख है। और क्या वायदा किया था यह भी लिखा है, जिसका उल्लेख आगे करेंगे।

यहाँ पर तात्या टोपे की गिरफ्तारी का जो वृत्तान्त उसने दिया है, उस पर ध्यान दें :—

मीड ने लिखा है :—

"........मानसिंह ने विशेष रूप से अनुरोध किया कि कोई सवार साथ न भेजा जावे क्योंकि कोई भी शंका योजना को चौपट (reverse) कर सकती है। उनसे (सवारों) केम्प छोड़ने की सूचना मिल सकती है। मैंने अवश्य एक टुकड़ी तैयार रखी जो गिरफ्तारी होने की सूचना आते ही मेरे साथ उस स्थान पर रवाना होती। मानसिंह ने मुझे आश्वस्त किया कि या तो मामूली प्रतिकार होगा या कोई प्रतिकार नहीं होगा। तात्या टोपी के पास केवल चार या पाँच आदमी हैं और वह मानसिंह विश्वस्त है कि सोते समय वह उसे विस्मित कर देगा"

गिरफ्तारी का जो विवरण उसने दिया है, वह पठनीय है :

"मानसिंह ने सिपाहियों की एक टुकड़ी पास ही एक गड्डे (खोल) में छिपा दी, जिसमें तात्या और मानसिंह आमतौर पर छिपते थे (frequenting) और वह उसे (अपने शिकार को) वहाँ ले गया, उससे बहुत देर बातचीत करता रहा। तब आधी रात के बाद तात्या टोपी सो गया। तब मानसिंह द्वारा वहाँ सिपाही ले जाये गये और तात्या टोपी पकड़ कर जकड़ लिया गया। उसके हाथ स्वयं मानसिंह द्वारा दबोच लिए गये। **दुर्भाग्य से भ्रम के बीच दो पण्डित जो उसके साथ थे, घोड़ों पर सवार होकर खिसकने में कामयाब हो गये।**"

मजे की बात है कि अभी तक इतिहासकार बन्धु इन दो खिसकने वाले सवारों के सम्बन्ध में कोई तथ्य एकत्र नहीं कर पाये और न तात्या के कथित बयान में कहीं इसका उल्लेख हुआ। आखिर क्यों मात्र मानसिंह के कहने से ही मेजर मीड ने पैदल टुकड़ी ही साथ भेजी और कोई घुड़सवार सैनिक साथ नहीं किए। क्या यह विचारणीय बात नहीं है ? क्या इसे चतुराई नहीं कहना चाहिये ? इसका राज राजा मानसिंह के पेन्शन के विवेचन के समय खुल जायेगा।

मेरी समझ में ये दोनों खिसकने वाले घुड़सवार और कोई नहीं स्वयं तात्या टोपे और पंडित गोविन्दराव थे, और बन्दी बनाया व्यक्ति था—नारायण राव भागवत।

मैंने ग्वालियर के जनकगंज माध्यमिक पाठशाला के मुख्य-अध्यापक श्रीभागवत के सम्बन्ध में यह अभिचर्चा सुना था कि उनके पूजागृह में उस व्यक्ति का चित्र पूजा जाता है जिसे तात्याटोपे के नाम पर फाँसी चढ़ाया गया था। यह तथ्य भी इस ओर संकेत करता है कि फाँसी दिया गया व्यक्ति नारायण राव भागवत था।

पुरालेखों में तात्याटोपे के कोर्टमार्शल का वृत्तान्त मिलता है जो प्रकाशित भी हो चुका है। इसमें तात्याटोपे के हस्ताक्षर हिन्दी और अंग्रेजी में मौजूद हैं जिनकी जाँच की जानी चाहिए, क्योंकि तात्याटोपे के लिखे कुछ पत्र कहीं न कहीं मिल सकते हैं। तात्याटोपे स्मारक समिति शिवपुरी के पास एक बस्ता है जिसमें उनका लिखा कोई पत्र मिल सकता है। मुझे राजा मानसिंह के बस्ते में दो पत्र मिले हैं जिनकी प्रतिलिपि **परिशिष्ट २ और ३** में दी गई है। इनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात जो संदेह उत्पन्न करती है, वह तात्या के दो चित्र हैं जो संग्रहालय में हैं। इनमें एक चित्र किसी सैनिक अफसर ने पेंसिल से तत्काल बना लिया था, लेकिन यह चित्र तात्या के दूसरे चित्र से मेल नखीं खाता।

तात्याटोपे स्मारक समिति के सचिव स्वर्गीय आनन्दसिंह ने प्रयत्न करके काफी सामग्री एकत्र की है। **"१८५७ की क्रांति के पत्र"** नाम से एक पुस्तिका तात्याटोपे समारोह १९७८ में प्रकाशित की गई है। जिसमें १२५ पत्र छापे गये हैं। इसके पूर्व १९७६ में भी २० पत्रों की एक पुस्तिका छापी गई थी। इन पुस्तिकाओं के परिचय में लिखा गया है कि समिति ने टीकमगढ़ के राजा नरेन्द्रसिंह जू देव, तत्कालीन मंत्री, मध्यप्रदेश शासन, के सहयोग से एक बस्ता क्रय किया है। यह बस्ता तात्याटोपे का बताया जाता है, जिसमें १२५ पत्र हिन्दी और १२० पत्र उर्दू में हैं तथा अन्य रिकार्ड और रोजनामचा भी था जो कि तात्याटोपे और अन्य नेताओं के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाम विभिन्न अवसरों पर लिखे गये हैं। अधिकांश हिन्दी पत्रों की भाषा बुन्देली है। पुस्तिका में उल्लेख है कि "स्वतन्त्रता संग्राम (१८५७–५९) के दौरान तात्याटोपे अपनी फौज के साथ टीकमगढ़ की ओर जाकर वहाँ से १० मील दूर ओरछा रियासत के ग्राम आठोंन में ठहरे। अंग्रेजों ने उन पर अचानक हमला किया। तात्याटोपे अपना कुछ सामान वहीं छोड़कर भागे।" इस सामग्री के सही होने की सजदी ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने की थी तथा १९६० में भारत के विख्यात इतिहासकार पूना के महामहोपाध्याय दत्तात्रेय वामन पोद्दार ने भी इस तथ्य की जाँच किया था।

अभी तक इस बस्ते की पूरी सामग्री का अध्ययन नहीं हुआ है। उर्दू के पत्रों का तो वाचन ही नहीं हुआ है। यह सामग्री स्वर्गीय श्री आनन्दसिंह जी के वंशजों के पास बताई जाती है। इनके पढ़ने से निश्चय ही अनेक नये तथ्यों पर प्रकाश पड़ेगा।

प्रकाशित पत्रों में एक पत्र जिसकी संख्या ९५ है, उस पर संवत् १९१८ की तिथि पड़ी हुई है। जबकि फाँसी संवत् १९१५ में ही दे दी गई थी। यह पत्र महारानी लड़ई रानी जू के नाम है **(परिशिष्ट क्रमांक १)**। इससे यह सिद्ध होता है कि तात्याटोपे पाड़ौन से बचकर उधर ही चले गये थे। तात्याटोपे की गिरफ्तारी के सम्बन्ध में स्वयं मीड की रिपोर्ट सन्देहास्पद रही है, इस विषय पर उस समय भी सन्देह प्रगट किया गया था। यहाँ पर तार की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए जिस पर १६२ की संख्या अंकित है। यह तार सी० वीड ने कलकत्ता की ओर से बिग्रेडियर जनरल नेपियद, गुना को १५ अप्रैल १८५९ को दिया था। इसमें सूचित किया गया है कि "जनरल ओटम को सन्देह है कि तात्याटोपे बड़ौदा का पूर्व दीवान भाऊ ताम्बेकर है, यदि यह बात है तो जाँच करो कि भाऊ ताम्बेकर कहाँ है ?" यह तार बताता है कि बन्दी बनाये गये व्यक्ति की पहचान सन्देहजनक थी। यद्यपि फाँसी लगाने के बाद १९ अप्रैल १८५९ को अपराह्न तार के सन्देश क्रमांक १६८ द्वारा कैप्टन हलबर्ट, इन्दौर ने सी० वीडन, सेक्रेटरी टू गवर्नमेंट कलकत्ता को सूचित किया कि "तात्याटोपे को मौत की सजा दी गई और कल उसे शीपरी (शिवपुरी) में फाँसी दे दी गई। उसे पूरी तरह शनाख्त किया गया और स्वयं उसने स्वीकार किया"।

राजा साहब पाड़ौन के बस्तों में कुछ नये दस्तावेज मिले हैं। पाड़ौन के महाराजा के पूर्वज महाराजा मानसिंह को ही तात्याटोपे को गिरफ्तार करने का श्रेय दिया जाता है, लेकिन अभिलेखागार में दो ऐसे पत्र मिले हैं जो इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। इनमें तात्याटोपे को संकेत में सरदार शब्द से अभिहित किया गया है। एक पत्र राजा रामप्रताप सिंह जू देव का है जो तात्याटोपे की कथित फाँसी के एक वर्ष दो माह बाद (मिति अषाढ़ ९ संवत् १९१६) लिखा हुआ है। यह पत्र राजा मानसिंह को सम्बोधित है (देखिए—**परिशिष्ट २**) जो इस प्रकार है "सिद्धि श्री महाराजाधिराज श्री महाराज महीपत श्री श्री मानसिंह जगेन्द बहादुर देव अतः सिद्धि श्री महाराजाधिराज श्री महराज रामप्रताप सिंह बहादुर देव जू को जुहारु आगे आप का समाचार सदा भले चाहिज यहाँ के समाचार श्री जू की क्रपा से भले हैं आगे आप के उहाँ के सिरदार हमराह पं: गोविन्दराम जी सकुशल विराजते हैं और उनके आगे तीरथ जाइबे के विचारु है आपु कोई बात को चिन्ता मन में ना ल्यावें आपुओं पुर्ना प्रसन्नता के समाचार मामिला वावाहिद जानि लिखाइवे में आवे जादा शुभ मिति आषाढ़ सुदी ९ संवत् १९१६ सन् १२९७ फ"।

दूसरा पत्र राजा मानसिंह के नाम पण्डित गोविन्दराव द्वारा लिखा गया है जिस पर "मिति कातक वदी ५ संवत् १९२० अंकित है" **(परिशिष्ट ३)**। यह पत्र कथित फाँसी की तिथि के चार वर्ष बाद का है। इसमें शिष्टाचार के बाद पाँचवी पंक्ति से लिखा है :

"अपरंच आपको षवर होवे कि अब चिन्ता को कारण नहीं रह्यो है षत लावे वारो आपला विश्वासू आदमी है कुल षुलासे समाचार देइगा सरदार की पशुपति यात्रा को षरच की ईमदाद षत लायेवे वारे के हात भिजवाइये कि क्रिपा कराएवेंगे। आवे मौका मिले पे षुसी के समाचार देहींगे थोड़ी लिषी जादे समझिबो मिति कातक वदी ५ संवत् १९२०"।

उल्लेखनीय है कि ये पत्र उस व्यक्ति के नाम लिखे गये हैं जिसे इतिहासकारों ने तात्याटोपे को धोखा देकर गिरफ्तार कराने तथा फाँसी पर लटकवाने का दोषी करार दिया है। यह शंका उठाई जा सकती है कि इसमें कहीं भी तात्याटोपे का नामोल्लेख नहीं है। तब "सिरदार" शब्द से उसे तात्या-टोपे के लिये प्रयोग किया हुआ मान लेना कहाँ तक ठीक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होगा। यहाँ जानकारी के लिये इतना ही संकेत करना पर्याप्त है कि काल्पी का युद्ध इसी सरदार के नेतृत्व में लड़ा गया था और उसे सरदार घोषित किया गया था। टीकमगढ़ से जो बस्ता प्राप्त हुआ है उसमें भी अनेक पत्रों में तात्यटोपे को सरदार शब्द से सम्बोधित किया गया है। उसकी गिरफ्तारी का जो नाटकीय वर्णन मीड ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है वह पाड़ौन ठिकाने का ही है और स्थान भी वहीं का है तथा उसमें राजा मानसिंह के योगदान का भी वर्णन है। तब उनके बस्ते में से मिली इस चिट्ठी में उल्लिखित सरदार शब्द सिवाय तात्याटोपे के और किसी के लिये प्रयुक्त करने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।

इस प्रकार इन स्रोतों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानसिंह की कार्यवाही में जिस व्यक्ति को गिरफ्तार किया गया और जिसने अपने को तात्याटोपे कहकर बलिदानी भाव से फाँसी का फन्दा अपने गले में लटका लिया वे नारायणराव भागवत थे और भारतीय इतिहास में इस प्रकार के बलिदानी कथाओं की कमी नहीं है। दूसरी ओर मानसिंह ने मींड को इस भुलावे में रखकर घुड़सवारों को ले जाने से विरत रखा। यह भी एक जानी-बूझी योजना का अंग था, जिससे अपने एक और साथी के साथ तात्याटोपे घोड़े पर सवार होकर भाग सकें। इस अभियान में दो भागे हुए घुड़सवारों के विषय में कोई जानकारी नहीं है, लेकिन मानसिंह के बस्ते में प्राप्त इन दोनों पत्रों से यह स्पष्ट होता है कि तात्याटोपे का मानसिंह से इस घटना के बाद भी सम्पर्क बना हुआ था और उनको बराबर सहायता मिलती रही। इसके अतिरिक्त यह भी सूचना मिलती है कि तात्याटोपे नेपाल में पशुपति मन्दिर में जाकर रहने का विचार रखते थे। उनके भतीजे द्वारा १९०९ में उनके मृत्यु की घोषणा इस बात की पुष्टि करती है कि वे मृत्यु पर्यन्त छद्मवेश में नेपाल में रहे।

इस सम्बन्ध में एक अंग्रेज महिला श्रीमती हेनरी डुबरली का उल्लेख किया जा सकता है जिसने अपने सैनिक आफिसर पति के साथ तात्याटोपे को गिरफ्तार करने के अभियान में २०२८ मील की राजपूताना और मध्यभारत को यात्रा का विवरण डायरी के रूप में लिखा है जो १८५९ में "कैम्पेनिंग इक्सपिरिएंसेज" नाम से लन्दन में छपी थी। इसके पृष्ठ २३७ पर श्रीमती डुबरली ने अपनी आशंका प्रगट कर दी थी। वह लिखती हैं "तात्या का भाग्य रुद्ध हो गया प्रतीत होता है, उसकी शौर्य यात्रा निश्चय ही समाप्त हो रही है और हम भले ही उसके द्वारा किये गये अपराधों के प्रति घृणा व्यक्त करें, लेकिन हम उनके अच्छे नेतृत्व और शानदार योग्यता के प्रति आदर देने से इनकार नहीं कर सकते।

"ऐसी सम्भावना है कि अब प्रतिरोध के प्रयासों को व्यर्थ समझकर वह किसी पवित्र स्थल को चला जायेगा और इस प्रकार अपना नाम और वस्त्र बदलकर अज्ञात स्थान पर सुरक्षा की खोज करेगा।"

हमारी खोजों का यह परिणाम निकल रहा है कि श्रीमती डुबरली का अनुमान सत्य निकला। **परिशिष्ट ४**)।

परिशिष्ट १

पत्रसंख्या ९५

"श्री रानी महारानी श्री महेन्द्र महारानी लड़ई रानी जू देव ऐते राज श्री जगदेव राव माहोरकर के वाचं आपर आप के समाचार सदा भले चाहि जै इहा के समाचार श्री जी के कृपा से भले हैं। जादा रोज से आप के खुशी मिजाज की खबर नहीं आई सो लिखवे में आवे और परगने मडावरा के मौजे सतवासा बार मेसरा व नैनपुर ये तीनों गाँव अंग्रेज सरकार के खायत भये हैं सो आपके इलाका के नजीक हैं तीन की वही व उपेदया से राज श्री खेड़राव आवाजी कार कुन भेजे हैं जो उहाँ जाहार करेंगे सो मदत रखने में आवे जो कोई परगने आप का उन गाँव के नजीक होय वाह के जमीदारों कू हुकुम तीनों गाँव की जमीन आवाद करने वास्ते होने में आवे हमेसा खुसमीजाज बाहियाँ लायक कामकाज लिखत रहबी। सं० १९१८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट २

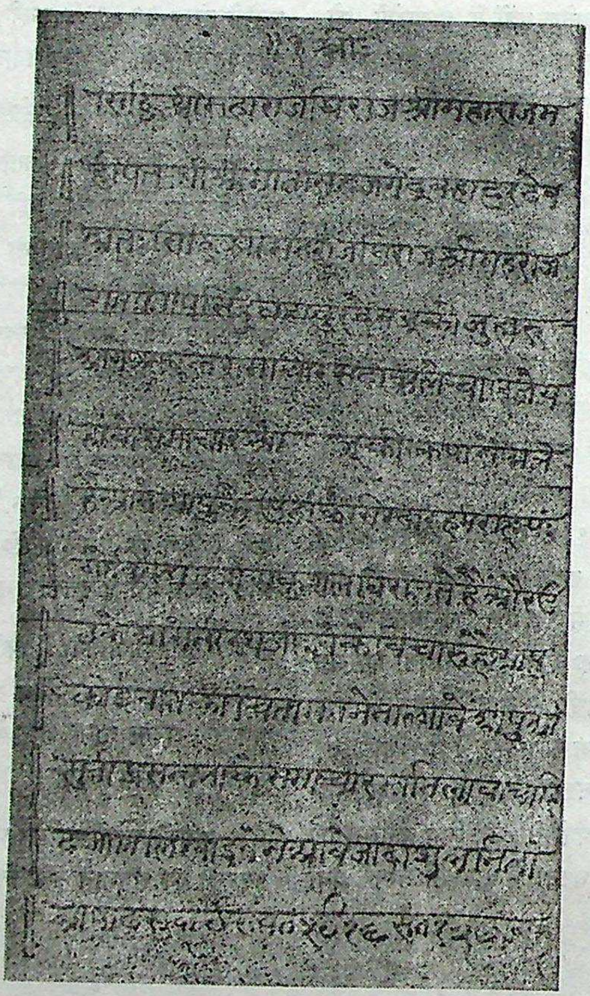

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट ३

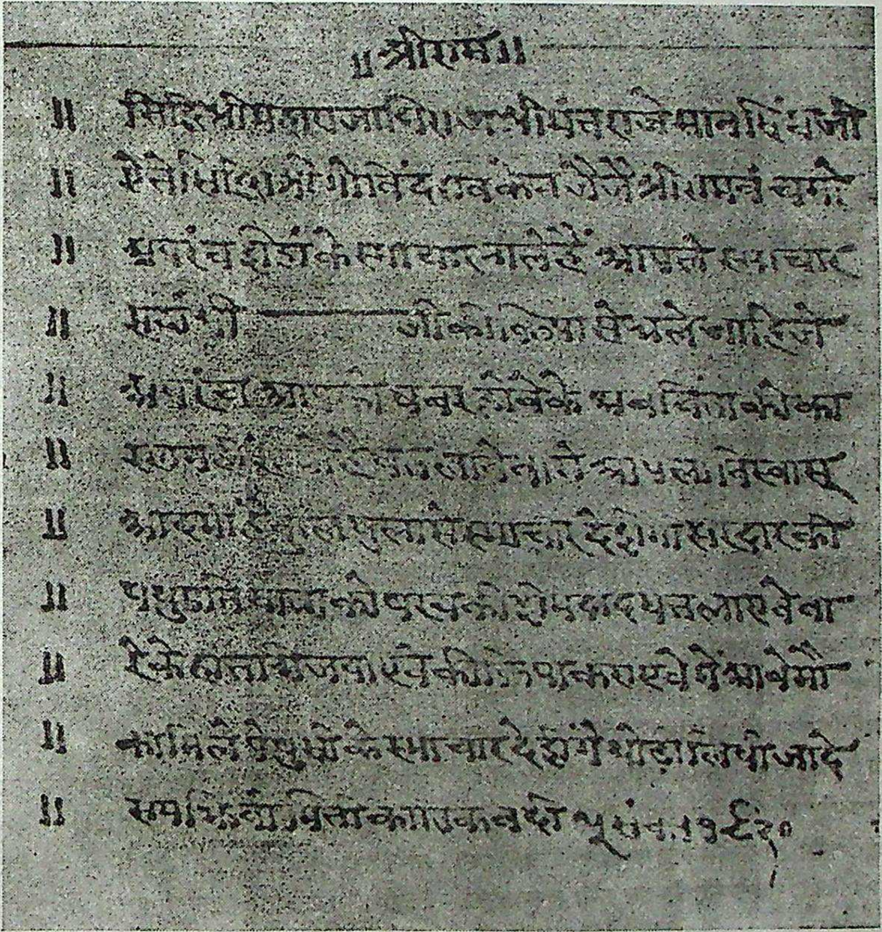

परिशिष्ट ४

Page 237 :

"The fate of Tantia appears to be sealed : his gallant course must be nearly run, and however we may abhor the crimes which he has committed, we can not refuse our respect to his good generalship and brilliant talents,

The chances are that, finding all attempts to further resistance vain, he will retire to some holy place, and changing his name and dress, will seek safety in obscurity."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में गोण्डा के राजा देवीबक्श सिंह का योगदान

ओम प्रकाश शुक्ल*

ब्रिटिश सैनिकों द्वारा लखनऊ को अधिगृहीत करने के पश्चात् अवध प्रान्त के लगभग अधिकांश तालुकदार तथा भू-स्वामी १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम से अलग हो गये।[१] इन भू-स्वामियों के पास अधिक संख्या में गाँव थे। परन्तु उन गाँवों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। उन्होंने सरकार द्वारा निश्चित अतिरिक्त राजस्व वृद्धि का विरोध किया फलतः उनके तालुकों को ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया।[२] जिस समय लखनऊ पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया उस समय बेगम हजरत महल अपने लड़के बिरजीस कादर के साथ बहराइच स्थित बौड़ी चली आयीं। यहाँ आकर उन्होंने भउरी[३] में अपना पड़ाव लगाया। यहीं पर बेगम ने स्थानीय तालुकदारों की एक सभा बुलाई। बौड़ी शासक हरदत्त सिंह तथा चहलारी नरेश बलभद्र सिंह को विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया।[४] इनके अतिरिक्त गोण्डा के देवी बख्श सिंह, चर्दा के ज्योति सिंह, प्रयागपुर, रेहुआ, नानपारा, टेपरहा, मल्लापुर, रामनगर, आदि के शासकों ने भी भाग लिया। इस सभा के मध्य बेगम ने तालुकदारों से सहयोग की अपील की और उन्हें आश्वस्त किया कि यदि वे लोग उनकी मदद करेंगें तो उन्हें माफी पट्टा के आधार पर जमीन दी जायगी। अतः सर्वसम्मति से इन सभी तालुकदारों ने बेगम के साथ रहने का वायदा किया, किन्तु समय परिवर्तन के साथ ही बहुत से तालुकारों ने बेगम का साथ छोड़कर अंग्रेजों का समर्थन किया।[५]

जिस समय उत्तरी भारत में १८५७ ई० के प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम का विस्फोट हुआ उस समय गोण्डा में देवी बख्श सिंह का शासन था। यह उच्च कोटि के योद्धा और शासक थे। इन्हें मल्ल युद्ध, घुड़सवारी, तथा तैराकी आदि में विशेष रुचि थी। धीरे-धीरे इनकी शक्ति इतनी बढ़ गयी कि पड़ोस के बहुत से तालुकदार तथा भू-स्वामी इन्हें अपना अगुआ मानने लगे। तत्कालीन नवाब वाजिद अली शाह ने भी इन्हें लखनऊ-गोरखपुर, के मध्य का प्रधान चकलेदार स्वीकार किया।[६]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि देवी बख्श सिंह अत्यन्त लोकप्रिय शासक थे। इनके पराक्रम तथा शौर्य को देखकर अंग्रेज इनसे आपसी द्वेष रखने लगे। फलतः बहराइच डिवीजन के बहुत से शक्तिशाली तालुकदार तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने ब्रिटिश सरकार के पक्ष में चीफ कमिश्नर का साथ देने का आश्वासन दिया। परन्तु कुछ तालुकदारों तथा भू-स्वामियों ने अंग्रेजों का खुलकर विरोध भी किया।[७] स्वतन्त्रता सेनानियों द्वारा महारानी विक्टोरिया की

---

*. प्रवक्ता, इतिहास विभाग, लालबहादुर शास्त्री स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोण्डा।

★ १. रिजवी एस० ए० ए०, **फ्रीडम स्ट्रगल इन यू० पी०** भाग २ पृष्ठ ३३४।

२. **डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ बहराइच**, (१९०३) पृष्ठ १४१।

३. भौरी बौड़ी से लगभग ६ कि मी० दूर फरूहा घाट से पास है। फरूहाघाट घाघरा पार बहराइच जिले से पड़ता है।

४. शुक्ल, ओ० पी०, (शोध-प्रबन्ध) **बहराइच (अवध) के तालुकदारों का इतिहास १९६७ से १९४७, अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद**; नागर, अमृतलाल, **गदर के फूल (१८५७–५८)** पृष्ठ ११५।

५. रिजवी, **पूर्वोद्धृत**, भाग–२, पृष्ठ, २३९।

६. सिंह, जगदेव, **गोण्डा अतीत तथा वर्तमान** पृष्ठ ५२।

७. रिजवी, **पूर्वोद्धृत**, भाग–१, पृष्ठ ४७६–५९७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घोषणा का कोई आदर नहीं किया जाता था, क्योंकि उनको अपने सफलता की पूर्ण आशा थी।[१] इस समय परगना बूढ़ा पायर के वृद्ध राजा अशरफ बख्श, तुलसीपुर की रानी, मझगवाँ के भगौती सिंह, चर्दा के ज्योति सिंह, परसपुर में छःद्वारा के कलहंस राजपूत, मानवती देवी, मंगलदेव पाण्डेय के भतीजे बुझावन पाण्डेय तथा पठान आदि व्यक्तियों सहित लगभग २,२०० सैनिक गोण्डा शासक देवी बख्श सिंह के साथ थे।[२] इनके शौर्य की गाथा जब एक बार किसी अंग्रेज अधिकारी ने सुना तो उसने देवी बख्श सिंह के पास निम्न-लिखित सन्देश भेजा—"हमने सुना है कि राजा तलवार के धनी और कुस्ती में लासानी हैं। अगर वे हमारे तलवारबाजों का मोर्चा ले सकें तो हम गोण्डा राज्य माफी में देंगे।"

नीतिज्ञ राजा ने उत्तर में लिखकर भेजा कि—"मैंने सुना है कि अंग्रेज तलवार के धनी हैं। बहुत दिनों से हमारी ख्वाहिश थी कि तलवार आजमाइश का मौका मिले, मगर पैदल लड़ना मैं शान के खिलाफ समझता हूँ। मैं घोड़े पर सवार होकर आऊँगा और यदि अंग्रेज तलवार चलाने में मुझे परास्त कर दें तो मैं गोण्डा का राज्य छोड़कर चला जाऊँगा।"[३]

निश्चित समय पर तलवारबाजी की भीड़ एकत्रित हुई। देवी बख्श सिंह के कौशल को देखकर अंग्रेज तलवारबाज तथा अधिकारी दोनों ही सशंकित हो गये और उन्हें अपना शत्रु समझने लगे। अतः इन्होंने भी अंग्रेजों का विरोध प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अनवरत बनाये रखा।

फरवरी १८५६ में अवध प्रान्त ब्रिटिश सत्ता में सम्मिलित कर लिया गया, साथ ही साथ बहराइच कमिश्नरी में गोण्डा एक स्वतन्त्र जिला बना दिया गया। मि० विंग्फील्ड को कमिश्नर तथा कर्नल व्यायूले को डिप्टी कमिश्नर का पद प्राप्त हुआ। इस प्रकार के प्राशासनिक परिवर्तन के विरुद्ध देवी बख्श सिंह ने आवाज उठायी। इससे असन्तुष्ट अंग्रेज अधिकारियों ने उनके राज्य की मालगुजारी ८०,००० रु० निश्चित कर दी। इस समय कमिश्नरी की छावनी सिकरौरा (करनैलगंज) में थी तथा समस्त प्राशासनिक कार्य गोण्डा से हो रहा था। १८५६ में कर्नल व्यायूले तहसीलों एवं थानों की स्थापना, मालगुजारी की व्यवस्था तथा शान्ति की स्थापना में व्यस्त थे। १८५७ के प्रारम्भिक दिनों में अंग्रेजों को तुलसीपुर निवासी फजल अली नामक एक व्यक्ति से संघर्ष करना पड़ा। फलस्वरूप अंग्रेजों ने तुलसीपुर को चारों ओर से घेर लिया। फजल अली ने अपने को चतुर्दिक घिरा देखकर बन्दूक चलानी शुरू की। परिणामस्वरूप उसके गोली का शिकार कर्नल व्यायूले को होना पड़ा। कर्नल के अन्य साथी मैदान छोड़कर भाग खड़े हुये, किन्तु कुछ ही दिन बाद फजल अली भी अंग्रेजों के एक मुठभेड़ में मारा गया। कर्नल ब्वायूले के बाद जी० एच० लारेन्स को गोण्डा का डिप्टी कमिश्नर नियुक्त किया गया। इस समय गोण्डा में अंग्रेजी सैनिकों का जमाव था। सेना बटालियनों में विभक्त थी। घाघरा नदी के उत्तर में बहराइच डिविजन का सम्पूर्ण भाग जी० सी० विंग्फील्ड, कमिश्नर, बहराइच की देख-रेख में रखा गया था।[४] "थर्ड अवध ईररेगुलर" गोण्डा में "फर्स्ट ईररेगुलर हार्स" और "सेकेन्ड अवध ईररेगुलर" कैप्टन जी० व्यायलू के नेतृत्व में और एक रेगुलर लाइट हार्स बैट्री लेफ्टीनेन्ट बोक्हम के नेतृत्व में सिकरौरा में मौजूद थे।[५] सिकरौरा में सैनिक विस्फोट की आशंका बढ़ती जा रही थी। इसलिए चीफ कमिश्नर विंग्फील्ड गोण्डा की ओर आना चाहते थे। एक बार जब विंग्फील्ड को स्वतन्त्रता सेनानियों ने घेर लिया तो बलरामपुर के तालुकदार दिग्विजय सिंह ने गुप्त रूप से अपने ५०० सवारों के साथ इनको सुरक्षित

---

१. रिवती, **पूर्वोद्धृत** भाग–४, पृष्ठ ३६०–३७०।
२. सिंह, जगदेव, **पूर्वोद्धृत**, पृष्ठ ५२–५३।
३. **वही**।
४. गब्बिंस, यम० आर०, **ऐन एकाउन्ट आफ दी म्यूटीनीज इन अवध** (लंदन) १८५८ पृष्ठ १२९–१३०।
५. बोन्हम, जे०, **अवध इन १८५७ सम मिस्टिरीज आफ दी इण्डियन म्यूटिनीज,** पृष्ठ ७०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थान पर भेजकर इनकी प्राण रक्षा की थी ।[१] एक ओर जहाँ गोण्डा क्रान्ति के कगार पर था वहीं दूसरी ओर सिकरौर में पहले ही अग्नि भड़क उठी थी । अतः कैप्टन व्यायूल तथा लेफ्टिनेन्ट हेल कैण्डल बलरामपुर चले गये । विंग्फील्ड जो इस समय गोण्डा पहुँच गये थे अब यहाँ अधिक दिनों तक रुकना नहीं चाहते थे, क्योंकि सिपाहियों की नियत खराब हो चुकी थी ।[२] अतः विंग्फील्ड भी बलरामपुर चले गये, इनके साथ अन्य अंग्रेज अधिकारी भी थे । कहा जाता है कि बलरामपुर के शासक दिग्विजय सिंह के साथ इनके सम्बन्ध अच्छे थे । अतः राजा ने इन सबका भव्य स्वागत किया ।[३] चूंकि विद्रोह की अग्नि चारों ओर फैल चुकी थी, इसलिए कोई अधिकारी एक स्थान पर अधिक दिनों तक रुकना पसन्द नहीं करता था । इस समय बलरामपुर के शासक जो अंग्रेजों के स्वामिभक्त थे, विद्रोहियों द्वारा घिर जाने के कारण एक किले में छिप गये । क्रान्तिकारियों के पास १,५०० पैदल तथा ४०० घुड़सवार थे । इनका उद्देश्य केवल धन एवं बन्दूक छीनना था । बालाराव ने अपने ४,००० सैनिकों द्वारा बलरामपुर को चारों ओर से लगभग १५ मील की दूरी में घेर लिया । अपने को संकटमय स्थिति में देखकर बलरामपुर के शासक ने चीफ कमिश्नर विंग्फील्ड के पास सहायता सम्बन्धी पत्र लिखा । परिस्थितियों को देखते हुये कमिश्नर ने उन्हें गोरखपुर चले जाने की सलाह दी थी । बड़ी कठिनाई के बाद बलरामपुर के शासक क्रान्तिकारियों के चंगुल से मुक्त हुये थे ।[४]

चीफ कमिश्नर विंग्फील्ड, जो बलरामपुर में अपने को असुरक्षित महसूस कर रहे थे, १२ जून को गोरखपुर के लिए रवाना हुये । अंग्रेजों के गोण्डा से चले जाने के बाद सैनिकों ने गोण्डा रेलवे स्टेशन को नष्ट कर दिया और स्वयं लखनऊ चले गये । इसी समय देवी बख्श सिंह अपने १,००० सैनिकों के साथ लखनऊ गये जहाँ उन्होंने बेगम हजरत महल की संरक्षता स्वीकार कर ली । इन्होंने महसूस किया कि अंग्रेजों से निपटना कोई सरल कार्य नहीं है इसलिए सेना में बढ़ोत्तरी अनिवार्य है । मझगवाँ के भइया हरिरत्न सिंह को छोड़कर लगभग सभी बिसेन वंशीय राजा इनके साथ थे । हरिरत्न सिंह एवं दिग्विजय सिंह ने अन्तिम क्षणों तक अंग्रेजों का खुलकर साथ दिया तथा अपनी स्वामिभक्ति एवं वफादारी का पूर्ण परिचय भी प्रस्तुत किया । तुलसीपुर की रानी राजेश्वरी देवी ने क्रान्तिकारियों का साथ देते हुये अंग्रेजों का विरोध किया । उतरौला के शासक रियासत अली खान अपने पारिवारिक कलह में उलझे हुए थे । किन्तु बूढ़ा पायर के शासक अशरफ बख्श ने सेनानियों का पक्ष लेकर देश भक्त होने का गौरव प्राप्त किया ।[५]

इस समय देवी बख्श सिंह के पास लगभग २०,००० अनुयायी थे । उन्होंने लखनऊ से वापस आकर चमनई नामक नदी पर अपना डेरा लगाया । इसी समय अंग्रेजों की गोरखा प्लाटून ने एक अगस्त १८५७ को गोरखपुर पर अधिकार कर लिया और आजमगढ़ की ओर कूच कर गये । किन्तु उनके जाते ही मोहम्मद हसन ने गोरखपुर को जीत लिया ।[६] मोहम्मद हसन अवध प्रान्त के अन्तर्गत गोण्डा बहराइच के नाजीम थे । उनके चुस्त प्रबन्ध तन्त्र के कारण ही यहाँ के लगभग समस्त

---

१. **वही**, पृष्ठ १२९, ४३३–३४, सेन, सुरेन्द्र नाथ, **एट्टीन फिफटी सेवेन** पृष्ठ १८९; नीरा श्रीवास्तव, **१८५७ ई० का स्वतन्त्रता संग्राम और उसका बलरामपुर राज्य की भूमि व्यवस्था पर प्रभाव**, पृष्ठ २; शोधप्रबन्ध, इतिहास विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित सेमिनार दिसम्बर १९७८ ।

२. सेन, यस० एन०, **१८५७**, पृष्ठ १८९ ।

३. **वही**, ।

४. रिजवी, **पूर्वोद्धृत**, भाग ४, पृष्ठ ३४६–४७ ।

५. गब्बिंस, यम० आर०, **पूर्वोद्धृत**, पृष्ठ १३०; **इन्डिया एण्ड दी वार १९१४–१९१८**, भाग १ एवं २; **कम्पाइल्ड एण्ड पब्लिस्ड बाई दी इन्टीरियल पब्लिसिंग, भाग १**, सेक्शन : **यूनाइटेट प्राविसेंज आफ कम्पनी आगरा एण्ड अवध**, पृष्ठ ४–५ ।

६. **डिस्ट्रिक गजेटियर आफ गोण्डा**, फर्दर पेपर सं० ५; **रिलेटिव टू यूनिटी इन दी ईस्ट इण्डिया १८५७** सं० २० पृष्ठ १०५ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तालुकदार उनके अधीन थे। बलरामपुर के राजा दिग्विजय सिंह शक्तिशाली थे और सिंहा चन्दा के जमींदार राम दत्त पाण्डेय उनके परम मित्र थे। चूंकि मोहम्मद हसन से राम दत्त पाण्डेय की कुछ अनबन थी इसलिए उसने रामदत्त की हत्या करा दी। फलतः राम दत्त के भाई किशन दत्त ने मोहम्मद हसन को परास्त कर दिया और अंग्रेजों से इनके विरुद्ध कार्यवाही करने की माँग की, किन्तु अंग्रेजों ने कोई ठोस कदम नही उठाया।[1] मोहम्मद हसन जो अब तक नाजिम था किन्हीं कारणों से विद्रोहियों का पक्षधर हो गया।[2] उसके ठोस कार्यों से प्रभावित होकर गोरखपुर के बहुत से राजा मोहम्मद हसन के साथ चले आये। मोहम्मद हसन ने १२ अगस्त १८५७ को कप्तानगंज तहसील पर अधिकार कर लिया। अतः यहाँ के जिला मजिस्ट्रैट पेटर्सन ने गोरखपुर छोड़कर आजमगढ़ जाने का निश्चय किया। अंग्रेजों ने कई बार गोरखपुर पर अधिकार करना चाहा किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। पर मोहम्मद हसन के क्षीण प्रशासन ने पाँच जनवरी १८५८ को गोरखपुर पर पुनः कब्जा करने के लिए अंग्रेजों को मजबूर कर दिया। एक अन्य विवरण के अनुसार २० फरवरी १८५८ को अंग्रेजों ने गोरखपुर पर कब्जा करना चाहा किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। इसी समय मोहम्मद हसन अपने सैनिकों को वेतन भुगतान न कर पाने में उलझे हुये थे। कहा जाता है कि बकाया वेतन पाकर उनके सैनिक गोण्डा राजा के पास चले आये।[3] जिस समय गोरखपुर में मोर्चाबन्दी तेजी पर थी उस समय विद्रोहियों का एक दल बेलवा घाट पर मोर्चाबन्दी में लगा था। यहाँ पर मार्च १८५८ में युद्ध हुआ, इसमें गोरखपुर के अतिरिक्त गोण्डा, बहराइच, इकौना, नानपारा, चर्दा तथा उतरोला के तालुकदारों की सेनाएँ भी सम्मिलित थीं।[4] ७ फरवरी १८५८ को गोरखपुर के मजिस्ट्रेट ने कमिश्नर को एक पत्र द्वारा सूचित किया कि लखनऊ की एक रेजीमेन्ट गोरखपुर पहुँच गई है। मोहम्मद हसन तथा हरिकिशन सिंह टांडा में हैं तथा गोण्डा के राजा देवी बख्श सिंह अपने आदमियों को युद्ध के लिए इकट्ठा कर रहे हैं।[5]

बेलवा युद्ध से पूर्व ही १,१०० शसस्त्र सैनिक गोण्डा राजा से मिल गये जब कि ५,००० सैनिक उसके पास पहले से ही मौजूद थे। बेलवा में क्रान्तिकारियों के पास ४,००० सिपाही, १०,००० अस्थायी सिपाही, ३०० लोहार, तथा ९ बन्दूकें थीं। किन्तु गोरखा रेजीमेन्ट के कमिश्नर ए० सी० प्रोलेडन की ४ फरवरी १८५८ की एक रिपोर्ट के अनुसार विद्रोहियों के पास ५०० सिपाही, ५०० सवार तथा ८ या १० बन्दूकें थीं। इस युद्ध में क्रान्तिकारियों को काफी हानि हुई। अंग्रेजी सैनिकों ने इनके लगभग ५०० व्यक्तियों को मार डाला तथा ८ बन्दूकें छीन लीं।[6] इसी समय तुलसीपुर के राजा ने उत्तरी सीमा पर स्थित पुलिस चौकी पर आक्रमण कर दिया जिसमें उनके दो सिपाही मारे गये। इस प्रकार यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि देवी बख्श सिंह तथा उनके सहयोगियों को बार-बार जो क्षति उठानी पड़ रही थी उससे उनकी जड़ें खोखली होती जा रही थीं।

स्वतन्त्रता की ज्वाला प्रदेश के लगभग समस्त जिलों में धधक रही थी। अंग्रेज अधिकार पर अधिकार करते जा रहे थे। स्वतन्त्रता सेनानियों में आपसी फूट बढ़ती जा रही थी जिसका लाभ अंग्रेजों ने उठाया। उन्होंने अवध के लगभग सभी जिलों पर अपना अधिकार कर लिया किन्तु गोण्डा के देवी बख्श सिंह इनकी पकड़ से बाहर रहे। इन्हें अपनी ओर

---

१. फर्दर पेपर सं० ७, **रिलेटेड टू म्यूटिनीज इन ईस्ट इण्डिया १८५७** सलंग्न सं० ९, पृष्ठ २११–१२।

२. एफ० एस०, **इन यू० पी०,** खण्ड–४, पृष्ठ ११२–१५४।

३. फारेन डिपा० एन० डब्लू० पी०, **नरेटिव आफ दी इवेण्टस फार गोरखपुर फार दी ओक ईडिंग २३ जनवरी १८५८।**

४. फारेन डिपा० एन० डब्लू० पी०, **नरेटिव आफ दी वोक ईडिंग ७ मार्च १८५७।**

५. **गोरखपुर कलेक्ट्रेट प्रीम्यूटिनी रिकार्डस बुक सं० १७७** लेटर्स इस्यूड बाई मजिट्रेट फ्राम जनवरी १८५६ टू अप्रैल १८५८ (राजकीय अभिलेखागार उ० प्र० लखनऊ)।

६. रिजवी; **पूर्वोद्धृत** भाग २ पृष्ठ २९८, ३१२ एवं ५९८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलाने का अंग्रेजों ने असफल प्रयास किया। अयोध्या के मान सिंह फिरंगियों के साथ हो गये। कपूरथला के स्वामिभक्त राजा पहले से ही अंग्रेजों के पक्ष में थे। इनकी सम्मिलित सेना ने गोण्डा पर आक्रमण करना चाहा, किन्तु देवी बख्श सिंह की कुशल रणनीति ने अंग्रेजों के कारनामों पर पानी फेर दिया। बड़ी कठिनाई के बाद अंग्रेज अपने को बचा सके।

गोण्डा बहराइच के राजाओं ने संयुक्त रूप से यह निर्णय लिया था कि वे एकजुट होकर अंग्रेजों का विरोध करेगें किन्तु अंग्रेजों के जाल में फँसकर अधिकांश राजाओं ने क्रान्तिकारियों का साथ छोड़ दिया। इसमें बलरामपुर के राजा दिग्विजय सिंह, मझगवाँ के गौरहा विसेन ठाकुर हरि रत्न सिंह प्रमुख थे। यही नहीं देवी बख्श सिंह के प्रमुख कार्यकर्ता कृष्ण दत्त पाण्डेय भी अंग्रेजों से जा मिले जिसका अंग्रेजों ने लाभ उठाया। १७ नवम्बर १८५८ को देवी बख्श सिंह एक लड़ाई में हार गये।[१] फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी।

२७ नवम्बर को अंग्रेजों ने क्रान्तिकारियों पर आक्रमण किया। इस सेना में अंग्रेज, सिक्ख तथा गोरखा के अतिरिक्त अयोध्या के राजा मान सिंह भी थे। समय परिवर्तनशील है, इस समय गोण्डा राजा की सेनायें चारों ओर से घिरती जा रही थीं, उन्हें जो भी गोला, बारूद तथा हथियार मिल रहे थे वे सब नकली थे। इस घटना से राजा देवी बख्श सिंह को बड़ा आघात पहुँचा। गोण्डा राजा के सैनिक अपनी जान बचाकर टिकरी के जंगल में छिप गये। स्वयं देवी बख्श सिंह अपने अनेक साथियों सहित बनकसिया कोट चले गये। कुछ ही दिनों बाद वहाँ भीषण युद्ध हुआ जिसमें देवी बख्श सिंह के लगभग ४०० सैनिक मारे गये और कई स्थानों पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इन्होंने मछली गाँव तथा बनगाँव पर आक्रमण करके देवी बख्श सिंह को परास्त कर दिया एवं उनका प्रमुख किला बनकसिया जीत लिया। बनकसिया कोट हाथ से निकल जाने के बाद देवी बख्श सिंह काफी दुःखी हुए तथा भिनगा चले गये।

यह भी स्वीकार किया जाता है कि महाराजा देवी बख्श सिंह लमती के युद्ध में पराजित होकर तुलसीपुर होते हुये भिनगा (बहराइच) आये थे। यहीं से उन्होंने अपनी छोटी पत्नी दिलराज कुँवरि को पयागपुर भेज दिया। पयागपुर में इनके निवास के लिए अलग से एक भवन बनाया गया जो छाया कुंआ के पास सफेद भवन के नाम से प्रसिद्ध है। यहीं उन्होंने अपने जीवन के शेष १८ वर्ष व्यतीत किये। एक अन्य विवरण के अनुसार देवी बख्श के सिंह के तीन पत्नियाँ थीं। प्रथम पत्नी पयागपुर, राजघराने से सम्बन्वित थीं जो नैपाल में राजा के मृत्यु के बाद पयागपुर लौट आयीं। तथा दूसरी वे जो भदावर राजा की पुत्री थीं इनके नैपाल जाते समय हीरे की कनी खाकर आत्महत्या कर ली थी।[२] महाराजा की मझली रानी चंदा राजघराने के राजा ज्योति सिंह (जोत सिंह) की पुत्री थीं। बेलवा तथा लमती के युद्ध में देवी बख्श सिंह के साथ इन्होंने अंग्रेजी सेना से युद्ध किया था। नैपाल जाते समय राजा ने इन्हें अपने मायके भेज दिया जहाँ वे कुछ दिनों तक जीवित रहीं।[३] इसी समय अन्य अनेक तालुकदारों तथा जमींदारों को अपनी मातृभूमि छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। बेनी माधव, मोहम्मद, मेंहदी हसन, अमर सिंह, खान बहादुर खान, बेगम हजरत महल, महमूद खान, नाना साहब, बाला साहब, तथा अन्य बहुत से प्रमुख क्रान्तिकारियों को देवी बख्श सिंह की श्रेणी में आना पड़ा। इन क्रान्तिकारियों ने अब यह निश्चय किया कि उन्हें नैपाल चला जाना चाहिए। उनका निर्णय अटूट था।[४] गाजीपुर के भागे हुए बहुत से क्रान्तिकारी नैपाल में आकर देवी बख्श सिंह से मिल गये।[५] इधर दिसम्बर में अंग्रेजों ने गोण्डा पर अधिकार कर लिया। सर होप ग्रान्ट अब बलरामपुर चले आये। यहाँ उन्हें मालूम हुआ कि नाना साहब के छोटे भाई बाला साहब को तुलसीपुर की रानी ने अपने यहाँ शरण दी है। अंग्रेजों को पुनः परेशानी हुई क्यों कि इस सयय तुलसीपुर ही क्रान्तिकारियों का अड्डा वना था। इनके

---

१. फारेन डिपा० (सिक्रेट) २७ नवम्बर १८५८ पृष्ठ ५, रा० अभि० नई दिल्ली।
२. नागर, **पूर्वोद्धृत**, पृष्ठ ९४।
३. सिंह, जगदेव, **पूर्वोद्धृत** पृष्ठ ६२।
४. सेन, यस० एन०, **१८५७** पृष्ठ ३६१; नागर अमृत लाल, **गदर के फूल**, पृष्ठ, १०३।
५. रिवजी यस० ए० ए०, **फ्रीडम स्ट्रगल इन उत्तर प्रदेश**, भाग ४, पृष्ठ २८३-८६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सफाया हेतु सर होप ग्रान्ट ने बस्ती से रोक्राफट को तुलसीपुर पर आक्रमण करने का आदेश दिया। अव्यवस्थित क्रान्तिकारियों में सहसा हुए, इस आक्रमण को रोकने की क्षमता नहीं थी। फलतः वे भागकर तराई क्षेत्र में चले गये। इस युद्ध में अंग्रेजों को दो बन्दूकें भी प्राप्त हुई।[1]

अंग्रेजों को भय था कि तुलसीपुर के बाद विद्रोही कहीं गोरखपुर में विद्रोह न कर दें। इसी डर से होप ग्रान्ट ने बस्ती जिले में विस्कोहर नामक स्थान पर आक्रमण करके विद्रोहियों का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। इसी समय अंग्रेजों को सूचना मिली कि विद्रोही नैपाल की ओर भाग रहे हैं अतः इन्होंने अपना पड़ाव नैपाल सीमा पर लगा दिया अतः मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण क्रान्तिकारी अंग्रेजों के चंगुल में फँसते जा रहे थे। इस प्रकार ४ जनवरी १८५९ को लगभग समस्त क्रान्तिकारियों पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। बचे हुये क्रान्तिकारी भागकर नैपाल के जंगलों से छिप गये।[2]

कुछ समय बाद १८५९ में ही सर होप ग्रान्ट को सूचना मिली कि देवी बख्श सिंह ने लगभग ४,००० साथियों के साथ बनकसिया कोट को घेर लिया है तथा १८,००० अन्य विद्रोहियों ने घाघरा पार का मार्ग अवरुद्ध कर दिया है। अतः सर होप ग्रान्ट ने इस अभियान की बागडोर कर्नल वाकर को सौंपी। कर्नल ने अपने सूझ-बूझ का परिचय देते हुए विद्रोहियों को भगाने में सफलता प्राप्त की।

२,५०० फीट की ऊँचाई पर स्थित नैपाल राज्य के अन्तर्गत दाँग नामक स्थान गोण्डा के उत्तर में स्थित है। इसका सम्बन्ध तुलसीपुर राज्य से था। यही कारण है कि जिस समय अंग्रेजों ने तुलसीपुर के राजा दृग्नारायण सिंह को बन्दी बनाकर लखनऊ जेल में भेजा था उस समय तुलसीपुर की रानी अपने गोद में बच्चा लेकर दांग गयीं थीं। इस वंश के वशंज आज भी वहाँ मौजूद हैं। कहा जाता है कि चैत्र शुल्क दशमी को आज भी दांग से पूजन सामग्री आती है। उसके चढ़ावा के बाद ही देवी पाटन मेले का प्रारम्भ होता है। यही वह दांग है जहाँ अंग्रेजों से पराजित होने के बाद देवी बख्श सिंह तथा उनके अन्य सैनिक आये थे। जलवायु की दृष्टि से यह स्थान स्वास्थ्यवर्द्धक नहीं था। ऐसा माना जाता था कि यहीं पर देवी बख्श सिंह की मृत्यु हुई थी किन्तु यह अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। यह भी कहा जाता है कि देवी बख्श सिंह की मृत्यु नैपाल में मलेरिया रोग से अगस्त १८६६ में हुई थी।[3] एक अन्य विवरण के अनुसार देवी बख्श सिंह ४ जुलाई १८५९ को नैपाल में स्वर्गवासी हुये।[4] महाराजा देवी बख्श सिंह अपनी अद्भुत वीरता, स्वाभिमान एवं देशभक्ति के लिए विख्यात हैं। एक शताब्दी बीत जाने के बाद भी गोण्डा का जनमानस स्वतन्त्रा के वीर पुजारी का नाम लेते अपने को गौरवान्वित महसूस करता है।

---

१. **डिस्ट्रिक गजेटियर आफ गोण्डा**, पृष्ठ १६१।
२. सिंह, भगवती, **दिग्वीजय भूषण**, पृष्ठ १९।
३. सिंह, जगदेव, **पूर्वोद्धृत**, पृष्ठ ६४।
४. फारेन डिपो० पौलिटिकल टेलीग्राम में २९ जुलाई १८५९ फाइल सं० ३२५।६ राजकीय अभिलेखागार, नई दिल्ली।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में आजमगढ़ जनपद का योगदान

शालिग्राम शुक्ल 'नीर' *

आजमगढ़ जनपद में सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम की चिनगारी दिल्ली के सम्राट बहादुर शाह जफर, अवध की बेगम हजरत महल तथा उनके वजीर अली नकी खाँ और अन्य बहादुरों जैसे नाना साहब, तात्या टोपे, फतेह बहादुर, राजा जयलाल सिंह, बेनी माधव सिंह तथा मौलवी अहमद शाह इत्यादि सभी लोगों के खुले रूप में विप्लव की तैयारी में जुट जाने के साथ ही भड़की। लखनऊ से पृथक होते ही अवध के सेनापति 'नसरत-ए-ज़ंग' फतेह बहादुर ने वहां की बन्दूकें, मशीनगनें और गोला-बारूद बड़ी मात्रा में अपने भाई अतरौलिया के राजा बेनी माधव सिंह को सुपुर्द कर दिया था। अतरौलिया अर्थात् पश्चिमी आजमगढ़ के दक्षिण-पूर्व में शमशाबाद और माहुल के इलाके थे, जहाँ के तत्कालीन राजा इरादतजहां और उनके पुत्र मुजफ्फरजहां ने भी विप्लव में पूर्ण सहयोग देने की ठान ली थी। इस प्रकार जनपद के पश्चिमी भाग में इस क्रान्ति की रणनीति का नेतृत्व कर रहे तीनों सरदारों ने फैजाबाद के मौलवी अहमद शाह से सम्पर्क कर के आजमगढ़ नगर की उत्तरी सीमा पर बसे अट्ठैसी के विसेन राजपूतों के गांव हीरा पट्टी के विप्लवी सरदार ठा० परगन सिंह से भी सम्पर्क किया। परगन सिंह के नेतृत्व में परदहा के ठा० जालिम सिंह, आजमगढ़ के गोगा और भीखा साहु तथा मेघई, दुबरी, भगत पुर, नैंनीजोर, रुदरी, ब्रह्मौर, मोहब्बत पुर, बगई डाँड़ आदि गावों के बहादुर क्रान्तिकारियों ने विद्रोह की पूरी सामग्री जुटा ली। इस प्रकार लगभग पूरे जनपद में ही स्वाधीनता संग्राम में पूरी तैयारी से कूद पड़ने की योजना तैयार हो गयी।

जनपद का शासनप्रबन्ध क्रान्ति से पूर्व ही अवध के नवाब के हाथों से निकल कर अंग्रेजों के पास जा चुका था। अंग्रेजों के अधीन होते ही जनपद की जनता ने कई बार विसेन और पलिवार राजपूतों के सहयोग से आजमगढ़ पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न किया था। आंशिक रूप से कुछ सफलता मिली भी थी। यहाँ की क्रान्तिकारी हरकतों के परिणाम स्वरूप अंगरेजी सरकार ने भावी आन्दोलन की आशंका से अपनी १७ वीं रेजोमेन्ट की ५,००० पैदल सेना की एक टुकड़ी जनपद में पहले से ही रख छोड़ी थी। बैरकपुर की विद्रोही घटना की सूचना देशव्यापी होते ही यहाँ भी पहुँच गयी। खबरें यहां की सेना के सैनिकों भी मिलीं। उनका विद्रोही रक्त खौल उठा और उन्होंने क्रान्ति के नायकों से सम्पर्क करना प्रारम्भ कर दिया। हीरापट्टी के ठा० परगन सिंह पहले से ही इस स्वर्णिम अवसर की खोज में थे। अतः सूत्र मिलते ही ये लोग टौंस नदी के किनारे स्थित गौरीशंकर घाट पर गुप्त रूप से मिलने-जुलने लगे थे। कहते हैं कि अप्रैल १८५७ में होली के त्योहार के आस-पास ही एक रात इसी गौरीशंकर घाट पर विप्लवी नेताओं की एक गुप्त बैठक चल रही थी जिसमें ठा० परगन सिंह, करतार पुर के ठा० हरनाम सिंह, परदहा के ठा० जालिम सिंह आदि भी उपस्थित थे। बाहर से आने वाले कुछ अन्य लोगों की प्रतिक्षा हो रही थी तभी एक अंग्रेज अधिकारी कुछ गोरे सैनिकों के साथ अचानक वहाँ पहुँच गया। क्रान्तिकारियों को भनक मिल गयी और वे अंधेरे में छिप गये। ठा० परगन सिंह और जामिल सिंह अपने स्वभावानुसार भाग नहीं सके और एक साधु की कुटिया में चले गए। गोरे सेनिकों के वहाँ भी भी पहुँच जाने पर साधु की सलाह से दोनों वीर नदी की धारा में कूद पड़े। आवाज होते ही अंग्रेज नदी की ओर बढ़े और दौड़ कर गोलियाँ बरसाने लगे। उत्तर-पूर्व में स्थित आजमशाह के किले की ओर से भी गोलियां बरसीं किन्तु क्रान्तिकारियों का बाल भी बांका नहीं हुआ। उनकी योजना में बाधा अवश्य पड़ी।

* श्रीगांधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मालटारी, आजमगढ़।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस घटना के बाद से ही अंग्रेज आजमगढ़ पर विशेष दृष्टि रखने लगे और नगर के प्रवेश मार्गों तथा सरकारी स्थानों पर उनके पहरे कड़े कर दिये गये। उक्त गोली-बारी के बाद २४ मई से ही तत्कालीन कलेक्टर मि० हार्न लगातार तार भेज कर बनारस के कमीश्नर को ताज़ा सूचनाओं से अवगत कराने लगा। उसे डर हो गया था कि कहीं ऐसा न हो कि आजमगढ़ भी स्वाधीनता संग्राम में एक प्रमुख भूमिका निर्वाह कर उसका सिर-दर्द बन जाय। इसके लिए उसे भारी कीमत चुकानी पड़ती।

मई १८५७ में जनपद के स्वाधीनता संग्राम ने एक दूसरा ही मोड़ लिया। यह था सरकारी खज़ाने के लूटने का कार्यक्रम। विप्लवी नेताओं को इस बात की सूचना मिल गयी कि गोरखपुर से ५ लाख रुपयों का सरकारी खज़ाना आजमगढ़ होते हुए बनारस जाने वाला है। उन्हें यह भी मालूम हो गया कि १८ मई को गगहा में खज़ाने पर विप्लवियों का हमला होगा। किन्हीं कारणों से यह हमला नहीं हो सका और २७ मई को घाघरा नदी पार कर खज़ाना २९ मई को आजमगढ़ में प्रवेश कर गया। दोहरी घाट और आजमगढ़ के बीच उसे लूटने की योजना भी सफल न हो सकी। अब बारी थी जनपद के विद्रोहियों की। खज़ाने के सुरक्षित पहुँचने का समाचार मिलने के साथ-साथ ३० मई की रात से ही विभिन्न स्थानों पर विप्लवी सैनिको का हीरापट्टी, मोहब्बतपुर आदि गाँवों में एकत्रीकरण प्रारम्भ हो गया। अंगरेज अधिकारी भी खज़ाना लूटने की सूचना से अवगत हो गये और उन्होंने उसकी सुरक्षा का कड़ा प्रबन्ध करना शुरू कर दिया। गोरखपुर के खज़ाने के साथ आजमगढ़ के खज़ाने का भी २ लाख रुपया भेजने की योजना बनायी गयी और इसके लिए तैयारियाँ शुरू हो गईं। ३ जून की संध्या को खज़ाने का ७ लाख रुपया १३वों घुड़सवार सैनिक टुकड़ी सहित एक गोरी सैनिक टुकड़ी के साथ लेफ्टिनेन्ट पैलिसर के संरक्षण में उपस्थित अधिकारियों के समक्ष राजशक्ति की शपथें खाकर रवाना हुआ। इसके पूर्व ही खज़ाना भेजे जाने की सूचना १७ वीं रेजिमेण्ट के विद्रोही सैनिक सरदार बन्धू सिंह को भी मिल गई। उन्होंने विद्रोही सैनिकों की एक आवश्यक गुप्त बैठक बुलाई और खज़ाना रोकने का निश्चय किया। उन्होंने सेना के अधिकारियों तथा प्रशासकों को खुली नोटिसें भेजीं की खज़ाना बाहर न भेजा जाय किन्तु अँगरेजों ने उनकी एक भी न सुनी। परिणाम स्वरूप ज्यों ही खज़ाना ले कर गोरी टुकड़ी नगर के दक्षिण 'रानी की सराय' बाजार के समीप पहुँची त्यों ही विप्लवी दल उस पर टूट पड़ा। दोनों दलों में जबरदस्त मुकाबला हुआ। मुठभेड़ में कर्नल डेविस तथा कई गोरे सैनिक घटना स्थल पर ही मारे गये। पैलिसर कुछ घुड़सवारों सहित बच निकला और बनारस पहुँच कर खज़ाना लूटे जाने की सूचना दी। इधर खज़ाना विप्लवी सरदारों के हाथ लग गया और उन्होंने साथ ही साथ आजमगढ़ नगर पर भी धावा बोल दिया। जेलखाने का फाटक तोड़कर बन्दी रिहा कर दिये गये और कलेक्टरी कचहरी पर चढ़ाई करा दी गयी। इस विद्रोह में २७ वीं रेजीमेण्ट के भारतीय सैनिकों ने भी हाथ बटाया और अंगरेज सैनिकों की खोज होने लगी। कचहरी और अनेक दूसरे कार्यालयों में अंगरेज अधिकारी पिट गये जिन्हें गिरफ्तार कर विप्लवियों ने बिना दण्ड दिये सवारियाँ आदि देकर गाजीपुर और बनारस भेज दिया। इस प्रकार आजमगढ़ नगर की शासन व्यवस्था पर ३ जून को लगभग १०–११ बजे रात तक ही ठा० पृथ्वीपाल सिंह के नेतृत्व में विप्लवी दल का पूरा अधिकार हो गया और स्वाधीनता का झन्डा फहराने लगा।

नगर की स्वधीनता देखकर पास के कई अन्य इलाकों के राजाओं और शासकों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और अगरेजों के चंगुल से बाहर निकल आये। शमशाबाद के इरादतजहाँ अपने क्षेत्र के शासक घोषित हुए। १७वीं रेजीमेण्ट के सैनिक बन्धू सिंह अपने साथियों के साथ पश्चिम की और बढ़ गये और अनेक अंगरेज सैनिकों तथा अधिकारियों को समाप्त कर भारतीय सैनिकों के साथ किये गये विश्वास-घात का बदला चुकाया।

आजमगढ़ पर विप्लवी दल का शासन अधिक दिनों तक नहीं चल सका क्योंकि नगर पर आधिपत्य जमाने के बाद प्रमुख सरदार समीपवर्ती जिलों की ओर क्रान्ति की ज्वाला को प्रज्ज्वलित करने के उद्देश्य से चले गये थे। मौका मिलते ही जून के अन्तिम सप्ताह में बनारस से आई एक गोरी टुकड़ी के साथ मि० वेनी कुल्स, तथा दोहरीघाट के निकट नीलगोदाम के मालिक और मजिस्ट्रेट ने २२ जून को नगर पर पुनः अपना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकार कर लिया। इस बीच गाजीपुर और बनारस से पर्याप्त गोरखा और गोरी सेना आ गई जिससे यहाँ अंगरेजों के हाथ और भी मजबूत हो गये। सब तरह से अपनी स्थिति सुदृढ़ कर मि० वेनी कुल्स ने २६ जून को अतरौलिया के किले पर धावा बोल दिया। यहाँ राजा बेनीमाधव सिंह की सेना ने लगातार तीन दिनों तक घोर संग्राम कर अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये। अनेक अंग्रेज अधिकारी मारे गये, कुछ बन्दी हुए और बहुत से जान बचाकर भाग गये। राजा साहब की सेना के हाथ बहुत सा गोला बारूद और तीन तोपें भी लगीं। इससे इन लोगों की हिम्मत बहुत बढ़ गई।

नगर की जनता को ज्यों ही अतरौलिया की विजय की सूचना मिली त्यों ही उसमें पुनः उत्साह जाग उठा। आस-पास की लगभग चार हजार लोगों की सहायता से ठा० परगन सिंह, रज्जब अली, जगबन्धन सिंह, रामगुलाम सिंह तथा कुंजन सिंह आदि बहादुरों ने नगर की कोतवाली पर आक्रमण कर दिया। कठिन संघर्ष के बाद इन लोगों ने कोतवाली पर पूर्ण अधिकार कर लिया और वहाँ के सारे कागज-पत्र नष्ट कर डाले। इस संघर्ष में लगभग ३० बलवाई मारे गये और बहुत से आहत हुए।

मि० वेनी कुल्स पुनः परेशान हो गये और अपनी पराजय का समाचार काफी बढ़ा-चढ़ा कर बनारस भेजा। बनारस में बड़ी मात्रा में एकत्रित गोरखा, सिक्ख और अंग्रेजी सेना का एक बहुत बड़ा भाग तुरन्त कर्नल मिलमैन के संरक्षण में आजमगढ़ की ओर रवाना हो गया। गोरखपुर से कर्नल राटर्न की देख-रेख में गोरखा रेजीमेंट की भी एक टुकड़ी अलग से भेजी गई। दोनों सेनाओं ने मिलकर १२ जुलाई को कोयलसा पर चढ़ाई कर दी क्योंकि उस समय कोयलसा में ही अधिकांश विद्रोही सैनिक और विप्लवी एकत्रित थे तथा अगली योजनाएँ बना रहे थे। अंग्रेजों के आक्रमण की खबर विप्लवियों को मिलते देर न लगी। वे सजग हो गये और अपने को दो भागों में बाँटकर बूढ़नपुर के पास उस समय के घने जंगल में अंग्रेजों को घेर लिया। १३ जुलाई को घण्टों भीषण मुकाबला चला। दोनों ओर के सैनिक हताहत हुए। अंग्रेजों को काफी क्षति उठानी पड़ी। दूसरे दिन पुनः संग्राम शुरू हो गया और अंधेरा होते-होते अंग्रेजी सेना पीछे हटने लगी तथा भागकर आजमगढ़ नगर की ओर लौट आई। विप्लवी सैनिक विजय पताका फहराते कोयलसा की ओर लौट गये।

कोयलसा में विजय मिलने के बाद आजादी के दीवानों ने १४ जुलाई को नगर पर धावा बोल दिया। अंग्रेजों ने आगे बढ़कर सेहदा ग्राम में उन्हें रोका किन्तु सफलता नहीं मिली। वे पीछे हटने लगे और विप्लवी सैनिक साथ साथ नगर में घुसने लगे। १८ जुलाई को वे नगर में प्रविष्ट कर गये। इस युद्ध में काफी अंग्रेज मारे गये। बहुत से इधर-उधर भागकर छिप भी गये। नगर में आधिपत्य होते ही विधिवत् स्वतन्त्रता की घोषणा हुई और ठा० पृथ्वीपाल सिंह की देख-रेख में जनपद की व्यवस्था प्रारम्भ की गई। जनपद की यह स्वतन्त्रता निर्विघ्नता पूर्वक लगभग सवा मास चली किन्तु इसे अंग्रेजी शासक बर्दाश्त नहीं कर सके। उन्होंने बहादुर गोरखा रेजीमेंट की पूरी सहायता ली और कर्नल ग्रेंटर्न के नेतृत्व में पुनः अचानक आक्रमण कर दिया। दनदनाती गोलियों और भीषण चालों के आगे निहत्थे विद्रोही टिक न सके। अंग्रेज इस बार सफल हुए। वे जबरदस्त पड़े ओर २६ अगस्त को जनपद पर पुनः उनका अधिकार हो गया। निराश होकर ठा. पृथ्वीपाल सिंह ने अपने सहयोगियों के साथ किसी गुप्त स्थान पर जाकर शरण ली और उचित अवसर की प्रतिक्षा करने लगे। अंग्रेजों ने विप्लव का बदला यहाँ की जनता और पकड़े गये विद्रोहियों से चुकाना प्रारम्भ कर दिया। बहुत से जवानों को नगर के एतावल मुहल्ले के पूरब बाँध के नीचे बड़े बाग में कैथ के वृक्ष पर लटका कर फाँसी दे दी गई। बहुतों के परिवारों को लूट लिया गया और अनैतिक आचरण किये गये। भागे हुए अंग्रेज अधिकारी पुनः नगर में आ गये और ३ सितम्बर १८५७ को यहाँ के शासन की बागडोर गोरखा रेजीमेंट से अपने हाथों में ले लिया। रेजीमेंट ७ सितम्बर को जौनपुर के लिये कूच कर गई।

आजमगढ़ पर अंग्रेजों के अधिकार की सूचना ठा० परगन सिंह ने अतरौलिया भेजी। वहाँ पर निश्चय हुआ कि आजमगढ़ पर पुनः अधिकार किया जाय। आक्रमण की तैयारियाँ शुरू हो गयीं जिसमें दूर-दूर तक की जनता ने भी पूरा सहयोग दिया। राजा बेनीमाधव सिंह के वफादार सहायकों गोलन्दाज भोला सिंह, मर्दन सिंह और सरदार हरनाम सिंह ने भी अपनी तैयारी प्रारम्भ कर दी और ५० मन विषैला मसाला तथा जहरीली गैसों का निर्माण कर डाला। इस तैयारी की सूचना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कतिपय देश-द्रोहियों द्वारा अंग्रेजों तक पहुँचा दी गई जिससे अंग्रेज सतर्क हो गये। उन्होंने पास के जनपदों से गोरखा, सिक्ख, भूटानी और गोरी सेना की एक जबरदस्त संख्या एकत्र कर ली। नगर पर धावा बोलने की इच्छा से अतरौलिया से चलकर विप्लवी सैनिक कप्तानगंज के पास मंदुरी ग्राम में पड़ाव डाले पड़े हुए थे। २० सितम्बर की रात में अचानक अंग्रेजी सेना ने उन पर आक्रमण कर दिया। नेतृत्व कर रहे थे मि० वेनी कुल्स। अचानक होने वाले हमले से विप्लवी घबरा उठे। उन्होंने यथाशक्ति मुकाबला किया। किन्तु अपूर्व रणकौशल प्रदर्शित करने के बाद भी उनके पाँव उखड़ गये। बहादुर जवान मर्दन सिंह, भोलासिंह, हरनाम सिंह आदि युद्ध में शहीद हो गये। विप्लवियों के गोले-बारूद भी चूक गये और भोजन सामग्री भी समाप्त हो गई। परिणामतः नायकों को भी रणक्षेत्र छोड़ना पड़ा। पकड़े गये विप्लवी सैनिकों को अंग्रेजों ने कोड़ों से पिटवाया और मंदुरी गाँव के बगीचे में आम के पेड़ों से लटकाकर फाँसी दे दी। मंदुरी में हुए इस भयंकर खून-खराबी को आजादी के इतिहास में कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। फाँसी पर लटकाये जाने वाले शहीदों का अदम्य साहस और देशभक्ति भारतीय स्वतन्त्रता के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में अंकित है जिसे युग-युग तक स्मरण किया जायगा।

मंदुरी में सफलता के बाद अंग्रेजों के हौसले बुलन्द हो गये। उन्होंने रास्ते के गाँवों को लूटते-फूँकते अतरौलिया की ओर प्रस्थान कर दिया। असहाय विप्लवियों ने अतरौलिया का गढ़ छोड़ दिया और जाते-जाते अपनी रसद सामग्री और दूसरी चीजें फूँक दीं। किले को खाली देखकर अंग्रेज बौखला उठे और उन्होंने वहाँ खूब बर्बादी की, लूटा-पाटा और उत्पात मचाया। निरीह जनता को भी कोप का भाजन बनाया। लोहरा गाँव के अनेक ठाकुर परिवारों के जवानों को पीपल से उल्टा लटकवा कर मार डाला, गले कसकर फाँसी दे दी। भीषण आतंक फैलाती हुई अंग्रेज सेना दो भागों में बँट कर आजमगढ़ लौट गई। एक तो उसी मार्ग से आई जिस मार्ग से गई थी किन्तु दूसरी माहुल और शमशाबाद होकर लौटी। वहाँ भी कुहराम मचाया और लूट-पाट मचाया। इस प्रकार एक बार पुनः आजमगढ़ जनपद पर अंग्रेजों का पूर्ण आधिपत्य हो गया। उन्होंने इस प्रयास में बड़ी तैयारी की थी और सफल भी हुए।

जनपद पर शासन कर रहे अंग्रेज यहाँ के बहादुर क्रांतिकारियों से तंग आ चुके थे। भविष्य में कोई उत्पात न हो, इस उद्देश्य से उन्होंने सन्धिवार्त्ता का रास्ता अपनाया। इस कार्य के लिये गोरखपुर के ज्वाइण्ट मजिस्ट्रेट मि० बर्ड को चुना गया। बर्ड का दूत शान्ति का पैगाम लेकर ठा० पृथ्वीपाल सिंह के पास पहुंचा। पहले तो ठाकुर पृथ्वीपाल सिंह ने झुकना अस्वीकार कर दिया किंतु कहते हैं कि तिघरा रियासत के फिर जाने और लूट-पाट से विवश होकर उन्होंने सन्धि का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

इधर ठा० परगन सिंह ने पुनः अपनी शक्ति अर्जित कर अपने सहयोगियों के साथ महराजगंज थाने पर धावा बोलकर उसे अपने अधिकार में कर लिया। उन्होंने जिले के पूर्वी भाग स्थित तत्कालीन तहसील सिकन्दरपुर पर अपना अधिकार कर लिया। अंग्रेजों ने पुनः महराजगंज की ओर प्रस्थान किया और भीषण रक्तपात हुआ। थाने पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया और विप्लवी इधर-उधर छिप गये। जनश्रुतियों के अनुसार ठा० परगन सिंह नदी मार्ग से बिहार की ओर चले गये और उन्होंने जगदीशपुर के राजा, स्वाधीनता संग्राम के अमर सेनानी बहादुर कुँवर सिंह से बात-चीत की और उनसे आजमगढ़ की ओर आने की प्रार्थना की।

क्रांति और विप्लव की इस उठा-पटक में उलझा रक्त-रञ्जित वर्ष १८५७ व्यतीत हो गया और आजमगढ़ जनपद पर अंग्रेजों की पकड़ मजबूत हो गई किन्तु आजादी का उन्माद यहीं नहीं रुका। इसके ठीक बाद ही प्रारम्भ होता है जनपद में अपूर्व योद्धा वीर कुँवर सिंह का अभियान जिसने पुनः क्रांति को ज्वाला दुगनी शक्ति से जगा दी और रक्त-पात के इतिहास का एक नया अध्याय ही लिख डाला।

सन्दर्भ ग्रन्थ— १. फूलवदन सिंह **आजमगढ़ का स्वाधीनता संग्राम** (राजनीतिक इतिहास)।
२. मिण्ड्रेक ब्रोकमैन, **डिस्ट्रिक्ट गेजिटियर, आजमगढ़** १९०९ ई०।
३. **स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिक**, (जिला आजमगढ़) सूचना विभाग उत्तरप्रदेश।
४. नन्दलाल चटर्जी, **पञ्चायतीराज, स्वतन्त्रता विशेषांक** १९५५ ई०।
५. पं० दयाशंकर मिश्र, **आजमगढ़ का इतिहास।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में गोरखपुर जनपद का योगदान

विश्राट चन्द्र कौशिक*

सदानीरा (नारायणी) तथा सरयू के अन्तर्वेदी तक प्राचीन गोरखपुर जनपद का विस्तार था। वैवस्वत् मनु की पुत्री इला का विवाह हिमालयवर्ती चन्द्र के पुत्र बुध से हुआ और सूर्य वंश के समान ही भारतीय इतिहास में चन्द्र वंश भी प्रतिष्ठित था। इन्हीं वंशों के प्रसार, प्रत्यावर्तन, संघर्ष और समन्वय का इतिहास मुख्यतः भारतवर्ष का इतिहास है। इतिहास के इस कालखण्ड में गोरखपुर जनपद का संबन्ध विशेषतः अयोध्या से रहा। अपनी स्वतन्त्रता के लिए इस जनपद के वासी सदा से प्रसन्न रहे। त्रेता युग में श्री रामचन्द्र के पश्चात् सुमित्रा के पुत्र अंगद और चन्द्रकेतु को मल्ल भूमि और चन्द्रकान्ता का राज्य दिया गया। रामायण एवं महाभारत से ज्ञात होता है कि गोरखपुर जनपद सभी प्रकार से समृद्ध और सम्पन्न था। बुद्धकालीन गणराज्यों की प्रयोगभूमि गोरखपुर जनपद ही रहा है जो अपनी राजनैतिक स्वतन्त्रता से गणराज्य पद्धति पर शासन करते थे। विदेशी आक्रमणकारियों के काल में भी यह जनपद स्वतन्त्र रहा है। सर्वप्रथम अकबर के शासन काल में गोरखपुर जनपद में सैनिक छावनी निर्मित की गयी। पराधीनता के इस काल में भी जनपद के जनों में स्वतन्त्रता की आग सुलगती रही और अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष के लिये अवसर ढ़ूँढ़ रहे थे।

कार्ल मार्क्स ने भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के संघर्ष में उचित ही लिखा है कि "भारत का चरित्र उपनिवेश विरोधी है ओर यह संघर्ष सिपाही विद्रोह नही अपितु राष्ट्रीय विरोध है"। स्वतन्त्रता संघर्ष के विवरण अधिकांशतः विदेशी विवरणों के आधारों पर ही आधारित हैं। हिन्दी में तो इस प्रथम स्वन्तत्रता संघर्ष पर कोई अधिकृत पुस्तक उपलब्ध नहीं है। वीर सावरकर ने अंग्रेजी में फ्रीडम स्ट्रगल १८५७ को अंग्रेजी में प्रकाशित किया था जिसका हिन्दी अनुवाद उपलब्ध है। किन्तु इसमें इस संघर्ष के राष्ट्रीय महत्व पर प्रकाश डाला गया है परन्तु जनपदीय एवं प्रदेशीय योगदानों के विवरण से सम्बन्धित कोई भी पुस्तक हिन्दी में उपलब्ध नहीं है। अतः १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में गोरखपुर जनपद का क्या योगदान रहा इसका संक्षिप्त सर्वेक्षण यहाँ प्रस्तुत है :—

प्रथम विस्फोट

अंग्रेजी राज्य के शोषण एवं अन्याय के विरूद्ध जो निर्धूम आग सम्पूर्ण राष्ट्र में सुलग रही थी जिसके विरूद्ध सम्पूर्ण राष्ट्र ने अहिंसावासी आन्दोलन से पृथक हटकर एक प्रत्यक्ष संघर्ष के मार्ग को स्वीकारा उसका प्रथम विस्फोट अंग्रेजों के सुदृढ़ दुर्ग कलकत्ते के बैरकपुर की एक सेना में हुआ। इस स्वतन्त्रता यज्ञ के प्रथम पुरोहित मंगल पाण्डेय थे जो गोरखपुर के निकटवर्ती जनपद बलिया के थे। स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने वाले मुख्यतः सरदार, सैनिक, सामन्त, किसान, कारीगर तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के हिन्दू थे। सर्वप्रथम अंग्रेजी सेना में विद्रोह हुआ, फिर राजाओं और जमीदारों ने स्वतंत्रता का झण्डा उठाया। तत्पश्चात् इस देश की स्वातंत्र्य-प्रिय प्रजा ने उनका साथ दिया। स्वतंत्रता की लपटें गोरखपुर में भी पहुँचीं और यहाँ के जनों ने इस स्वातंत्र्य समर में अपने प्राणों की आहुति दी।

संघर्ष के प्रमुख केन्द्र

क्रान्तिकाल में गोरखपुर के कलक्टर मिस्टर पर्टेलन, ज्वाइन्ट-मजिस्टेट बर्ड, जज विनवार्ड और सेना के कप्तान स्टील थे जो आजमगढ़ में रहते थे। स्वतन्त्रता संघर्ष का सामना इन्हीं अधिकारियों को करना पड़ा। सर्वप्रथम बरहज बाजार (प्राचीन गोरखपुर) के निकट पैना गाँव के क्षत्रियों ने स्वतन्त्रता की घोषणा करके सरयू नदी द्वारा होने वाले आवागमन पर अधिकार कर लिया और अंग्रेजों के सहायता के लिये आयी सामानों से भरी हुई नाव को लूट लिया। बड़हलगंज के पास आजमगढ़ को जोड़ने

---

* प्रा० मा० इ० विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाली नावों के कतारों तितर-बितर कर दिया। उस समय अंग्रेजी सेना की प्रमुख छावनी आजमगढ़ था। स्वतन्त्रता संग्राम के कुछ प्रमुख केन्द्र निम्नलिखित थे :—

नरहरपुर

गोरखपुर जनपद में विद्रोह का प्रथम केन्द्र नरहरपुर था जो गोरखपुर-वाराणसी राष्ट्रीय राजमार्ग के सटे घाघरा पुल के पास बड़हलगाँव के निकट स्थित है। नरहरपुर के खण्डहर आज भी स्वतंत्रता संग्राम के स्मृतियों के अवशेष के रूप में बिखर पड़े हैं। नरहरपुर के राजा हरप्रसाद सिंह के नेतृत्व में यहाँ के किसानों, मजदूरों एवं सरदारों ने अंग्रेजों के सैनिक केन्द्र बड़हल गंज पर आक्रमण कर अंग्रेजी सेना को मारकर भगा दिया। बड़हलघाट पर अधिकार कर लिया और गोरखपुर-बनारस-आजमगढ़ का सम्बन्ध काट दिया। क्रान्ति-काल में अंग्रेजों ने दक्षिण और उत्तर को मिलाने वाले राज-मार्ग के सुरक्षा के लिये बड़हलगाँव में अपना अड्डा बनाया था जहाँ उनकी सुदृढ़ पुलिस व्यवस्था थी। इसीलिए नगर (बस्ती), सतासी (देवरिया) और नरहरपुर (गोरखपुर) के क्षत्रिय राजवंशों के स्वामियों ने परस्पर मिल-जुलकर गोर-खपुर को मुक्त कराने की रणनीति की योजना बनायी जिसे सुनकर अंग्रेजो में बेचैनी फैल गई। इसी समय कुछ सैनिकों ने गोरखपुर के खज़ाने और जेल पर भी आकमण किया। १८५७ के संघर्ष में यहाँ के राजा ने अपने वीर क्षत्रिय परि-वारों तथा प्रजा के साथ पूरा-पूरा भाग लिया।

गगहा

गोरखपुर-आजमगढ़-इलाहाबाद राष्ट्रीय राज-मार्ग पर गोरखपुर से ३९ वें कि० मि० पर बाँसगाँव तहसील में स्थित है। यहाँ के क्षत्रिय सरदारों और ग्रामीण स्वतन्त्रता प्रेमियों ने स्व० श्री बली सिंह के नेतृत्व में स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया था। जिस समय अंग्रेज अधिकारी गोरखा सैनिकों के संरक्षण में गोरखपुर त्यागकर आजमगढ़ की ओर ब्रिटिश खज़ाने के साथ जा रहे थे उसी समय पाण्डेपार के स्वतन्त्रता सेनानायक स्व० गोविन्द बली सिंह ने यह सूचना भेजी थी कि अंग्रेजों को गगहा और बड़हलगाँव के बीच रोककर खज़ाने को लूट लिया जाय। यद्यपि गोरखपुर मण्डल के स्वतन्त्रता संघर्ष के सेनानायक स्व० मुहम्मद हसन की सेना के आने में विलम्ब हुआ परन्तु गगहा के वीर जनों ने अपने प्राणों की आहुति देकर भी अंग्रेजों और गोरखों की सम्मि-लित सेना से निहत्थे मोर्चा लिया।

गजपुर, वासूडीहा, उच्चेर

पाण्डेपार और गगहा के मध्य गोरखपुर-वाराणसी राजमार्ग के उत्तर निवास करने वाले क्षत्रिय सरदारों ने अपने जनरल के साथ पाण्डेपार और गगहा में एकत्रित होकर अंग्रेजी सत्ता के विरूद्ध संघर्ष में अपना योगदान दिया।

भौवापार

गोरखपुर-आजमगढ़ राजमार्ग पर गोरखपुर से १० कि० मि० पर राप्ती नदी के दाहिने तट पर स्थित है। पाण्डेपार के श्रीनेत्र क्षत्रियों का यह एक दूसरा केन्द्र था। जिस समय अंग्रेज भौवापार घाट से रास्ता बदलकर राप्ती नदी पर नावों का पुल बनाकर गोरखपुर से आजमगढ़ की ओर खज़ाने के साथ भाग रहे थे उस समय सूचना पाकर भौवापार और निकटवर्ती गाँवों की जनता ने अंग्रेजों और गोरखा सेना का रास्ता रोककर खज़ाना लूटने का प्रयास किया था। इस संघर्ष में शताधिक वीरों ने अपने प्राणों की आहुति दी और बेलीपार तक अंग्रेजों का पीछा किया जिसमें काफी गोरखा और अंग्रेज सैनिक हताहत हुए। यदि बर्ड साहब ने नये नाव का पुल न बनावाया होता तो अंग्रेजों की सम्पूर्ण सेना राप्ती नदी के भौवापार घाट पर डुबो दी जाती। इसीलिए आज भी राप्ती के नये घाट को बर्डघाट के नाम से जाना जाता है और उसके नाम पर परिवहन निगम की बस 'बर्ड घाट डिपो' स्वतन्त्र भारत में भी चलती है।

चिलवा

गोरखपुर-गोला-बड़हलगंज राजमार्ग पर स्थित है। चिलवा गोपालपुर के राजा कृष्णकिशोर चन्द ने यद्यपि बर्ड साहब का साथ दिया था परन्तु उनके दायाद हाटा, चिलवा और वढ़यापार के कौशिक क्षत्रियों ने स्वतन्त्रता संग्राम में पूर्ण भाग लिया। इनकी जमींदारी छीन ली गयी और ये भागकर नेपाल के बहादुरगंज में शरण लिये जिनके वंशधर श्री लोकेन्द्र बहादुर चन्द नेपाल राज्य के वर्तमान प्रधानमंत्री हैं।

बढ़यापार

यह गोरखपुर-खजनी-गोला मार्ग पर गोरखपुर से ३६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि० मी० पर स्थित हैं। बढ़यापार के कौशिक वंशीय क्षत्रियों के राजा तेज प्रताप चन्द को अण्डमान टापू में निर्वासित कर दिया गया और इनकी जमींदारी छीन ली गयी।

बाँसगाँव

यह गोरखपुर से ३४ कि० मी० पर स्थित हैं। यह गोरखपुर जनपद की एक प्राचीन नगरी रही हैं। इसका उल्लेख सोहगौरा ताम्रपत्र में भी आया है। यहाँ के श्रीनेत्र-वंशी क्षत्रियों ने मुहम्मद हसन के साथ मिलकर स्वतन्त्रता संग्राम में सक्रिय भाग लिया और अंग्रेजी सत्ता को गोरखपुर से ऊखाड़ फेंकने का प्रयास किया।

शाहपुर

उरूवा से दक्षिण जाने वाले सम्पर्क मार्ग पर शाहपुर स्थित है। यहाँ के क्षत्रिय सरदारों ने मुहम्मद हसन के नेतृत्व में १८५७ का स्वतन्त्रता संग्राम लड़ा था।

तिघरा

यह गोरखपुर-सोनौली राजमार्ग पर पीपीगंज के निकट स्थित है। यहाँ के श्रीनेत्र क्षत्रियों ने मुहम्मद हसन के साथ गोरखपुर पर अधिकार कर लिया और बर्ड साहब को जान बचाकर छितेन हुये बेतिया भागना पड़ा।

डुमरी

यह गोरखपुर से १५ कि० मी० पर सरदार नगर के पास स्थित है। डुमरी के बाबूओं ने बन्धुसिंह के नेतृत्व में अंग्रेजों की छावनियों और उनके आपूर्ति वाहनों पर आक्रमण कर नष्ट भ्रष्ट कर दिया और हुतवा थाने को जला दिया। मिस्टर बर्ड ने डुमरी के बाबुओं के विरुद्ध जो सैनिक अभियान किया उसे क्रान्तिकारियों ने विफल कर दिया। बन्धू सिंह की जमीन, डुमरी कोर्ट परगना हवेली के ३४ गाँवों का सम्पूर्ण हिस्सा गवर्मेन्ट न० ५२८३, १७ दिसम्बर १८५८ को सुरेन्द्र सिंह मजीठिया के परदादा पंजाबी सूरत सिंह को दे दिया गया और बंधू सिंह को उर्दू बाजार के निकट हाल-सीगंज में पतसी के पेड़ पर फाँसी पर लटका दिया गया।

लक्ष्मीपुर

गोरखपुर-नौतनवाँ राजमार्ग पर यह स्थित है। यह यहाँ के राजा और प्रजा ने अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष किया परि-णामतः क्रान्ति के पश्चात् इस राज्य को जप्त कर लिया गया।

पाली

यह सहजनवा जूट मिल के उत्तर वखिरा मार्ग पर स्थित है। यहाँ के सैंथवार क्षत्रियों ने चक्रनगर के क्रान्तिकारियों के साथ मिलकर अंग्रजों की सत्ता के साथ संघर्ष किया।

निचलौल

यह महराजगंज तहसील में नेपाल सीमा पर स्थित है। यहाँ राजा रत्नसेन ने स्वतन्त्रता संघर्ष में क्रांतिकारियों का साथ दिया परिणामतः उनका राज्य भी जप्त कर लिया गया।

अंग्रेजों का पलायन

गोरखपुर जनपद में विद्रोह के कारण अंग्रेजों की स्थिति दयनीय हो गई थी। यद्यपि अंग्रेजों की सहायता के लिये नेपाल की गोरखा सेना और पंजाब को सिख सेना आ गई परन्तु सतासीनरेश के विद्रोह के कारण अंग्रेजों को गोरखपुर से भागना पड़ा। मिस्टर टकर नामक एक अंग्रेज अधिकारी ने गोरखपुर छोड़ने की सलाह दी थी। इसी समय लार्ड कैनिंग की आज्ञा आई कि अंग्रेज गोरखपुर छोड़ दें। गोरखपुर के कलक्टर विनियर्ड ने जनपद के सभी यूरोपियों का एकत्रित कर पलायन कर दिया।

गोरखपुर जनपद में स्वतन्त्र शासन

क्रांतिकारियों ने मुहम्मद हसन को गोरखपुर का शासक घोषित किया। विनियार्ड ने एक समिति बनाई थी किन्तु उसमें राजभक्ति और शक्ति नहीं थी। सतासो के राजा ने विद्रोह कर दिया था जिसमें बढ़यापार और चिल्लूपार के राजाओं ने साथ दिया था। आरा जनपद के प्रसिद्ध क्रांतिकारी कुँवरसिंह के भाई हरकिशन सिंह दक्षिण से सरयू पार कर सलेमपुर के पास आ गये थे और मंझौली राज्य से सम्पर्क स्थापित करना चाहा किन्तु सीवान से कर्नल रोकैफ्ट के नेतृत्व में सेना आ गई और इस सम्पर्क को रोक दिया। अंग्रेजों के सबसे अधिक भक्त गोपालपुर के राजा कृष्णकिशोर चन्द थे। उन्होंने बर्ड साहब का साथ दिया था। मुहम्मद हसन का गोरखपुर पर अधिकार हो गया था। अतः बर्ड को बेतिया में भागकर शरण लेना पड़ा।

मुहम्मद हसन के नेतृत्व में क्रांतिकारियों का शासन चला। नियम पूर्वक मालगुजारी वसूल होने लगी। दफ्तर के कागजात सुरक्षित रखे गये तथा न्याय व्यवस्था संचालित होने लगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोपालपुर के राजा को मालगुजारी न देने के कारण सेना भेजी गयी। उन्होंने भागकर आजमगढ़ में शरण लिया। क्रान्ति में भाग लेने वालों का पुरस्कृत किया गया।

हिन्दू-मुस्लिम एकता

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का यह प्रथम युद्ध बहादुर-शाह के नेतृत्व में लड़ा गया। हिन्दू मुसलान दोनों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर इस युद्ध को लड़ा था। गोरखपुर जनपद में भी मुहम्मद हसन के नेतृत्व में नरहरपुर, सतासी, बाँसी, बढ़यापार, पाण्डेयपार, डुमरी, पाली, आदि के क्षत्रिय सरदारों ने स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया था। इस समय की हिन्दू मुस्लिम एकता को देखकर ही लार्ड मिन्टो ने यह विचार प्रस्तुत किया कि 'भारत में जब तक हिन्दू मुसलिम एकता विद्यमान रहेगी तब तक ब्रिटिश सत्ता को खतरा बना रहेगा।' इसलिये १८५७ के पश्चात् ही अंग्रेजों ने मुस्लिम पृथकतावादी रणनीति का सहारा लिया।

स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर

स्वतन्त्रता संग्राम के दमन हेतु अंग्रेजों ने गोरखा और सिख सेनाओं की सहायता ली। उनकी सहायता से अंग्रेजों ने स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने वालों पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार किये। क्रांति के दमनोपरान्त सतासी (प्राचीन गोरखपुर) के राजा उदितनारायण सिंह और बढ़यापार के राजा तेज प्रताप चन्द आदि को काले पानी भेज दिया गया। चिल्लूपार, शाहपुर, धुरियापार, तिघरा के बाबुओं की जमीदारियाँ छीन ली गई। डुमरी के बाबू बन्धूसिह को गोरखपुर नगर में फाँसी दे दो गई और उनकी जमींदारी सरदार सूरतसिह मजीठिया को दे दिया गया जो अंग्रेजों का खैरखाह था। उन्होंने सरदार नगर नामक एक नयी छावनी बनाया। गोरखपुर के भियाँ साहब नाजिर को पाण्डेयपार के बाबुओं की जागीरदारी मिली क्योंकि उन्होंने १८५७ के स्वतन्त्रता काल में धार्मिक इमामबाड़े में अंग्रेजो को छिपा रखा था। हर सहाय नाजिर को विश्वासघात के कारण पुरस्कार मिला। लक्ष्मीपुर के राजा की सम्पति जब्त कर ली गयी। पाली के सँथंवार क्षत्रियों ने चक्रनगर के क्रान्तिकारियोंके साथ मिलकर सत्ता संघर्ष किया था इसीलिये उनकी सम्पति जब्त कर ली गयी। निचलौल के राज रत्नसेन सिंह यद्यपि भाग गये परन्तु उनकी सम्पत्ति कुर्क कर ली गयी। १० जून १८५७ को एफ० एम० बर्ड ने बाँसगांव के विद्रोह के दमन हेतु प्रस्थान किया। मार्ग में भोवापार से ७० व्यक्तियों को बन्दी बनाया। उन पर अंग्रेजी सत्ता के कार्यालयों के उध्वस्त करने के आरोप थे। बाँसगाँव के श्रीनेत्र क्षत्रियों ने दमन सिंह के नेतृत्व में स्वतन्त्रता संघर्ष में भाग लिया था। उन्हें और उनके साथियों को अंग्रेजों की हत्या करने के आरोप से गिरफ्तार किया गया।

गगहा, हारा वासूडीहा के लोगों कोभारी संख्या में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध षड़यन्त्र करने के आरोप में गिरफ्तार किया गया। निचलौल के राजा ने उतरौला के मुस्लिम तालुकेदारों के साथ मिलकर बर्डपुर कारखाने और उपमजिस्ट्रेट पर आक्रमण किया। उन्हें इसी आरोप में गिरफ्तार किया गया। मुहम्मद हसन तो भाग गये परन्तु नायब नाजिम मुर्सरक खाँ पकड़े गये और उन्हें गोरखपुर नगर के अलीनगर स्थित बरगद के पेड़ पर फाँसी दे दी गयी। अंग्रेजी सत्ता ने दमन, बदला और अपने भक्तों को पुरस्कार सहारा लिया। क्रान्तिकारियों को खोज-खोज कर उनका संहार किया गया। पेड़ों से फाँसी के फन्दे लटक रहे थे। कभी कभी निरपराध लोगों को संदेह में या जनता में भय उत्पन्न करने के लिए फाँसी दे दी जाती थी। बहुत से गाँव जला दिये जाते थे। महिलाओं, बूढ़े, बच्चों के साथ भी अत्याचार किये गये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में बदायूँ का योगदान

ब्रजमोहन सिंह*

अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित होने के पश्चात् भारतवर्ष की प्रगति में व्यवधान उत्पन्न होने लगा क्योंकि कला, संस्कृति साहित्य, राजनीतिक विचार और जन चेतना पराधीनता में पनप नहीं सकते। इस कारण भारतवर्ष का सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और शैक्षणिक पतन होना प्रारम्भ हो गया। इससे जनता में ब्रिटिश शासन के प्रति असन्तोष के भाव जाग्रत हुए। मई १८५७ की क्रान्ति इस असन्तोष की पहली झलक थी जिसमें देश के हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों ने बहादुर शाह के झंडे के नीचे एकत्र होकर अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने का ठोस कदम उठाया क्योंकि : "हद से बढ़ जाती है जब आदमी की मजबूरी, अमन पसन्द बगावत की बात करते है।"

डा० पी. आर साहनी ने लिखा है कि हिन्दुओं ने गंगा-जल उठाकर और मुसलमानों ने कुरान उठाकर अंग्रेजों को भारत से निकाल कर बाहर कर देने की कसमें खाईं। हजारों रईसों और पूंजीपतियों ने इस क्रान्ति का प्रचार करने हेतु अपनी आपार धन सम्पत्ति से मदद की।[1]

मेरठ की क्रांति का समाचार १४ मई १८५७ ई० को बरेली पहुँचा और रुहेलखण्ड में क्रांति के लक्षण प्रतीत होने लगे। इस क्रान्ति में रुहेलखण्ड के प्रसिद्ध एवं प्राचीन जिला बदायूँ ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिससे सारे रुहेलखण्ड की जनता में जागृति आई और विदेशी शासन को समाप्त करने का भाव पड़ोसी जिलों शाहजहाँपुर, मुरादाबाद, एटा आदि में उत्पन्न हो गया। इन जिलों के निवासियों ने जिला बदायूं से प्रेरणा प्राप्त कर आलस्य को त्याग कर स्वतन्त्रता की दुन्दुभि गाँव गाँव और नगर नगर में बजा दी।

सन् १८०१ ई० में बदायूं अंग्रेजों के अधिकार में आ गया था। क्रांति के समय बदायूँ का कलेक्टर एडवर्डस नामक अंग्रेज था जो गर्वनर जनरल लार्ड एडिनबरा और लार्ड हार्डिग्स के समय में राष्ट्र विभाग में कार्य कर चुका था।[2]

बदायूँ जिले में जहाँ अदालतों द्वारा बेदखली और नीलाम ने तहलका मचाकर पुराने रईसों और जमींदारों और प्रजा को उत्तेजित कर दिया था और उन्हें शासन का तख्ता उलटने को प्रेरित कर रहे थे वहीं दूसरी ओर क्रांति के संकेत "रोटियों के गांव-गाँव में पहुँचने से जनता को क्रांति की सूचना और संगठन की प्रेरणा भी मिल रही थी। बदायूँ के कलेक्टर ने अपने उच्च अधिकारियों से इन आदलतों की कार्यप्रणाली बदलने और नीलामी रोकने के लिए लिखा था, परन्तु उससे कोई लाभ न हुआ, बल्कि उल्टे उसे डरपोक, कायर और माली मामलों में अज्ञानी समझा गया।[3] उसके लिखने की उपेक्षा की गई और व्यवस्था में कोई सुधार नहीं किया गया।

जिला मजिस्ट्रेट एडवर्डस को यह सूचना प्राप्त हुई कि बदायूं नगर के मुसलमान क्रांति का श्री गणेश करेंगे जो ईद की नमाज के लिए एकत्र हुए थे। सन् १८५७ की २५ मई को गुरुवार का दिन था। ईद का त्योहार था। इसलिए जिला मजिस्ट्रेट ने नगर के बड़े-बड़े रईस और प्रतिष्ठित मुसलमानों को बुलवाकर अपने बंगले पर बिठा लिया और उनसे बातचीत की। उनको ईद की नमाज का समय गुजरने

---

*. सवलपुर हाउस, दातागंज, बदायूं।

१. डा० पी. आर. साहनी, **आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास**।

२. शिवनारायण द्विवेदी, **गदर का इतिहास**।

३. नजीर अहद देहवी, **मुसायब गदर**।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तक अपने पास विठाए रक्खा । ईद की नमाज न पढ़ने देने के कारण मुसलमानों में क्षोभ उत्पन्न हुआ ।[1] जिला मजिस्ट्रेट एडवर्डस को इस बात का भय था कि कहीं नगर के विद्रोही लोग विद्रोह करके खजाने को लूट न लें । इसलिए उसने गारद फौज, देशी पलटन न० २८ बरेली की नियुक्ति कर दी । परन्तु उसी समय जिला मजिस्ट्रेट फिलिप्स, जो फौजी सहायता के लिए बरेली जा रहे थे, बदायूँ में आकर ठहरे और जिला मजिस्ट्रेट एडवर्डस के बंगले पर पहुँच कर उनसे मिले । उन्हें बदायूँ की दशा को देखकर निराशा हुई उन्होंने एक पत्र कमिश्नर रेलीव को सहायता हेतु लिखा । कमिश्नर ने उन्हें उत्तर दिया कि वह एक फौज बदायूँ और बिल्सी क्षेत्र में विद्रोह के दमन हेतु एक अंग्रेज अफसर के नेतृत्व में भेज रहें हैं ।

२७ मई १८५७ ई० से ३० मई १८५७ ई० तक जिले की दशा अत्यन्त खराब रही । चारों ओर अराजकता और अव्यवस्था फैल गई । जिला मजिस्ट्रेट के पास कोई ऐसा आदमी न था जिसे वह जिले के खजाने का चार्ज सौप सकें । ३० मई दिन शनिवार को यह सूचना मिली कि प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र बिल्सी पर विद्रोही आक्रमण करने का विचार कर रहे हैं । जिला मजिस्ट्रेट ने तुरन्त यह सूचना कमिश्नर बरेली के पास भेजी और सहायता माँगी । जिला की पुलिस और नयी भरती वाली पुलिस इस झगड़े का सामना करने में असमर्थ थी ।[2]

३० मई की रात्रि को २ बजे जिला मजिस्ट्रेट बदायूँ अपना कमरा छोड़कर एटा जिला मजिस्ट्रेट को जगाने जा रहे थे कि चपरासी दौड़ता हुआ आया और उसने कहा कि जो घुड़सवार मैंने भेजा था वह लौट आया है । वह भयानक सूचना लाया है कि बरेली-बदायूँ मार्ग पर बदायूँ से ८ मील की दूरी पर सड़क विद्रोहियों से घिरी हुई है । बरेली के सिपाहियों ने रविवार की दोपहर से खुला विद्रोह कर दिया है, अनेक अंग्रेजों का कत्ल कर दिया गया है । स्टेशन जला डाला गया है और बड़ी सेन्ट्रल जेल को तोड़ डाला गया हैं । उसमें लगभग ४ हजार कैदी थे वे छूट गए हैं । उसने आगे कहा कि विद्रोही बदायूँ को ओर आ रहे हैं और खज़ाने के रक्षकों से मिलकर लूटमार करेंगे और स्टेशन जलायेंगे । यह भयानक सूचना थी । अब यह असम्भव लग रहा था कि किस प्रकार विद्रोहियों से स्टेशन की रक्षा की जाय क्योंकि उनसे तुरन्त ही खज़ाने के रक्षक मिल जायेंगे और अब खजाने की रक्षा करना भी असम्भव लग रहा था ।

१ जून १८५७ ई० को जिला मजिस्ट्रेट ने अपने मेहमानों को ड्राइंग रूम में एकत्रित किया और अपने लोगों की रक्षा के लिए भगवान् के सामूहिक प्रार्थना की । इसके पश्चात् जिला मजिस्ट्रेट ने डोनल्ड, गिब्सन, और स्टीवार्ड को परामर्श दिया कि वह पहाड़ों पर चले जाये क्योंकि अभी तक समय था और एकत्र रहने में खतरा था । लेकिन एडवर्डस का परामर्श व्यर्थ गया । अधिकारी हतप्रभ थे और जिला मजिस्ट्रेट के साथ रहने में ही अपनी सुरक्षा समझ रहे थे । उस दिन भीषण गर्मी थी और आँधी चल रही थी । प्रतिक्षण विद्रोहियों के निकट आने की, जेल तोड़ने की, खजाने लूटने की और लूटमार करने की सूचनाएँ मिल रही थीं ।

बदायूँ में विद्रोहियों ने सर्वप्रथम कार्य तो यह किया कि खज़ाने से लगभग सौ गज़ की दूरी पर जेलखाना था उसे उन्होंने तोड़ डाला और उसमें लगभग ३,००० व्यक्ति बंदी थे जिन्हें मुक्त कर दिया । शाम के ६ बजे के लगभग जिला मजिस्ट्रेट एडवर्डस को यह सूचना मिली कि बरेली के विद्रोही बदायूँ आ गये हैं और यहाँ के पुलिस वाले भी अपनी वर्दियाँ फेंक कर उनसे जा मिले हैं । जेल से मुक्त हुए कैदी भी शोर गुल मचाते हुए जिला मजिस्ट्रेट के बंगले की ओर आ रहे हैं । जिला मजिस्ट्रेट ने अपनी रक्षा का उपाय सोचा और वह अपनी पत्नी के साथ काबुली टट्टू की पीठ पर बैठ कर बंगले से बाहर निकले । उनके साथ गिब्सन और डोनाल्ड भी थे । पहले इनका विचार मुरादाबाद की सड़क पर चलकर पहाड़ों की ओर जाने का था । परन्तु यह सड़क विद्रोहियों से घिरी हुई थी । इस लिए वह शेखूपुरा वाली सड़क पर भाग गये ।

२ जून १८५७ ई० को जब विद्रोही सैनिक बरेली से बदायूँ पहुँचे, तब उनके साथ बहुत से बदायूँ निवासी भी मिल

---

१. मौलवी रजी उद्दीन, **कनजुल तवारिख।**

२. एडवर्डस विलियम, **पर्सनल एडवेंचर ड्यूरिंग द इंडियन रेबेलियन इन रुहेलखंड, फतेहगढ़ एण्ड अवध।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गये थे जिनमें बदायूं के मुहल्ला सराय मीरा, नई सराय, सराय नाहर खाँ, तथा ब्राह्मपुरा के लोग सम्मलित थे। इसके साथ निकटवर्ती गाँव नगलाशर्की तथा रसूलपुर के लोग अंग्रेजों के बंगलों और फर्नीचर लूटने में सम्मलित थे। मिर्जा मंसूर बेग ने, जो बाद में विद्रोही सरकार के विसालादार बने, सरकारी अस्पताल और कालेज को लूटा जो शहर में स्थित थे। ग्राम नगला शर्की और बदायूँ के मोहल्ला ब्राह्मपुर, परिमाली सराय, नई सराय आदि के निवासियों ने दोनों मुसिफों के रिकार्ड और कोतवाली को लूटा। इस प्रकार विद्रोही सैनिकों और बदायूँ के निवासियों ने लूटते समय न सरकारी रिकार्ड ही छोड़ा और न कालेज और न अस्पताल। अंग्रेजों के बंगलों का कहना ही क्या। वे अत्यन्त क्रोधित थे और प्रतिशोध की भावना के वशीभूत होकर उन्होंने यह कार्य किया होगा। उन विद्रोहियों के साथ कुछ स्थानीय गुण्डे और लुटेरे भी सम्मलित हो गये थे जिनका काम लूटना ही था। उन्हें क्रांति के उद्देश्य से कोई वास्ता ही नहीं था।

बदायूँ शहर के विद्रोह का समाचार जिले के परगनों में भी पहुँचा और प्रत्येक परगने में अराजकता फैल गई और सड़कें असुरक्षित हो गईं। हथियार बन्द लोगों के गिरोह उठ खड़े हुए। उन्होंने सभी ओर लूटमार की और पुराने लोगों को पुर्नस्थापित किया। हथियारों के बल पर गुन्नौर तहसील के परगना गुन्नौर के अहीर और परगना कोह, विल्सो, उझानी, बदायूँ, दातागंज उसेहत और परगना विसौली के गाँवों के ठाकुरों और मुसलमानों ने गिरोह बनाकर दूसरे गावों पर हमला किया। उत्तरी-पश्चिमी परगनों के कातिलों के गिरोह ने चन्दौसी जिला मुरादाबाद की लूट में हिस्सा लिया।

सन् १८५७ ई० का यह विद्रोह केवल सैनिक विद्रोह ही न था, और न इसका क्षेत्र शहर तक ही सीमित रहा, बल्कि बदायूँ के प्रत्येक कोने-कोने में फैल गया और गाँव के लोग भी बड़े उत्साह के साथ इसमें कूद पड़े। गुन्नौर परगने के ग्राम न्योरा-वमोरा, मिरावटी के ग्रामवासी, वदरौली के गीताराम अहिर, नगला अजमेरी के सफीउद्दीन, कोट और विल्सी परगनान्तर्गत विल्सी के आनन्द सिंह, गुधनी के जमींदार लेखराज सिंह और थम्मन सिंह, शोभा सिंह, सेवाराम, भिटोरा के नरायन सिंह, सरतौन के भाऊ सिंह दियोरिया के सीता पसिका, रेहरिया के जमींदार फतेहसिंह, उझानी परगने के लोचन सिंह, सजरपुर के बादाम सिंह, ककरौली के भूपसिंह, सिगरौली के जमीदार चितासिंह, वसौमा के मानसिंह और माधौ सिंह, बदायूँ परगना के ग्राम सुनक के भाई सिंह, रफियाबाद के धनजी सिंह, रसूलपुर के जयमल सिंह और सबोरन सिंह, नगलाशर्की के तुलसी सिंह, दातागंज और उसेहत परगना के ग्राम ककराला के सरदार खाँ, महराव खाँ, सलेमपुर के ठाकुर कीरत सिंह, बेलाडाड़ी के बख्तावर सिंह, विसौली परगनान्तर्गत रेहरिया के जमींदार फतेहसिंह, हतसा के नबी खाँ, विसौली के अजीज खाँ एवं निहाल सिंह, सहसतान परगने के हैदर खाँ, फतेह अली खाँ, करियामई के रामानन्द, ववगला के झुम्मेर सिंह, अकरौली के शेर सिंह, पीपरी के नरायन सिंह, ओइस के लक्ष्मण सिंह और गुलाब सिंह, तथा इस्लाम नगर के रहमत अली, मीर सिंह, नासिर अली, धन सिंह, बदन सिंह आदि के नाम सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम के सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस विद्रोह में गाँवों और शहर के सभी नागरिकों, विशेषतः जमींदारों ने सक्रिय भाग लिया था और सभी जातियों और धर्मो के लोग भी इसमें सम्मलित हुए थे। इस प्रकार ब्रिटिश शासन को कुछ समय के लिए तो बदायूँ से समाप्त ही कर दिया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पंचम अनुभाग

प्रथम स्वातंत्र्यसंग्रामोत्तर इतिहास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में लखनऊ की भूमिका

पारस नाथ मिश्र*

अवध का एक अङ्ग, वर्तमान उत्तर प्रदेश की राजनीति गतिविधियों का केन्द्र, लखनऊ प्राचीनकाल में कोसल देश के नाम से अभिहित किया जाता था। पहले इसका नाम लखन पुर था और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम के अनुज लक्ष्मण ने इसे बसाया था। मेडिकल कालेज के पास का टीला आज भी लक्ष्मण टीला के नाम से प्रसिद्ध है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में निश्चय ही सारे देश और प्रदेश का प्रतिनिधित्व था, किन्तु संघर्ष के इस इतिहास में लखनऊ की भी अपनी विशिष्ट भूमिका थी।

प्लासी के युद्ध के बाद ही लगभग पूरे भारत पर अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया था, किन्तु यह कहना कि भारतीय अपनी स्वाधीनता के प्रति सर्वथा उदासीन थे, संगत न होगा। सन् १७५७ से लेकर १८५७ के मध्य लगभग २४ बार स्थानीय जनों ने पराधीनता का जुआ उतार फेकने का असफल प्रयास किया था किन्तु सुसंगठित रूप में यह प्रयास पहली बार सन् १८५७ में ही किया गया था। अवध के सूबे के विलीनीकरण, नबाव वाजिद अलीशाह के निर्वासन तथा गोरों की स्वेच्छाचारिता के कारण अवध की जनता उत्तेजित हो उठी थी। अनुकूल अवसर पाकर अंग्रेजों के विरुद्ध उनका असंतोष फूट पड़ा। परिणामतः लखनऊ के सारे अंग्रेज बेलीगारद में लगभग साल भर बन्द रहे किन्तु सही नेतृत्व के अभाव में क्रान्तिकारियों को पीछे हटना पड़ा।

सन् १८८५ में जब बम्बई में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई तो श्रीगङ्गा प्रसाद वर्मा ने लखनऊ का प्रतिनिधित्व किया। स्वदेशी वस्तुओं तथा स्वाधीनता की ओर स्थानीय जनों का ध्यान आकर्षित करने के लिए उन्होंने १९०७ में 'स्वदेशी गुड्स सप्लाई कम्पनी' की स्थापना लखनऊ में की। इस कार्य में श्रीवर्मा को जिन स्थानीय जनों का विशेष सहयोग प्राप्त था उनमें श्री ए० पी० सेन, बाबू बैजनाथ, यूसुफ हुसैन और श्री अम्बिका चरण जी का नाम लिया जा सकता है।

सन् १९१६ में ए० सी० मजूमदार की अध्यक्षता में कांग्रेस का ३१ वाँ अधिवेशन लखनऊ में सम्पन्न हुआ। अधिवेशन में देश के प्रमुख गण्यमान नेता बाल गङ्गाधर तिलक, महात्मागाँधी और मुहम्मदअली जिन्ना आदि मौजूद थे। इस अधिवेशन की विशेषता यह थी कि इसमें पहली बार मुस्लिम-लीग से एक समझौता किया गया जो स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास में 'लखनऊ पैक्ट' के नाम से विख्यात है। यह प्रथम महायुद्ध का काल था और भारतीयों ने इस प्रत्याशा से जन-धन से गोरों की सहायता की कि उन्हें इसका सही मुआवजा (स्वतन्त्रता) मिलेगा। किन्तु बदले में उन्हें मिला रौलट ऐक्ट। ऐसी परिस्थिति में अलीबन्धु और गाँधी जी ने सारे देश में घूमकर भावी आन्दोलन के लिए लोगों को तैयार करना शुरू किया।

मौलाना अब्दुल बारी फिरंगी महल के प्रयास से दिसम्बर १९१९ में लखनऊ की एक तदर्थ कमेटी बनी और इसके कुछ ही दिनों बाद लखनऊ में 'अवध खिलाफत कमेटी' की स्थापना की गई। इसका पहला जलसा-ए-आम रिफा-ए-आम क्लब में बुलाया गया। मुमताज हुसेन बैरिस्टर इसके अध्यक्ष एवं शेख शौकत अली सेक्रेटरी चुने गये। १८२१ के नवम्बर में दिल्ली में अखिल भारतीय खिलाफत कांग्रेस हुई जिसमें इस आन्दोलन की रूपरेखा और स्पष्ट हुई। दुर्भाग्य से ३१ जुलाई १९२० को जब बाल गङ्गाधर तिलक का स्वर्गवास हो गया तो लखनऊ में भी शोक मनाया गया। गाँधी जी ने उनकी पुण्य स्मृति में 'स्वराज्यफण्ड' की स्थापना की और इसमें एक

* व्याख्याता, ईश्वरशरण डिग्रीकालेज, इलहाबाद।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करोड़ रूपया एकत्र करने तथा कांग्रेस के एक करोड़ सदस्य बनाने की अपील की। असहयोग आन्दोलन के दौरान ही बाबू मोहनलाल, श्रीशिवनारायण सक्सेना और पं० हरकरन मिश्र जैसे वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ दीं। श्याम सुन्दर कैसर ने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया तथा नगर और जिले के सैकड़ों नागरिकों ने पुलिस, कचहरी, फौज तथा सरकारी दफ्तरों से त्यागपत्र दे दिया। कुछ लोगों ने तो खान बहादुर एवं रायबहादुर की उपाधियाँ भी लौटा दीं। इसी आन्दोलन के सिलसिले में प्रान्तों का दौरा करते हुए १५ अक्तूबर १९२० को गाँधी जी ने लखनऊ की एक सभा में भाषण करते हुये कहा—"इस हुकूमत ने इतने घोर अत्याचार किये हैं कि यह........जरूर मिट्टी में मिल जायेगी।.... गुलामी में रहने से समुद्र में डूब मरना बेहतर है। यह सरकार डाकूओं से भी बुरी है।"

फरवरी १९२१ में राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान टाउन कांग्रेस कमेटी का पुनर्गठन हुआ और इसका कार्यालय गोलागंज में खोला गया। इनके पश्चात् जब जिला कांग्रेस कमेटी की स्थापना हुई तो लखनऊ की विभिन्न तहसीलों से पन्द्रह सदस्य चुने गये।

पंजाब, उत्तर प्रदेश और बंगाल में कांग्रेस की नरमपंथी अहिंसावादी नीतियों से निराश निम्न मध्यमवर्ग के युवकों ने आतंकवादी कार्रवाइयों को पुनः जीवित किया। सन् १९२५ में लखनऊ में प्रसिद्ध काकोरी षडयन्त्र कैसे हुआ। इस घटना में क्रान्तिकारियों ने ९ अगस्त १९२५ को काकोरी स्टेशन के पास ट्रेन रोककर सरकारी खजाना लूट लिया था। इससे २६ अभियोगियों में से रामप्रसाद विस्मिल, अशफाकउल्ला खाँ; रोशनलाल और राजेन्द्र लाहिरी को फाँसी दी गयी। शेष संदिग्ध व्यक्तियो में से कुछ गिरफ्तारी से बचकर गायब हो गये। १९२९ तक पुलिस की गिरफ्त में न आने वालों में से सिर्फ चन्द्रशेखर आजाद बचे थे।

८ नवम्बर १९२७ को साइमन कमीशन की घोषणा की गई। इस कमीशन का सर्वत्र बहिष्कार हुआ। ३० नवम्बर १९२८ की प्रातः ८ बजे कमीशन लखनऊ पहुँचने वाला था। पं० नेहरू, गोविन्द बल्लभ पन्त, उमानरायन वाजपेयी आदि के नेतृत्व में एक विशाल जुलूस 'साइमन गो बैक' के नारे लगाता, प्रातः ७ बजे ही अमीनाबाद से लाटूश रोड होते हुए चारबाग स्टेशन पहुँच गया। ज्यों ही यह जुलूस साइमन कमीशन के लिये निर्धारित मार्ग की ओर बढ़ा पुलिस ने इसे रोक लिया और निहत्थी अहिंसात्मक भीड़ पर हमला कर दिया। भारी संख्या में लोग घायल हुये और पं० नेहरू तथा गोविन्द बल्लभ पन्त को भी गम्भीर चोटें आयीं।

६ अगस्त १९३० को गांधी जी ने जब नमक कानून तोड़कर सत्याग्रह आन्दोलन का शुभारम्भ किया तो लखनऊ में भी इसी दिन सत्याग्रह शुरू हुआ। १३ अप्रैल को एक सभा होने के बाद सर्वश्री मोहनलाल मेहता, डा० लक्ष्मी सहाय, हरिश्चन्द्र वाजपेयी, चन्द्रभानु गुप्त, श्यामसुन्दर कैसर, इम्तियाज अहमद, जयदयाल अवस्थी और श्याम सुन्दर निगम पकड़ लिये गये और सब को १८-१८ मास के कैद की सजा दी गयी। इसी समय पं० मोतीलाल नेहरू का कालाकांकर हाउस में स्वर्गवास हो गया (६ फरवरी १९३१) जो इलाज के लिये लखनऊ आये हुये थे। पूरे देश में उनके निधन पर शोक मनाया गया।

लगानबन्दी के विरोध में ४ जनवरी १९३२ को गांधी जी गिरफ्तार हुए तो प्रतिक्रिया में ५ जनवरी को लखनऊ में हड़ताल रही। इसी समय लखवऊ में लेटर-बाक्सों को जला देने की कई घटनाएं हुई। गणेशगंज पोस्टल डकैती कांड भी इसी समय हुआ जिसमें श्रीजगदीश शुक्ल तथा बालक राम शर्मा समेत अनेक क्रान्तिकारी बन्दी हुये। १७ जुलाई १९३३ को श्रीचन्द्रभानु गुप्त को व्यक्तिगत सत्याग्रह के दौरान गिरफ्तार किया गया। सर्वश्री ठाकुर प्रसाद सक्सेना, पुलिनबिहारी बनर्जी, मोहनलाल सक्सेना आदि भी बाद में पकड़े गये। १९३३ के दिसम्बर में कांग्रेस की स्वर्ण जयन्ती लखनऊ में मनाई गई। दिसम्बर १९३६ में जब आम चुनाव हुये तो लखनऊ नगर से कांग्रेस के टिकट पर चन्द्रभानु गुप्त और नारायणदास चुन लिये गये। लखनऊ जनपद से श्रीगोपीनाथ श्रीवास्तव और लखनऊ कमीशनरी से बाबू मोहनलाल सक्सेना लोकसभा के लिए निर्वाचित हुये।

सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध में सहायता देने के प्रश्न पर कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया। अतः दिसम्बर १९३९ में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी जवाहरलाल नेहरू की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्यक्षता में गठित हुई, जिसमें फिर से आन्दोलन तेज़ करने का निर्णय लिया गया। २६ जनवरी १९४० को नगर में स्वतन्त्रता दिवस मनाया गया। शान्ति देवी वैद्य लखनऊ की प्रथम महिला सत्याग्रही थीं जिन्हें इस समय गिरफ्तार किया गया। इन परिस्थितियों में जहाँ एक ओर सत्याग्रह आन्दोलन जारी था, वहीं दूसरी ओर मुस्लिम लीग अपना रंग दिखा रही थी। जिस समय पाकिस्तान के अस्तित्व की कल्पना भी न थी, पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त, पंजाब, सिन्ध, बंगाल और आसाम के प्रान्तों को मिलाकर पाकिस्तान बनाने की माँग २ अप्रैल १९४१ को मद्रास अधिवेशन में की गई। वस्तुतः इस माँग की बुनियाद कुछ समय पूर्व लखनऊ के साम्प्रदायिक दङ्गों में ही रखी जा चुकी थी।

८ अगस्त सन् १९४२ को कांग्रेस कार्यकारिणी की महत्वपूर्ण बैठक में 'भारत छोड़ो' का प्रस्ताव स्वीकृत होते ही जिलों में गिरफ्तारियाँ शुरू हो गईं। ९ अगस्त को लखनऊ नगर के जिन कार्यकत्ताओं को पकड़ा गया उनमें चन्द्रभानु गुप्त, गोपाल नारायन सक्सेना, पुलिनबिहारी बनर्जी, रामपाल त्रिवेदी, बलराम सिंह, त्रिलोकी सिंह, राजाराम शास्त्री और और दयाशंकर गूजर आदि के नाम स्मरणीय हैं। पुलिस के दमनात्मक रवैये से इस समय नगर में उत्तेजना फैल गयी थी। १० अगस्त को आलम नगर रेलवे स्टेशन जला दिया गया और गंणेशगंज, ह्विवेट रोड तथा कल्टिन होटल के पोस्ट आफिसों में भी आग लगा दी गई। बाबू मोहनलाल सक्सेना की गिरफ्तारी पर १०,००० रूपये का इनाम था। बम्बई से लौटने पर १२ सितम्बर १९४२ को उन्हें गिपफ्तार कर लिया गया। इस प्रकार लखनऊ के सभी जाने-माने नेताओं के गिरफ्तार हो जाने पर आन्दोलन का भार नवयुवकों के कंधों पर आया और उन्होंने मुस्तैदी के साथ इसे जारी रखा।

अन्त में मई, १९४४ को अस्वस्थ होने के कारण गाँधी जी को जेल से छोड़ दिया गया और जून १९४५ तक प्रायः सभी राजनैतिक बन्दियों को रिहा कर दिया गया। मार्च १९४६ को देश में आम चुनाव हुए जिसमें कांग्रेस की भारी जीत हुई। २३ मार्च १९४७ को कैबिनेट मिशन द्वारा सत्ता हस्तान्तरण के प्रश्न पर विचार विमर्श के बाद १५ अगस्त १९४७ को अंग्रेजों ने भारत को स्वतंत्र घोषित कर दिया।

इस प्रकार यह बात साफ है कि इस दीर्घकालीन स्वतन्त्रता आन्दोलन में यद्यपि सारे देश और प्रदेश के लोगों ने कुर्बानियाँ दीं किन्तु सङ्घर्ष के इस इतिहास में लखनऊ का योगदान कुछ कम नहीं रहा। चन्द्रभानु गुप्त, ए० सी० मजूमदार, यूसुफ हुसैन, शौकत अली, श्यामसुन्दर कैसर, जयदयाल अवस्थी, बाबू मोहन लाल आदि के कारनामे भारतीय स्वतंत्रता आदोलन के इतिहास में सदैव संस्मरणीय रहेंगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किसान आन्दोलन और रायबरेली

(१९२०-२१ ई०)

गिरीश चन्द्र*

अवध के प्रमुख जनपद रायबरेली का किसान आन्दोलन विभिन्न दृष्टियों से प्रचुर महत्व रखता है। किसानों ने साम्राज्यवादियों और तालुकेदारों के शोषण के विरुद्ध सामाजिक बहिष्कार एवं सशस्त्र संग्राम में भाग लेकर राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास में एक गौरवशाली परम्परा स्थापित की थी। अवध के विभिन्न जनपदों की भाँति रायबरेली के लिए वर्ष १९२०-२१ किसान आन्दोलन का यौवनकाल था। १९२०-२११ में भारतवर्ष में किसान आन्दोलन के चार प्रमुख केन्द्र थे—पंजाब, मालाबार में 'मोपला'[१], पूर्वी संयुक्त-प्रदेश में 'अवध' तथा बंगाल में 'मेदिनीपुर', पूर्वी संयुक्त-प्रदेश में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद किसान आन्दोलन में अभूतपूर्व प्रगति परिलक्षित होती है। किसान संगठनों द्वारा योजनाबद्ध रूप में अपने आन्दोलन को गति देने के प्रति जागरूक हो उठे। इसी कारण अवध में सर्व प्रथम वर्ष १९१७ में प्रतापगढ़ की पट्टी तहसील के रूरे नामक गाँव में झिंगुरी सिंह और सहदेव सिंह के नेतृत्व में किसान सभा की स्थापना की गयी।[२] उसी वर्ष होमरूल में भाग लेने वाले राष्ट्रीय नेताओं द्वारा इलाहाबाद में उ० प्र० किसान सभा की नींव डाली गया।[३] किसान सभा की स्थापना के बाद दिसम्बर १९१८ में दिल्ली काँग्रेस में पं० मदन मोहन मालवीय तथा पुरुषोत्तम दास टण्डन के सद्प्रयासों से विभिन्न किसान प्रतिनिधियों ने भाग लिया[४] तथा नवाबों के शोषण के विरुद्ध किसान संगठन द्वारा 'अवध के किसान पर नवाबी' नाम से कई पर्चे भी वितरित किये गये।[५] साथ ही १९१९ की अमृतसर काँग्रेस में भाग लेने के लिए ४०० किसान प्रतिनिधियों को निःशुल्क टिकट दिये गये। उ० प्र० किसान सभा ने इसी अधिवेशन में एक मौलिक प्रस्ताव भी रखा था किन्तु उसे स्वीकार नहीं किया गया।[६] फरवरी १९१९ में संयुक्त प्रदेश में १७३ तहसीलों में किसानों की शाखा समितियाँ बन चुकी थीं। फरवरी १९१९ के मध्य जिलों में किसान सभा के संगठन बनाने के दृष्टिकोण से इलाहाबाद, कानपुर, मैनपुरी, एटा, रायबरेली, बलिया, जालौन, बनारस, तथा गोरखपुर में सभाओं का आयोजन किया गया।[७] इस प्रकार अवध में किसान सभा के माध्यम से राष्ट्रीय मंच पर तथ्यों के प्रस्तुत करने का यत्न प्रारम्भ हो गया और किसान भी साम्राज्यवादियों और तालुकेदारों के शोषण के विरुद्ध कुछ कहने और करने का साहस बटोरने लगा था। इसी कारण अक्टूबर १९१९ में बलिया के पुलिस अधीक्षक ने मजदूर और किसान आन्दोलनकर्त्ताओं पर नियमों और कानूनों की अवमानना करने का आरोप

---

* प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, मदनमोहन मालवीय पोस्ट-ग्रेजुअट कालेज, कालाकांकर, प्रतापगढ़।

१. द्रष्टव्य– सी गोपालन नायर, **मोपला विद्रोह**।

२. डा० कपिल कुमार, **पीजण्टरी इन रिवोल्ट**, पृ० ७१।

३. फाइल सं० ७५। फरवरी १९३० **होम पालिटकल डिपाजिट एन० ए० आई०**।

४. **रिपोर्ट आफ दि नेशनल कांग्रेस ३३वां अधिवेशन**, १९१८।

५. डा० शिवकुमार, **पीजण्टरी एण्ड दि नेशनल मूवमेंट**, पृ० ५५।

६. **दि इन्डिपेन्डन्ट**, २७ अक्टूबर १९२०।

७. डा० शिवकुमार, **वही**, पृ० ५५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लगाया।[1] दिसम्बर १९२० के नागपुर अधिवेशन में कर-बन्दी के जरिये जनगण को और खासकर किसानों को आन्दोलन में उतारने की बात सबसे आखिर में रखी गयी; उनकी न्यायोचित माँगों का समर्थन किया गया और सरकारी दमन की निन्दा की गई।[2]

किसान सभा का संगठन

प्रतापगढ़ और उत्तर प्रदेश किसान सभा की भाँति वर्ष १९२०-२१ में रायबरेली में बाबा रामचन्द्र के प्रयासों से विभिन्न स्थानों पर किसान आन्दोलन को व्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए किसान सभाओं की स्थापना की गयी थी। उन्होंने २८-१०-२० को कलकलियापुर में किसान सभा के कार्यालय का शुभारम्भ तथा ३-१२-२० को अरखा में किसान सभा का उद्घाटन किया था, साथ ही ५-१२-२० को मुस्तफाबाद का भ्रमण कर वहाँ पर किसान सभा की स्थापना हेतु किसानों को प्रोत्साहित किया था। डा० कपिल कुमार[3] ने रायबरेली में बाबा रामचन्द्र के किसान सभा एवं किसानों के लिए किये गये कार्यों का विवरण इस प्रकार दिया है—

तिथि	कार्य
२७-१०-२०	रसूलपुर गाँव का भ्रमण
२८-१०-२०	कलकलियापुर में किसान सभा के कार्यालय का शुभारम्भ।
२९-१०-२०	रसूलपुर और कलकलियापुर में व्याख्यान
५-११-२०	मुस्तफाबाद का भ्रमण और किसान सभा के निर्माण हेतु प्रोत्साहन।
११-११-२०	,, ,,
२२-११-१०	रायबरेली भ्रमण
२४-११-२०	बछरावाँ में व्याख्यान
२५-११-२०	,, ,,
३-१२-२०	किसान सभा (अरखा) का उद्घाटन
५-१२-२०	जलालपुर घई में व्याख्यान
६-१२-२०	लालगंज में व्याख्यान
७-१२-२०	डलमऊ में व्याख्यान
८-१२-२०	लालगंज में व्याख्यान

स्रोत—**फानून रिपोर्ट**, पृ० १७११।

१९२०-२१ में रायबरेली में अवध किसान कांग्रेस समिति के भी अस्तित्व में होने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं क्योंकि २०-२१ दिसम्बर १९२० को अयोध्या में अवध किसान कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था[4] जिसमें रायबरेली के प्रतिनिधि के रूप में अनमोल शर्मा और मातावदल ने भाग लिया था।[5] उस समय दूसरे वर्ष १५ जनवरी १९२१ को ऊँचाहार में अधिवेशन होने की पेशकश अवध किसान कांग्रेस समिति ने ही की थी। रायबरेली में आन्दोलन को आधार देने के लिए किसान सभा जैसे सुदृढ़ संगठन की आवश्यकता भी थी क्योंकि संगठन के माध्यम से जागरूकता तथा आन्दोलन प्रारम्भ करने के तौर तरीकों आदि के संबंध में आसानी से किसानों को अवगत कराया जा सकता था। बिना किसी संगठन के १९२०-२१ में अरखा, ऊँचाहार, रसूलपुर, जोधा, करहिया, सलोन, चन्दनिया, जलालपुर, घई, चरहर, चचौली, जगतपुर, शंकरपुर, गौरा, डलमऊ, सरेनी, लालगंज, ऐहार, टिररवा, बेलाखारा, बेलामला, लोधौरी, अन्ती खुरेठी, जगदीशपुर, डीह, बमहानपुर, मऊ, रूपामऊ, नसीराबाद, रायबरेली, फुरसतगंज, शाहमऊ,

---

१. **एन० ए० आई० होम पालिटिकल : डिपाजिट**, फरवरी १९२०, सं० ४९ नोटेड बाई सी० आई० डी० यू० पी० आन दि किसान सभा : पीजण्ट्स असोसिएशन।
२. अयोध्या सिंह, **भारत का मुक्ति संग्राम**, पृ० ४३३।
३. डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० १०९।
४. डा० शिव कुमार, **वही**, पृ० ७७।
५. डा० कपिल कुमार, **वही**, ११५।
६. डा० शिव कुमार, **वही**, पृ० ७७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुन्शा, जोहवा शर्की, बाला, महाराजगंज, सलेथू, तिलोई, बछरावाँ, शिहगाँव, तथा कुम्हरांव आदि स्थानों पर सभाओं एवं विद्रोह सफलता पूर्वक होने संभव नहीं थे।[1]

कारण

भारत में किसान आन्दोलन के उद्भव के विभिन्न कारण थे क्योंकि १९२०-२१ में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में परिस्थितियाँ एक समान न थीं। मोपला और अकाली किसान आन्दोलन १९२०-२२ धार्मिकता से प्रभावित था, किन्तु अवध का किसान आन्दोलन धार्मिकता के रंग से बहुत दूर था।[2] वर्ष १९२०-२१ में अवध के जिलों में किसानों को बुरी तरह जमीनों से बेदखल किया गया और दबाया गया।[3] मात्र रायबरेली (१९२०-२१) में किसानों को तालुकेदारों द्वारा जमीन से बेदखली की २,४४० सूचनाएँ दी गईं, इसी प्रकार अवध के अन्य जिलों में भी, जिसका विवरण निम्नवत है[4] :—

जनपद	वर्ष १९२०-२१
१. लखनऊ	१,९८९
२. उन्नाव	४,७१२
३. रायबरेली	२,४४०
४. सीतापुर	२,१२३
५. हरदोई	७,४६३
६. खीरी	१,४१७
७. फैजाबाद	२,८२६
८. गोंडा	३,०९१
९. बहराइच	२,२५७
१०. सुलतानपुर	३,९७२
११. बाराबंकी	४,४५२
१२. प्रतापगढ़	७६६
योग :	३७,५०८

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि रायबरेली की भाँति अवध के अन्य जिलों में भी किसानों को स्वेच्छापूर्ण ढंग से तालुकेदारों द्वारा बेदखल किया गया, जिससे उनमें व्यापक असन्तोष व्याप्त था। प्रतीत होता है कि काँग्रेस के नागपुर अधिवेशन (१९२०) में जब किसान राष्ट्रीय काँग्रेस के महत्वपूर्ण अंग बन गये तो वे और अधिक संगठित और शक्तिशाली ढंग से विरोध करने लगे। टाइम्स (६ मार्च १९२२) अवध के किसान आन्दोलन का समीचीन चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखता है कि—'पहले सब किस्म के अधिग्रहणों से कुचले गये काश्तकारों की हालत ऐसी न थी कि वे असरदार तरीके से अपना विरोध करते, लेकिन जनगण के हाल के राजनीतिक जागरण के सम्पर्क में आकर उन्होंने अपने अधिकारों के लिए लड़ना शुरू किया।'[5] अवध (१९२०) में भूमिधर काश्तकार अत्यल्प थे; प्रायः अल्पकालिक अधिक थे, जो काश्तकार तालुकेदार को अधिक धनराशि दे देता था, उसे काश्त हेतु भूमि आवंटित कर दी जाती थी। साथ ही वे किसानों को प्राप्त धन की रसीदें भी नहीं देते थे।[6] किसानों से वसूल किये धन का छिपाव एक सामान्य परम्परा सी बन गयी थी। पं० जनार्दन जोशी डिप्टी कलेक्टर, रायबरेली के शब्दों में :

"In one estate out of a rental of Rs. 77,000, Rs, 9,500 were concealed. In another estate Rs. 13,009 out of 32,000. If the Karinda has to collect Rs. 5,000 without receipts, why should he not collect Rs. 18,000 (Rs. 4,000 for himself and Rs. 1,000 to earn approbation and support of his master). If the tenantry revolts against this rotten system, what wonder is there."[7]

१. डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० १४०।
२. डा० शिव कुमार, **वही**, पृ० ७३।
३. अयोध्या सिंह, **वही**, पृ० ४२६।
४. डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० ३१।
५. **स्टेटमेन्ट एक्जिबिटिंग—आफ इण्डिया ड्यूरिंग द इयर १९२०**, पृ० १८१। अयोध्या सिंह, **वही**, पृ० ४२६।
६. **उ० प्र० गजेटियर्स, रायबरेली**, पृ० ४०।
७. **यूनाइटेड प्राविन्सेस गजेट**, मई १३, १९२२ भाग ८, पृ० २७६। डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० ३४-३५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रसीदें न देने के कारण तालुकेदारों द्वारा किसान पुनः धन देने के लिए तरह तरह से प्रताड़ित किये जाते थे। यह भी उनके असन्तोष का एक प्रमुख कारण था। इसके अतिरिक्त तालुकेदार विवाह, विदेशों में अपनी सन्तानों की शिक्षा, ब्रिटिश अधिकारियों को धन देने तथा विलासिता के संसाधन जुटाने के लिए किसानों से समय समय पर विशेष धन लिया करते थे।[१] लखनऊ डिवीजन के कमिश्नर ने भी रायबरेली के तालुकेदारों द्वारा किसानों के प्रति किये जाने वाले कुत्सित कार्यों की भर्त्सना की है। उनके शब्दों में :

"There is no doubt about the worst managed talukdars, estates in this district."[2]

तालुकदारों के इन अत्याचारों से उनमें धीरे धीरे असन्तोष इस तरह बढ़ गया कि वे उन्हें फूटी आंख देखना नहीं चाहते थे। किसानों पर अत्याचार ढहाने के लिए १८८६ के 'अवध रेण्ट एक्ट' ने तालुकेदारों को असीमित अधिकार प्रदान कर दिया था।[३] फलतः रायबरेली 'अवध' के किसानों की स्थिति दास सदृश हो गयी थी। उक्त कारणों से १९२०–२१ में रायबरेली के समूचे जिले में किसान विद्रोह फूट पड़ा तथा हिन्दू-मुसलमान सभी साम्प्रदायिक परिधि से ऊपर उठकर एक कौम की तरह साम्राज्यवादियों और तालुकेदारों के विरुद्ध उठ खड़े हुए।

स्वरूप

१९२०–२१ के पूर्व ही रायबरेली किसान आन्दोलन की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र बन चुका था।[४] यहाँ पर किसान आन्दोलन का फैलाव नवम्बर-दिसम्बर १९२० में प्रतापगढ़ के भ्रमणशील नेताओं द्वारा हुआ, जिन्होंने किसानों को तालुककेदारों के विरुद्ध जेहाद छेड़ने के लिए प्रोत्साहित किया।[५] प्रतापगढ़ में तालुकेदारों को निरंकुशता के विरुद्ध किसानों को संगठित करने में बाबा रामचन्द्र का प्रमुख योगदान था।[६] २०–२१ दिसम्बर १९२० को अवध किसान कांग्रेस का प्रथम बार अयोध्या में आयोजन हुआ, जिसमें रायबरेली को प्रतिनिधि के रूप में अनमोल शर्मा और माता बदल ने भाग लिया था।[७] अवध के विभिन्न जिलों से लगभग लाखों की संख्या में किसानों ने बड़े ही उत्साह से भाग लिया। बहुत से किसान ६०–७० मील की दूरी तयकर इस श्रमसाध्य अधिवेशन में उपस्थित हुए थे। इसमें 'बेगार' और 'नजराना' का निषेध भी किया गया। जे० ए० फारनान J. A. Fornon ने अयोध्या में होने वाली किसान कांग्रेस पर टिप्पणी करते हुए डिप्टी-कमिश्नर रायबरेली को किसानों की राजनीतिक जागृति के सम्बन्ध में निम्न रूप में लिखा :

"For the first time in history they had began to realise the power of united peasantry—to realise that they themselves had the remedy of the most flagrant of their wrongs, the illegal exactions of their landlords, in their own hand."[8]

किसान आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए अवध किसान कांग्रेस के गौरीशंकर मिश्र अध्यक्ष तथा रामचन्द्र शर्मा, देवनारायण और कमालुद्दीन जाफरी मंत्री निर्वाचित किये गये। साथ ही अवध किसान कांग्रेस समिति की भी स्थापना की गयी। इसी समिति ने अवध किसान कांग्रेस को दूसरे वर्ष रायबरेली में किसान आन्दोलन को नई दिशा देने के लिए आमन्त्रित किया था। इस अधिवेशन में प्रस्ताव पारित किया गया कि किसानों पर तालुकेदारों द्वारा किये जाने वाले अत्याचार शीघ्र समाप्त किये जायँ। इसका समर्थन

१. डा० शिव कुमार, **वही**, पृ० ७३।
२. **उ० प्र० गजेटियर्स, रायबरेली**, पृ० ४०।
३. **वही**, पृ० ४०।
४. डा० शिव कुमार, **वही**, पृ० ५५।
५. **ऐडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट आफ यू० पी०**, १९२१-२२, पृ० १८।
६. आचार्य नरेन्द्र देव, **सोसलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्युशन**, पृ० ५७।
७. डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० ११५।
८. **वही**, पृ० ११७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कलकत्ता कांग्रेस ने भी किया ।[१] किसान तालुकेदारों के अत्याचारों से त्रस्त हो गया था फिर भी वे अत्याचार का कहर ढहाने में अभी थके नहीं थे । परिणामतः इनके विरोध में एक स्वस्थ वातावरण समूचे जनपद में स्वयमेव सृजित हो गया । यहाँ तक कि मेहतरों और समाज के उपेक्षित जनों ने भी इनका बहिस्कार करने में तनिक भी संकोच नहीं किया । कुछ भी हो १९२० का वर्ष किसान आन्दोलन की दृष्टि से शान्तिमय आन्दोलन का काल था । किसी प्रकार की अप्रिय हिंसक घटनाओं की सूचनायें नहीं मिलती हैं ।[२] १९२० का वर्ष तो शान्तिमय व्यतीत हो गया किन्तु वर्ष १९२१ में किसान आन्दोलन के झंझावात ने तालुकेदारों को झकझोर दिया । २ जनवरी १९२१ को सरदार निहाल सिंह की फसलों को औंदू में किसानों ने नष्ट कर दिया । ३ जनवरी को चिचांडी के तालुकेदार रामप्रताप सिंह के साथ भी यही घटना घटी । किसानों द्वारा फसलों के विनष्ट करने की घटना टिगराचीपुर, गौरा और गुटा में भी सम्पन्न हुई । ४ जनवरी को ३०० किसानों ने सलौन तहसील के आहाते में एकत्रित होकर मांग की कि किसानों को भूमि से बेदखल न किया जाय । ५ जनवरी को रामगुलाम पासी के नेतृत्व में किसानों ने डीह बाजार तिलोई में ददरिया बनिया की कपड़े की दुकान लूट लिया ।[३] उसी दिन हजारों लोगों ने रुस्तमपुर बाजार की कपड़ों की दुकानों को क्षतिग्रस्त कर वस्तुओं को हथिया लिया तथा चन्दनिया के तालुकेदार ठाकुर त्रिभुवन बहादुर सिंह को बाबा जानकीदास के नेतृत्व में लगभग तीन हजार किसानों ने घेर लिया ।[४] किन्तु इस घटना के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न उल्लेख प्राप्त होते हैं । कुछ विद्वानों के अनुसार स्थानीय किसान नेता अनकोल शर्मा ठाकुर त्रिभुवन बहादुर सिंह द्वारा बेदखल कर दिया गया था । नरहरिपुर चरहर जाते समय बाबा जानकीदास से वह मिला और उसने किसानों द्वारा तालुकेदार के घर को घेर लिया । कतिपय विद्वानों का ऐसा भी विचार है कि तालुकेदार ने स्वयं किसानों को उनमें विद्यमान आक्रोश को सुनने के लिए बुलाया था और अधिकारियों के कुत्सित दृष्टिकोण से भी किसानों को अवगत कराया था ।[५] उत्तेजित एकत्रित किसान समूह को स्थानीय पुलिस यंत्रणा देने लगी । सूचना पाते ही जिलाधोश और पुलिस अधीक्षक घटना स्थल पर आ पहुँचे और जानकीदास तथा अन्य किसान नेताओं को जेल के सीकचों में बन्द कर दिया गया । किसान नेताओं के जेल में ठूंस दिये जाने की भनक रातों रात फैल गयी और रायबरेली तथा पड़ोसी जिलों में सनसनी का वातावरण छा गया ।[६] ५०० किसानों ने सरदार वीरपाल सिंह के खुसेठी तथा सरदार निहाल सिंह के अन्ती गोदामा को ६ जनवरी को[७] फुरसतगंज बाजार में किसानों को गोलियाँ खानी पड़ीं । किसान अनाजों और कपड़ों की बढ़ी कीमतों से भी त्रस्त थे । ३००–४०० की भीड़ फुरसतगंज में कीमतों की वृद्धि पर आक्रोश व्यक्त कर रही थी कि परगनाधिकारी नसरुल्लाखान सलोन तहसील सशस्त्र पुलिस दल के साथ आ धमके । उन्होंने बाजार बन्दी का आदेश दिया और भीड़ को तितर-बितर करने के लिए गोलियों के चलने का भी आदेश सिपाहियों को दे दिया । किन्तु किसान अपनी मांगों पर अड़े रहे साथ ही बनियों को चार आने गज कपड़ा तथा रूपये का आठ सेर आटा बेचने की चेतावनी भी दी अन्यथा उन्हें लूट का सामना करने के लिए तैयार हो जाने को कहा ।[८] कुछ किसानों ने दुकानों से कुछ वस्तुओं के अधिग्रहण का भी यत्न किया ।[९]

१. **दि इन्डिपेन्डेन्ट**, २५ दिसम्बर १९२० ।
२. **उ० प्र० गजेटीयर्स, रायबरली**, पृ० ४१ ।
३. डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० १२४ ।
४. डा० शिव कुमार, **वही**, पृ० ७७-७८ ।
५. डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० १२४ ।
६. **उ० प्र० गजेटियर्स रायबरेली**, पृ० ४१ ।
७. डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० १२४ ।
८. **परगनाधिकारी की रपट**, संख्या १९५-२१६ अ, पृ० २२ ।
९. **दि इन्डिपेन्डेन्ट**, ११-१-१९२१ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किसान नेताओं की गिरफ्तारी से किसान क्षुब्ध थे। पहले जत्थे के लगभग ६६० किसानों ने स्वेच्छा से अपने गिरफ्तार नेता के पक्ष में अपनी गिरफ्तारियाँ दी।[१] सबसे आश्चर्य की बात यह थी कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ने गिरफ्तार नेताओं के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने के लिए रायबरेली चलने की शपथ खा रखी थी। शपथ यह थी कि न जाने पर हिन्दुओं को ९ गायों तथा मुसलमानों को ९ सुअरों के मारने का पाप लगेगा।[२] सभी ने कमर कस ली। ७ जनवरी को उमड़ते किसान समूह को रायबरेली से ३ कि०मी० दूर मुंशी-गंज के समीप स्थित सई नदी के पुल पर पुलिस और सेना द्वारा रोका गया। धीरे-धीरे लगभग १० हजार की भीड़ जमा हो गयी, भीड़ पर नियन्त्रण न पा सकने की स्थिति देखकर जिलाधीश ने गोली चलाने का आदेश दे दिया। निहत्थे किसान साम्राज्यवादी लुटेरों की गोलियों से आहत हो गये। उसी समय ५ जनवरी की घटना का टेलीग्राम द्वारा समाचार प्राप्त कर ७ जनवरी को पं० जवाहर लाल नेहरू घटना स्थल पर आ पहुंचे। नेहरू के आगमन की प्रतिक्रिया जिलाधीश के शब्दों में सुनिये :

"पं० जे०एल० नेहरू, आप को सूचित किया जाता है कि आप की जिले में उपस्थिति वान्छनीय नहीं है, आपको निर्देश दिया जाता है कि दूसरी गाड़ी से चले जाँय।"[३]

किन्तु पं० नेहरू पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। उनके आगमन के समय सई का वह पुल गोलियों की दनदनाहट से हृदय की धड़कन में तेजी उत्पन्न कर रहा था। उन्होंने भयाक्रान्त और सई नदी के किनारे के खेतों में छिपे लगभग दो हजार किसानों को सम्बोधित कर उनके हृदयों में समायी भय-भावना को निर्वासित कर दिया।[४] इस घटना की भर्त्सना राष्ट्रीय नेता गणेश शंकर विद्यार्थी ने दैनिक समाचार पत्र 'प्रताप' में की। ७ जनवरी का दिन बड़ा ही रोमांचकारी एवं हृदय विदारक था। सई पुल पर होने वाली गोली की बौछारों की सनसनाहट अभी आकाश में गूंज ही रही थी कि रायबरेली से २० कि०मी० दूर फुरसतगंज बाजार में किसानों के विशाल जनसमूह को पुलिस की गोलियों का आतिथ्य झेलना पड़ा। जेल तथा जिलों के अन्य स्थलों पर उग्र आन्दोलन की आशंका से जिलाधीश ने गिरफ्तार नेताओं, बाबा जानकी दास, अनमोल शर्मा तथा बद्रीनारायण सिंह को ८ जनवरी को रायबरेली से लखनऊ जेल स्थानान्तरित कर दिया।[५]

९ जनवरी को पं० मोतीलाल नेहरू का रायबरेली पदार्पण मुंशीगंज और फुरसतगंज की घटनाओं के वास्तविक तथ्य की जानकारी करने के आशय से हुआ। आहतों में अधिक संख्या में वृद्ध थे, जिनमें एक की पीठ पर १४ गोलियों के चिह्न विद्यमान थे। मरने वालों की कुल संख्या १४ थी। ब्रितानी हिंसकों के कुकृत्य में सरदार वीरपाल सिंह भी सम्मिलित थे।[६] यद्यपि वीरपाल सिंह द्वारा गोली न चलाने की सफाई ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा भी दी गयी।[७] वर्तमान में तो वीरपाल सिंह को उनके कुकृत्य के कारण बटलर पाल सिंह नाम से सम्बोधित किया।[८] 'प्रताप' में गणेश शंकर विद्यार्थी ने वीरपाल सिंह के घृणित कार्य की भर्त्सना दूसरे जनरल डायर के रूप में की। सरदार वीरपाल सिंह ने गणेश शंकर विद्यार्थी द्वारा प्रकाशित समाचार पत्र पर

---

१. **यूनाइटड प्राविन्सेज लेजिस्लेटिव कौंसिल प्रोसीडिंग्स** १९२०, भाग ५, पृ० २४३।
२. **दि इन्डिपेन्डेन्ट**, १६-१-१९२१।
३. **उ० प्र० गजेटियर्स रायबरेली**, पृ० ४१,।
४. **दि इन्डिपेन्डेन्ट**, २२-१-१९२१।
५. **उ० प्र० गजेटियर्स रायबरेली**, पृ० ४१।
६. **दि इन्डिपेन्डेन्ट**, ११-१-१९२१।
७. **स्टेटमेन्ट आफ ए० जी शेरेफ**, १७-१-१९२१।
८. **वर्तमान**, ४-८-१९२१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपनी अवमानना का मुकदमा भी चलाया था।[१] तालुकेदार वीरपाल सिंह का चरित्र निःसन्देह काली करतूतों के कारण उसके व्यक्तित्व को इतिहास के पृष्ठों में अमावस्या की काली छाया की भाँति उनको ग्रसता रहेगा क्योंकि जिस समय साम्राज्यवाद धराशायी होने लगा था, जार जैसे सशक्त सम्राटों के राजमुकुट जमीन पर लुण्ठित शिरों की भाँति नर्तन करने लगे थे तथा विश्व के छठें भाग की राज्यसत्ता पर आधिपत्य स्थापित कर सर्वहारावर्ग ने विश्वक्रान्ति का बिगुल बजा दिया था, ऐसे समय ब्रिटिश शोषकों के पक्षधर तालुकेदार द्वारा क्षुद्र स्वार्थ की अभिपूर्ति हेतु अपने ही देशवासियों पर गोलियों की आग उगलना कहाँ तक समीचीन कहा जा सकता है। इसके विपरीत ब्रिटिश राजसत्ता के संयुक्त प्रदेशीय प्रतिनिधि स्पेन्सर हरकोटे बटलर ने किसान विद्रोह को दबाने में रायबरेली के अधिकारियों और सरदार वीरपाल सिंह के सहयोग की भूरि भूरि प्रशंसा की है।[२]

रायबरेली जिला किसान सभा के उपाध्यक्ष पं० मार्तण्ड वैद्य तथा १६ अन्य व्यक्तियों को सब्जियों के लूटने तथा फर्नीचरों को नष्ट करने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया।[३] १३ जनवरी को ५०० किसानों को सुल्तानपुर रेलवे स्टेशन पर इसलिए बुरी तरह प्रताड़ित किया गया क्योंकि वे ऊँचाहार में होने वाली १५ जनवरी की किसान-सभा में भाग लेने के लिए आ रहे थे।[४] दुर्भाग्य की बात तो यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की भाँति उ०प्र० किसान सभा के नेता पं० मदन मोहन मालवीय तथा गौरी शंकर ने भी ऊँचाहार किसान सभा में भाग लेने वाले किसानों को निरुत्साहित किया।[५] बाबा रामचन्द्र को भी इसमें भाग लेने से रोक दिया गया था। उसी दिन अनेक स्थानों पर किसानों ने प्रदर्शन भी किया।[६] २३ जनवरी को मुसीगंज में घटी घटना के विरोध में सेहगाँव पंचिमगों (बछरावां) के किसानों ने एक सिपाही को लाठी से मार डाला तथा दो को घायल कर दिया।[७] १५ जनवरी को पं० मदन मोहन मालवीय ने भी रायबरेली आकर किसानों के साथ सहानुभूति प्रकट की और गोलीकांड में मृतक एवं घायलों के परिवारों से भी मिले।[८]

किसान आन्दोलन को दबाने के लिए साम्राज्यवादियों ने अवध के उपद्रवग्रस्त जिलों में किसानों को भयवश समर्पण कराने की दृष्टि से सेना का मार्च कराया तथा विशेष अधिनियम के अन्तर्गत (सेडीशस मीटिंग्स एक्ट) रायबरेली, प्रतापगढ़, सुल्तानपुर तथा फैजाबाद जिलों में सभाओं का आयोजन प्रतिबन्धित कर दिया गया। १ फरवरी १९२१ को बाबा रामचन्द्र, देवनारायण, स्वामी केदार नाथ तथा बाबा राघवचन्द को गिरफ्तार कर लिया गया।[९]

१. **लीडर**, २२–१–१९२१।
   प्रताप, १३–१–१९२१।
   डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० १३१-३२।
२. रायबरेली के अधिकारियों को बटलर का टेलीग्राम ९–१–१९२१ फा० सं० ५०।१९२० जन० उ० प्र० एस० ए०।
३. **दि इन्डिपेन्डेन्ट**, २१–१–१९२१।
४. **वही**, १८–१–१९२१।
५. **वही**, १८–१–१४२१।
६. **टाइम्स,, लन्दन** १३–१–१९२१।
७. एस०पी० रायबरेली टु० आई० जी० पोलिस, २४–१–१९२१ फा०सं० ५०।१९२१ जन० उ०प्र० एस०ए०।
८. **उ० प्र० गजेटियंस रायबरेली**, पृ० ४२।
९. रिप्रेशन इन यू० पी०—जवाहरलाल नेहरू द्वारा गान्धी जी को तैयार की गई टिप्पणी।
   दि इन्डिपेन्डेन्ट, २४–८–१९२१।
   डा० शिव कुमार, **वही**, पृ० ७९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१४ मार्च को जोधागाँव में किसानों की विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के लिए किसान सभा का आयोजन किया गया था। परन्तु २० मार्च को पुनः ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने करहिया (सलोन तहसील) के किसानों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया यद्यपि क्रान्ति की चिनगारी को अमानुषिकता कभी दबा नहीं पायी है—यह जानते हुए भी वे किसानों का अस्तित्व मिटाने के लिए कृत-संकल्प थे।

मरहवाँ (प्रतापगढ़) निवासी बृजपाल सिंह ने करहिया के सभी पवर्ती क्षेत्रों में किसान सभा के आन्दोलन को संगठित एवं गतिशील बनाने में प्रभूत सहयोग दिया। बृजपाल सिंह ९ भूपाल इन्फैन्ट्री में सिपाही पद पर नियुक्त था और कुछ दिनों के लिए अवकाश पर आया था। इधर करहिया की रानी तालुकेदार के किसान विरोधी कार्यों से किसान पीड़ित थे। उसके कार्यों पर क्षुब्ध होकर बृजपाल सिंह ने करहिया बाजार में घोषणा की कि मैनेजर की सेवाएँ २० मार्च तक समाप्त कर दी जाँय या काला चेहरा करके गधे पर बैठाकर बाजार में निकाला जाय। डिप्टी कमिश्नर ने उपद्रव की आशंका से २० मार्च को होने वाली करहिया में किसान सभा को प्रतिबन्धित कर दिया।[1] प्रतिबन्ध के बावजूद किसानों ने सभा का आयोजन किया। जिलाधीश और पुलिस अधीक्षक के साथ भारा संख्या में पुलिस दल आ टपका। किन्तु किसान सहमा तक नहीं और अपना प्रतिरोध क्रम बनाये रखा। पुलिस ने घटना पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए गोलियां का सहारा लिया फलतः एक व्यक्ति मृत्यु की गोद में सो गया और ७ व्यक्ति घायल हो गये।[2] बृजपाल सिंह, सूरजपाल सिंह, गंगादीन तथा झुनकू सिंह को गिरफ्तार कर लिया गया।[3]

किसानों के क्रान्तिकारी कार्यों को राष्ट्रीय नेताओं द्वारा अपेक्षित रूप से प्रोत्साहित नहीं किया गया। मोतीलाल नेहरू ने किसान सभा के अध्यक्षीय भाषण में कहा था—

'किसानों को किसी प्रकार का उग्रवादी कार्य नहीं करना चाहिए, उन्हें भारतीय काँग्रेस के सदस्य के रूप में नामांकन कराकर 'स्वराज' की धनराशि में योगदान देना चाहिए तथा चरखा कातना चाहिए।'[4] गाँधी जी भी किसानों के जमीनदारों के विरुद्ध किये जाने वाले आन्दोलन के विरोधी थे। वे मित्रतापूर्ण वाद-विवाद द्वारा किसानों और जमीन-दारों के मध्य विद्यमान मतभेदों को सुलझाने के पक्षधर थे।[5] तालुकेदारों को १८८६ अवध रेन्ट एक्ट द्वारा असीमित अधिकार दे दिया गया था, जिसके कारण किसानों के प्रति दमनात्मक रुख अपनाने में उन्हें कोई अड़चन नहीं आती थी। इसके विरोध में 'लिबरल लीग आफ यूनाइटेड प्राविंश' ने सलोन (५-१०-२१) महाराजगंज (१९-१०-२१) तथा कुंसा (२६-१०-२१) में जन सभायें की। के० पी० कौल और बाबू किस्मत राय ने इन सभाओं का संचालन किया।[6] किसानों के प्रतिरोध का ही परिणाम था कि ४ अगस्त १९२१ को 'अवध रेन्ट' संशोधन विधेयक पेश किया गया। इसमें भी अनेक त्रुटियां थीं, तालुकेदारों के हितों को अधिक ध्यान में रखा गया था, इसी कारण एच० एन० कुंजरू, वृजनन्दन प्रसाद मिश्र, गोकरण नाथ मिश्र, सीद्यारास तथा राधाकान्त मालवीय ने कौंसिल से इस

---

१. किंग इम्परर बनाम बृजपाल सिंह और अन्य मुकदमें का निर्णय फा० सं० ४०-२।१४२१, यू० पी० एस० ए०, फा० सं० ३३५-३३९ मार्च १९२१।
डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० १६५।
२. **उ० प्र० गजेटियंस रायबरेली**, पृ० ४३।
३. डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० १६५।
द्रष्टव्य—३०-३-१४२१ लुडोविक पार्टर की कर्नल जैक्सन को दी गयी रिपोर्ट फा० सं० ५०-२।१९२१, जन० उ० प्र० अभिलेखागार।
४. **दि इन्डिपेन्डेन्ट**, ३ मई १९२१।
५. **वही**, २४ मई, १९२१।
६. डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० १८०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विधेयक को अस्वीकार कर देने के लिये कहा।[१] राजा रामपाल सिंह (कालाकांकर, प्रतापगढ़) ने विधेयक में किसानों को और अधिक सुविधायें देने की पेशकश की किन्तु बटलर द्वारा अस्वीकार कर दिया गया।[२] लीडर ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि किसानों को उत्पीड़ित करने में सरकार की अदूरदर्शिता और तालुकेदारों का स्वार्थपरक दृष्टिकोण उत्तरदायी है।[३]

संयुक्त प्रदेश में खिलाफत और असहयोग दोनों आन्दोलनों की प्रमुख शक्ति किसान ही थे।[४] उन्होंने कांग्रेस के स्वयंसेवक दल में हजारों की संख्या में भरती होकर पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन को शक्तिशाली बनाया तथा लगानबन्दी का भी रास्ता अपनाया।[५] वस्तुतः १९२० में उ० प्र० किसान सभा को असहयोग आन्दोलन की संख्या के संस्था ले रूप में खड़ा करने का असफल प्रयास असहयोग आन्दोलन कर्त्ताओं ने किया।[६] असफलता का कारण यह था कि उ० प्र० किसात सभा किसानों के हित में रेन्ट एक्ट में संशोधन की पक्षधर थी किन्तु कांग्रेस किसानों और तालुकेदारों के मध्य आपसी समझौते के द्वारा उनके कष्ट कम करने की पहल कर रही थी।[७] कांग्रेस और उ० प्र० किसान सभा के मध्य दरार सी पड़ गयी और यह दरार ७ फरवरी को उ० प्र० किसान सभा की सेवा समिति (इलाहाबाद) के आहाते में होने वाली बैठक में उभर कर आ गयी।[८] फलतः किसान सभा असहयोग आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन विरोधी—इन दो खेमों में बट गई और कालान्तर में अवध किसान सभा असहयोग आन्दोलन के दामन में समा गयी।[९] इसी का परिणाम था कि असहयोग आन्दोलनकर्त्ता रायबरेली के किसान आन्दोलन में इस तरह घुलमिल गये थे कि किसान सभा, कांग्रेस और खिलाफत समिति के सदस्यों में विभेद कर पाना कठिन था।[१०] 'एका' आन्दोलन पर भी किसान सभा का प्रचुर प्रभाव था। एम० एम० राय के अनुसार कांग्रेस तालुकेदारों की पक्षधर थी और अहमदाबाद (१९२०) अधिवेशन में उनके और अबानो मुखर्जी द्वारा भेजे गये प्रस्ताव के अनुसार यदि किसानों को कांग्रेस का अंग बनाकर उनके हितों को ध्यान में रखकर तथा उनका विश्वास प्राप्त कर कांग्रेस आन्दोलन चलाती तो अधिक श्रेयस्कर होता किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। परिणाम स्वरूप अवध किसान कांग्रेस के अंग के रूप में 'एका आन्दोलन' फूट पड़ा।[११]

वर्ष १९२०-२१ में रायबरेली का किसान आन्दोलन विशेष उपलब्धियां अर्जित न कर सका। १८८६ के 'अवध रेन्ट एक्ट' में १९२१ में संशोधन तो जरूर हो गया किन्तु

---

१. **उ० प्र० एल० सी० पी० १९२१**, भाग ४, पृ० ४८३, ८६।
२. **बटलर टु राजा रामपाल सिंह**, १६–८–२१, बटलर कलेक्सन रोल नं० १५।
३. **लीडर**, १२–११–१९२१।
४. डा० शिव कुमार, **वही**, पृ० ७७, ७१-७२।
अयोध्या सिंह, **वही**, पृ० ६३०।
५. **वही**, पृ० ४२६।
६. **लीडर**, २१–२–१९२१।
७. **दि इन्डिपेन्डेन्ट**, ६–२–१९२१।
८. **वही**, १०–२–१९२१।
९. डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० १५७।
१०. पुलिस अधीक्षक रायबरेली टु डिप्टी कमिश्नर रायबरेली २५–२–१९२१ फा० नं० ५०।१९२० जन० एस० ए०।
११. डाकुमेन्ट्स आफ द कम्यूनिस्ट पार्टी आफ़ इण्डिया, पृ० ३५२। इन्टर नेशनल प्रेस करेस्पौन्डेन्स : वर्लिन, भाग २, सं० ५१, २०–६–१९२२।
डा० कपिल कुमार, **वही**, पृ० १९०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुट्ठीभर तालुकेदारों और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने करोड़ों किसानों के भाग्य का फैसला बिना उनकी किसी प्रकार की राय लिए कर लिया। तालुकेदारों को अब भी असीमित अधिकार प्राप्त थे। अवध में किसानों को भूमि सम्बन्धी अधिकार किस रूप में प्राप्त थे निम्न तालिका से सुस्पष्ट है—

१.	भूमि स्वामित्व प्राप्त किसान	२.१ प्रतिशत
२.	तालुकेदार की इच्छा पर ७ वर्ष तक लीज पर खेती करने वाले किसान	९७.९ प्रतिशत
३.	धनी किसान (५ से १० एकड़ भूमि वाले)	२.९ प्रतिशत
४.	मध्यम श्रेणी के किसान	११.५ प्रतिशत
५.	गरीब किसान (२ से ५ एकड़ भूमि वाले)	२२.९ प्रतिशत
६.	बहुत गरीब किसान (१ से २-४ एकड़ भूमि वाले)	६२.९ प्रतिशत

स्पष्ट है कि गरीब और बहुत गरीब किसानों का प्रतिशत ८५.८ प्रतिशत था इसके नीचे खेतों में काम करने वाले श्रमिक थे और ९७.९ प्रतिशत किसानों का भाग्य तालुकेदारों की इच्छा पर अवलम्बित था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बरेली जनपद का इतिहास

(१९३९ ई० से १९५० ई० तक)

कु० राकेश पन्त*

प्राचीन काल में हिमालय पर्वत से लेकर चम्बल नदी तक का प्रदेश पांचाल के नाम से पुकारा जाता था। चंद्रवंशीय राजाओं के पाँच पुत्रों में राज्य का विभाजन होने के कारण इसका नाम पांचाल पड़ा। कालान्तर में पांचाल का विभाजन उत्तरी तथा दक्षिणी पांचाल क्षेत्रों में हो गया। महाभारत काल में द्रुपद उत्तरी पांचाल के राजा बने। यह राजा बड़े पराक्रमी थे। इन्होंने दक्षिणी पांचाल पर अधिकार कर लिया और दोनों पांचालों के राजा बन बैठे।

महाभारत के पश्चात् उत्तरी पांचाल पर नाग जाति का प्रभाव अधिक बढ़ गया। इस जाति के नेता तक्षक द्वारा ही परीक्षित की मृत्यु हुई थी। शीघ्र ही परीक्षित के पुत्र जन्मेजय ने नाग जाति को समाप्त कर दिया। और अपना अधिकार कर लिया। अहिच्छत्र पर मौर्य, मित्र गुप्त एवं पाल शासकों का राज्य रहा। जब हर्ष का उत्तरी भारत पर अधिकार हुआ तब उनका इस प्रदेश पर भी अधिकार हो गया और अहिच्छत्र कन्नौज साम्राज्य का एक अंग बन गया। हर्ष वर्धन के शासन काल में जब चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत भ्रमण किया तब वह अहिच्छत्र भी आया। उसने अपनी यात्रा का वर्णन अपनी पुस्तक में लिखा है। उसने लिखा है कि अहिच्छत्र एक समृद्धशाली नगर था। यहाँ पर बौद्ध एवं ब्राह्मण दोनों ही धर्मों का प्रभाव था। उस समय यहाँ १० बौद्ध मठ थे जिनमें १०० भिक्षु रहा करते थे। इसके साथ यहाँ पर ९ विशाल हिन्दू मन्दिर भी थे तथा १०० सन्यासी भी नगर में रहा करते थे। ह्वेन साँग ने इस नगर को १७-१८ ली (तीन मील) क्षेत्रफल में बसा हुआ बताया है। शहर के बाहर उसने एक सूर्य कुंड का वर्णन किया है जहाँ महात्मा बुद्ध ने सात दिन तक निवास करके नाग राजा को बौद्ध मतालम्बी बनाया था। ह्वेन साँग ने एक स्तूप का भी वर्णन किया है जिसे अशोक ने बनवाया था। ह्वेन साँग के अनुसार इस काल में भी अहिच्छत्र एक समृद्धिशाली एवं महत्वपूर्ण नगर एवं राज्य था। हर्षवर्धन के पश्चात् अहिछत्र का पतन होना प्रारम्भ हो गया और इस्लामी आक्रान्ताओं ने इसके प्राचीन वैभव को समाप्त कर दिया। अहिच्छत्र उत्तरी पाँचाल की राजधानी थी। जिससे बरेली के प्राचीन इतिहास की कड़ी जुड़ी हुई हैं।

अहिच्छत्र में अनेक बार उत्खनन कार्य हो चुका है। उँचाँगाँव में भी उत्खनन कार्य पांचाल इतिहास परिषद, बरेली द्वारा कराया गया हैं।

बरेली के बसने के सम्बन्ध में कहा जाता है कि १५५१ ई० में कटहरिया वंशीय शासक जगत सिंह के दो पुत्र बासदेव तथा बरलदेव के सम्मिलित नाम पर १५६७ ई० में बांसबरेली नाम पड़ा था। दूसरी जनश्रुति के अनुसार इस क्षेत्र में घने बांस के जङ्गल थे जिसके व्यापार का यह केन्द्र स्थल था अतः इसका नाम बाँसबरेली पड़ा। परन्तु यह मानना उचित प्रतीत नहीं होता। बासदेव ने १५५० ई० में बरेली में एक दुर्ग का निर्माण कराया था। जिसके अवशेष मुहल्ला कोट में मिलते हैं।

यह रुहेला शासकों की राजधानी रही है। यह अली मुहम्मद खाँ, रौदुल्ला खाँ, फैजुल्ला खाँ, हाफिज रहमत खाँ आदि रुहेला शासको का कार्य क्षेत्र रहा। १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में इस क्षेत्र ने खान बहादुर खाँ, बख्त खाँ,

---

* बाल विकास विभाग, गृहविज्ञान महाविद्यालय, गोविन्द बल्लभ पन्त कृषि एवं प्रोद्यौगिक वि० वि०, पन्त नगर, नैनीताल।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दीवान शोभाराम के नेतृत्व में भाग लिया था। कुछ समय के लिए आंग्ल शासन यहाँ से समाप्त ही हो गया था।

असहयोग एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलनों में भी यहाँ के निवासियों ने भरपूर भाग लिया जिससे ब्रिटिश शासकों की नींद हराम हो गई।

१९३६ ई० में चुनावों का श्रीगणेश हुआ। बरेली जनपद को चुनाव के हेतु तीन विधान-सभाई को क्षेत्रों में बाँटा गया। बरेली आँवला से ठाकुर पृथ्वीराज सिंह बहेड़ी, नवाब गंज फरीदपुर से पंडित द्वारिका प्रसाद और बरेली नगर से पं० गोविन्द बल्लभ पन्त चुने गये। उत्तर प्रदेश विधान परिषद की एक मात्र सीट हेतु निर्दलीय प्रत्याशी साहू राधे रमनलाल चुने गये। इस चुनाव में हिन्दुओं और मुसलमानों के मतदाता पृथक पृथक रक्खे गये थे। मुस्लिम उम्मीदवारों को केवल मुस्लिम मतदाता और हिन्दू उम्मीदवारों को केवल हिन्दू मतदाता ही वोट देते थे। मुस्लिम लीग ने अपने इस चुनाव में पहली बार अपने प्रत्याशी बरेली में खड़े किये। उस समय मुस्लिम लीग ने कांग्रेस से मिलकर चुनाव लड़ा था। मुस्लिम लोग के उम्मीदवारों के चुनाव अभियान में मुस्लिम लीग के वरिष्ठ नेता चौधरी खलीक-उ-ज्जमा और मौलाना शौकत अली बरेली आये। उन्होंने अपने भाषणों में कांग्रेस के साथ मिलकर मुसलमानों को चुनाव लड़ने की अपील की। अतः चुनाव में बरेली नगर से मुस्लिम लीग के प्रत्याशी मौलवी अजीज अहमद खाँ और ग्रामीण क्षेत्र से मौलवी इमदाद हुसेन मुस्लिम लीग के टिकट पर विधान सभा के सदस्य चुने गये।

१९३६ के चुनाव में उत्तर प्रदेश में काँग्रेस को बहुमत मिला। किन्तु काँग्रेस ने मंत्री मण्डल बनाना स्वीकार नहीं किया। उस समय काँग्रेस विधायक दल के नेता पं० गोविन्द बल्लभ पंत थे और मुस्लिम लीग विधायक दल के नेता चौधरी खलीक-उ-ज्जमाँ थे। इन दोनों नेताओं ने मंत्रिमण्डल बनाना स्वीकार नहीं किया तत्पश्चात गवर्नर द्वारा नेशनल एग्रीकल्चरल पार्टी के नेता नवाब छतारी को मंत्रिमण्डल बनाने हेतु आमंत्रित किया गया। यह दल विधान सभा में अल्पमत में था और अधिकांश बड़े-बड़े जमींदार और सरकारी उपाधि प्राप्त जीहजूर लोग ही सम्मलित थे। जिस दिन नवाब छतारी का मंत्रिमण्डल बना उसके विरोध में बरेली नगर में एक सार्वजनिक सभा लाखनगंज में आयोजित हुई। इस सभा को बरेली के विधान सभा के प्रतिनिधि ने संबोधित किया और सर्व सम्मति से एक प्रस्ताव पारित करके अल्पमत के इस मंत्रिमण्डल की निंदा की गई। इस समय बरेली के राष्ट्रीय कवि श्री किशनलाल काकित की रचनाओं की नगर में धूम थी जो लाखनगंज की अंग्रेजी शासन विरोधी सभाओं में पढ़ा करते थे। इस अवसर पर उन्होंने जो अपनी रचना सुनाई उसकी प्रथम पंक्ति इस प्रकार थी।

"निकम्मे हैं जो बनकर मुल्क के गद्दार बैठे हैं।
मुबारिक है फिदा होने को जो तैयार बैठे हैं।।"

सन् १९३६ ई० में बरेली नगर में छात्रों में भी अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई। अतः बरेली नगर के विभिन्न हाई स्कूलों और बरेली कालेज के राष्ट्रवादी छात्रों ने यंग स्टूडेन्टस एसोसिएशन के नाम से एक संस्था स्थापित की। इस संस्था के प्रथम अध्यक्ष श्री प्रताप चन्द्र आजाद निर्वाचित किये गये। १९३७ ई० में रूहेल खण्ड छात्र सम्मेलन को कुंअर दया शंकर इण्टर कालेज में सर वजीर हुसेन, अन्सार हरवानी आदि छात्र नेताओं ने संबोधित किया।

इस छात्र सम्मेलन से कलेक्टर एवं पुलिस कप्तान बौखला उठे। उन्होंने बरेली कालेज के प्रिन्सिपल श्री ए० सी० दत्त को आदेश दिया कि वह छात्र सम्मेलन में भाग लेने वाले छात्रों का नाम काट दें। एक दर्जन छात्रों को निकाल दिया गया। इनमें श्री प्रताप चन्द्र आजाद एवं श्री ओमप्रकाश प्रमुख थे।

१९३७ ई० में उत्तर प्रदेश में काँग्रेस का मंत्रि मण्डल बना। पं० गोविन्द बल्लभ पन्त के नेतृत्व में काँग्रेस मंत्रि-मण्डल ने शपथ ग्रहण की। इसके पश्चात काँग्रेस और मुस्लिम लीग में जो परस्पर सहयोग था वह समाप्त हो गया। मुस्लिम लीग ने लखनऊ में एक सम्मेलन आयोजित किया जिसमें मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान बनाने का प्रस्ताव पारित हुआ। समस्त देश में मुस्लिम लीग ने साम्प्रदायिकता का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। बरेली को मुस्लिम लीग ने अपने प्रचार का केन्द्र बनाया। अजीज अहमद खाँ मुस्लिम लीग के बरेली के एक मात्र नेता बन गये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१९३७ ई० के हैदराबाद सत्याग्रह में बरेली आर्य सामाज ने बड़ी संख्या में भाग लिया। इनमें डाक्टर लाखन सिंह एवं प्रेम शंकर समर के नाम प्रमुख हैं।

२६ जनवरी १९३८ ई० को बरेली कालेज में झण्डा आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रवादी छात्रों की मांग थी कि कालेज पर राष्ट्रीय झण्डा फहराया जाय। मुस्लिम लीग ने इसका विरोध किया।

सन् १९३९ में द्वितीय विश्व महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध में अंग्रेजी सरकार ने भारत की स्वीकृति के बिना ही अपनी ओर से भारत को इस युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दिया। इस घोषणा का भारत की जनता पर उलटा प्रभाव पड़ा। गाँधी जी ने इसका विरोध किया। फलतः काँग्रेसी मंत्रीमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया। बरेली नगर के विधायक एवं उत्तर प्रदेश में मुख्य मंत्री गोविन्द बल्लभ पन्त ने भी अपने मंत्रिमण्डल का त्याग पत्र दे दिया। सभी काँग्रेसी प्रान्तों में विधान का सभा भंग कर दी गई। और गवर्नर के हाथों में शासन की सीधी बाग डोर आ गई।

सन् १९४० ई० में रामगढ़ में मौलाना अब्दुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में सम्पन्न हुए काँग्रेस के अधिवेशन में महात्मा गाँधी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह की घोषणा की। बरेली के नेता आगरा निवासी मोहन लाल को प्रथम डिक्टेटर चुना गया। इस सत्याग्रह, में जनपद के सैकड़ों व्यक्तियों ने भाग लिया और अंग्रेजी शासन के विरुद्ध नारे लगाते हुए जेल गये। इस सत्याग्रह में श्री दरबारी लाल शर्मा, व्रजमोहन शास्त्री, पं० दीनानाथ, प्रताप चन्द्र आजाद, राममूर्ती, सरदार सन्त सिंह, नौरंगलाल ऐडवोकेट, लाखन सिंह, मौ० अब्दुल वाजिद, मु० माधोनारायण, पं० द्वारिका प्रसाद, नत्थू सिंह, दामोदर स्वरूप सेठ, चिरौजी लाल गुप्त, रघुनन्दन प्रसाद तैरमल, पूरनसिंह, रंगवहादुर भारतीय, शिवराज बहादुर, शिवशरण अग्रवाल, दुरीवसिंह, गुलाबराम द्विवेदी, राम शरण बाजपेयी, कन्हैयालाल कपूर, बाबूराम (चिठिया), बाबूराम मिश्र, धर्मदत्त तथा नगर के अनेक कार्यकर्त्ता सम्मलित हुए। इन्हें २ माह से २ वर्ष तक के कारावास से दंडित किया गया।

८ अगस्त १९४२ ई० को बम्बई में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का प्रस्ताव काँग्रेस कमेटी ने पास किया। ९ अगस्त १९४२ को बरेली जनपद में एक दर्जन काँग्रेसी नेता बंदी बनाकर जेल भेज दिये गये। साथ ही बरेली कालेज के अनेक छात्र भी पकड़ कर नजरबंद कर दिये गये। इसी समय बरेली कचहरी में किसी ने आग लगा दी जिसमें कचहरी का रिकार्ड जलकर नष्ट हो गया। आग लगाने के संदेह में राम स्वरूप सक्सेना को बंदी बनाया गया और उन्हें ४ वर्ष का कठोर कारावास दिया गया।

सन् १९४५ ई० में जब दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ और अंग्रेजों ने विजय प्राप्त की तो भारत में आई. एन. ए. पर सैनिक न्यायालय में शत्रु से मिल जाने का अभियोग लगाकर मुकदमा चलाना आरम्भ किया गया। इसी समय कर्नल शाहनवाज खाँ बरेली पधारे। सिटी इम्प्रूवमेंट पार्क में उनका ओजस्वी भाषण हुआ। बरेली कालेज के छात्रसंघ ने आजाद हिंद फौज के समर्थन में अपना समस्त धन भेजने का प्रस्ताव पारित किया। बरेली कालेज के प्रेसीडेण्ट, बोर्ड आफ कन्ट्रोल, नेदरसोल ने प्रधानाचार्य श्री मदनमोहन पर उस धन को आजाद हिन्द फौज को न भेजने का जोर डाला। अतः उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। नेदरसोल ने उसे स्वीकार कर लिया क्योंकि वह उनकी राष्ट्रवादी विचारधारा से पहले से ही नाराज था। बरेली कालेज के छात्रों ने हड़ताल कर दी।

१५ अगस्त १९४७ को मूसलाधार वर्षा के बीच स्वतन्त्रता दिवस मनाया नया। भारत विभाजन के पश्चात् लाखों लोग पाकिस्तान से भारत आये। १९४७ में भी बरेली मंडल का कमिश्नर नेदरसोल था। पंचायत राज्य एक्ट के द्वारा १६७१ गाँवसभाओं, १४४ न्याय पंचायतों की स्थापना की गई।

३० जनवरी १९४८ ई० को श्री आत्माराम गोविन्द खेर का भाषण मोतीपार्क में होने वाला था परन्तु महात्मा गान्धी के स्वर्गवास के कारण यह सभा शोकसभा में परिणत हो गई। दूसरे दिन नागरिकों ने एक मातमी जलूस रामधुन के साथ निकाला जो रामगंगा के किनारे चौबारी घाट पहुँचा। इस शोकातुर जलूस में हजारों की संख्या में स्त्री

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरुष सम्मिलित हुए । रामगंगा के तट पर पहुँचकर जनता द्वारा पूज्य बापू को श्रद्धांजलि अर्पित की गई । उनकी आत्मा की शान्ति हेतु प्रार्थना की गई ।

१९४८ ई० में जिलाबोर्ड का निर्वाचन हुआ, श्री दरबारीलाल शर्मा अध्यक्ष चुने गये । बरेली में श्री राधेश्याम कथावाचक की राधेश्याम रामायण तथा उनके धार्मिक नाटकों का प्रचार हुआ ।

चन्द्रशेखर शास्त्री ने क्रान्तिकारियों पर एक पुस्तक लिखी । संविधान सभा के लिए बरेली से श्री दामोदर स्वरूप सेठ सदस्य बनाये गये । २६ जनवरी १९५० को जलूस निकाल कर गणतन्त्र दिवस मनाया गया ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आजमगढ़ का राजनीतिक इतिहास

(१९३९ से १९५० तक)

देवी प्रसाद सिंह*

आजमगढ़ जनपद का क्षेत्र प्राचीन काल में जहाँ दुर्वासा, देवल व दत्तात्रेय जैसे ऋषियों को आकृष्ट कर उनकी चरण वन्दना कर पवित्र स्थली के रूप में विश्रुत था वहीं आधुनिक काल में यह सांस्कृतिक प्रेरणा का भी केन्द्र बना हुआ हैं। भैरव जी का स्थान, राजा नहुष की कोट, पवहारी बाबा का सागर, गोविंद साहब का तीर्थ स्थान तथा नागा बाबा, फकीर बाबा एवं देवरहवा बाबा के प्रसिद्ध आश्रम इसके प्रत्यक्ष प्रमाण कहे जा सकते हैं। संभवतः इन्हीं सन्त महात्माओं की प्रेरणा से इस भूखंड के निवासियों के अन्तःकरण में स्वातंत्र्य प्रेम तथा वीरोचित संघर्ष करने की भावनायें दृष्टिगत होती हैं। विवेच्य युग में सारा देश महात्मा गाँधी, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस, आचार्य नरेन्द्रदेव आदि राष्ट्र भक्तों के नेतृत्व में 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' का उद्घोष करते हुए सङ्घर्ष कर रहा था। आजमगढ़ जनपद भी इस स्वाधीनता-संघर्ष में राष्ट्र की मुख्य धारा से सदैव जुटा रहा तथा सम्भवतः अपने पड़ोसी जनपदों से आगे था। निम्नलिखित पक्तियों में १९३९ से १९५० के मध्य हुए स्वाधीनता आंदोलन में आजमगढ़ के योगदान को प्रकाशित ग्रन्थों तथा जीवित सेनानियों से साक्षात्कार के आधार पर रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है। इन ग्रंथों में सर्वाधिक सूचना श्रीफूलवदन सिंह के ग्रंथ से प्राप्त हुई है। इसलिए लेखक सर्वप्रथम उस अमर सेनानी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना कर्त्तव्य समझता है। यद्यपि लेखक ने गाँव गाँव का सर्वेक्षण कर यहाँ के मूलभूत इतिहास को उजागर करने की योजना पर कार्य प्रारम्भ कर दिया है जिससे अनेक नये तथ्य प्रकाश में आने की संभावना है; फिर भी वरिष्ठ सहयोगियों की सलाह से अब तक संकलित सामग्री को यहाँ क्रमवद्ध रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

धन संग्रह योजना

आजमगढ़ में स्वतंत्रता आंदोलन के सचालन के लिए १९३८ में पिपरीडीह ट्रेन डकैती काण्ड सम्पन्न हुआ। इस कार्यक्रम के नायक श्रीजयबहादुर सिंह थे तथा उनके सहयोगी थे श्रीजामीन अली (गोरखपुर) श्रीकृष्ण देव राय (आजमगढ़) श्री उदय नरायण दुबे (बलिया), श्रीकेशव शुक्ल तथा श्री जगन्नाथ प्रसाद (बलरामपुर), श्री तेजप्रताप सिंह (प्रतापगढ़) एवं श्रीवीरू पाक्ष आँगड़ी आदि। १५,००० रुपये एकत्र हुए। काण्ड के लगभग १ वर्ष के अन्दर सभी लोग गिरफ्तार हो गये। श्रीकृष्ण देव राय को छोड़कर सबको आठ-आठ वर्ष की सजा तथा ५००-५०० रूपये जुर्माना की सजा सुनाई गयी। मुखबिर बना कार्यकर्त्ता तेजा सिंह। किन्तु उसने श्रीकृष्ण देव राय कानाम नहीं बताया जिसके कारण वह बच गये थे। पिपरी डीह काण्ड की पैरवी में श्री मुक्तिनाथ उपाध्याय व श्री केशव पाण्डेय ने अपनी पढ़ाई छोड़कर नैपाल की तराई में धन एकत्र करके अत्यन्त महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय कार्य किया था। लंका पोस्ट आफिस काण्ड में फंस जाने के कारण श्री उपाध्याय बाद में फरार हो गये थे।

शचीन्द्र नाथ सान्याल का सम्पर्क आजमगढ़ से

क्रान्ति की ज्वाला से जनमन को अभिप्रकाशित करने वाले श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल तथा श्री योगेशचन्द्र चटर्जी से लखनऊ में श्री फूलबदन सिंह, श्री बृजनन्दन ब्रह्मचारी, श्री केशव शर्मा तथा श्री जगदीश शुक्ल आदि का सम्पर्क हो गया। कुछ लोग क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित भी हुए।

१९३९ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित मन्दिर में पूर्वांचल के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं का सम्मेलन हुआ जिसमें एच०

* प्रवक्ता, श्रीगाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मालटारी, आजमगढ़।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एस० आर०, अनुशीलन पार्टी तथा पंजाब की गदर पार्टी को मिलाकर आर० एस० पी० नामक नवीन संगठन की स्थापना हुई।

श्री मुक्तिनाथ उपाध्याय की गिरफ्तारी

१९४० के अन्त में श्री मुक्तिनाथ उपाध्याय गिरफ्तार कर लिए गये। विभिन्न काण्डों में १८ वर्ष की सजा सुनाई गई थी किन्तु १० वर्षों की सजा काटने के बाद वे १९४७ में मुक्त कर दिये गये थे। श्री उपाध्याय के साहस, अदम्य उत्साह तथा अद्भुत बुद्धि बल के कारण अनेक स्वाधीनता संग्राम सेनानी उनको 'आजमगढ़ का आजाद' कहते हुए गौरवानुभूति करते हैं।

जगदीशपुर का राष्ट्रीय स्वयं सेवक सेना शिविर

१९४० के ग्रीष्म ऋतु में सदर तहसील के जगदीशपुर गाँव के स्कूल पर ५० कार्यकर्त्ताओं का शिविर सम्पन्न हुआ। श्री परमेश्वर चौधरी द्वारा प्रदत्त ५० बीघे भूमि में मड़ई, तम्बू आदि लगा कर शिविर आयोजित किया गया था।

मंगल बीबीपुर गाँव का शिविर

घोसी तहसील के मङ्गलबीबीपुर के मदीना गाँव में श्री अर्जुन सिंह के नेतृत्व में लगभग १०० कार्यकर्त्ताओं का शिविर चला था।

नेता जी सुभाष चन्द्र बोस का आगमन

जगदीशपुर के शिविर से प्रोत्साहित होकर वहाँ पर जनपद का सातवाँ राजनीतिक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसका उद्घाटन नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने किया था। आचार्य नरेन्द्र देव सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिये आने वाले थे किन्तु सहसा अस्वस्थ हो जाने के कारण श्री मलखान सिंह विधायक ने अध्यक्षता की थी। नेता जी के स्वागतार्थ लगभग १ लाख लोग उपस्थित हुए थे।

१९४० का व्यक्तिगत सत्याग्रह

गाँधी जी द्वारा प्रेरित १९४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह में आजमगढ़ के लगभग १५० कार्यकर्त्ताओं ने भाग लिया था। इन्हीं कार्यकर्त्ताओं में से लगभग ३५ कार्यकर्त्ताओं ने १९४२ की जनक्रान्ति का संचालन किया था। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त का नाम इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आजाद हिन्द फौज और आजमगढ़

नेता जी सुभाष चन्द्र बोस द्वारा गठित आजाद हिन्द फौज में आजमगढ़ के अनेक व्यक्तियों ने भाग लिया था जिनमें श्री सूर्यनाथ पाण्डेय और श्री जयदेव प्रसाद यादव प्रमुख थे।

१९४२ की जनक्रान्ति और आजमगढ़

८ अगस्त १९४२ की कांग्रेस महासमिति की बम्बई बैठक में 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' तथा देशवासियों के लिए 'करो या मरो' का प्रस्ताव पारित होने के कारण ९ अगस्त को वहाँ उपस्थित कांग्रेसजनों की गिरफ्तारी के विरोध में आजमगढ़ के युवकों एवं छात्रों ने अथक परिश्रम करके १० अगस्त को हड़-ताल करायी। ९ अगस्त को ही जिला प्रशासन द्वारा कांग्रेस कार्यालय पर छापा मार कर वहाँ उपस्थित श्रीसंतोषानन्द को गिरफ्तार करना, कागजों-फाइलों को उठा ले जाना तथा कार्यालय की ताला-बन्दी की कार्यवाही की गई थी। उसी दिन श्रीसीताराम अष्ठाना एवं श्री सच्चिदानन्द पाण्डेय भी गिरफ्तार कर लिए गये थे।

काशी में अध्ययनरत छात्र-समूह का प्रस्थान

बम्बई से वापस आये श्री अलगू राय शास्त्री की प्रेरणा से काशी में अध्ययनरत आजमगढ़ के छात्रों की अनेक टोलियों ने क्रान्ति की चिनगारियों को प्रज्ज्वलित करने के ध्येय से आजमगढ़ की ओर प्रस्थान किया।

कांग्रेस कार्यालय की घेरेबन्दी के बाद सक्रिय कार्यकर्त्ताओं की गिरफ्तारी के क्रम में श्री कृष्ण माधव लाल, श्री उमा शंकर मिश्र एवं श्री लल्लन प्रसाद आदि गिरफ्तार किये थे। जिस समय श्री कृष्ण माधव लाल गिरफ्तार कर जेल ले जाये जा रहे थे, श्री रामधन राम, श्रीराम सम्भार सिंह और श्री धर्मवीर सिंह आदि विद्यार्थियों ने उनको पुलिस से छीन लिया किन्तु असमंजस की स्थिति में पुनः पुलिस को प्रदान कर दिया गया।

सम्पूर्ण जनपद में एक साथ विद्रोह की योजना

१२ अगस्त १९४२ को जिले में काशी विद्यापीठ के छात्र श्री चन्द्रशेखर अस्थाना द्वारा 'करो या मरो' आन्दोलन का संदेश देने वाले पत्रक पहुँचाये गये। सम्पूर्ण जिले में एक साथ विद्रोह की योजना बनाने के उद्देश्य से १२ अगस्त को रात्रि ९ बजे बैठक हुई। योजनानुसार लालगंज में श्री सूर्यवंश पुरी, घोसी में श्री अक्षयवर लाल शास्त्री तथा श्रीजगन्नाथ राय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को डाक पहुँचा कर कार्यारम्भ करने का दायित्व दिया गया। विस्फोटक पदार्थ एकत्र करने का दायित्व श्री फूलबदन सिंह ने लिया। सरकारी कामकाज को ठप करने के उद्देश्य से थानों पर कब्जा करना, संचार साधनों को नष्ट करना, रेल लाइनों को उखाड़ना, आदि कार्यक्रम बनाये गये।

श्रीमहादेव देसाई का निधन और आजमगढ़ में हड़ताल

महात्मा गाँधी के व्यक्तिगत सहायक श्री महादेव देसाई के निधन का समाचार मिलते ही १५-८-४२ को शोक में आजमगढ़ में हड़ताल हुई तथा विशाल मातमी जुलूस निकाला गया। पुलिस कप्तान सफल हड़ताल तथा विशाल प्रदर्शन से घबड़ा गया था तथा प्रदर्शनकारियों पर गोली-वर्षा के लिए आतुर था किन्तु ईश्वर की कृपा से सिटी मजिस्ट्रेट का आदेश नहीं प्राप्त कर सका। मातमी जुलूस के बाद प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी की चर्चा जोर पकड़ने लगी। फलस्वरूप १६-८-४२ को भी आजमगढ़ में सफल हड़ताल हुई। उस दिन जिलाधिकारी मधुवन में, एस० पी० अपनी कोठी में तथा डी-वाई० एस० पी० मऊ में थे किन्तु योग्य योजना के अभाव में जिले पर कब्जा नहीं किया जा सका।

पेट्रोल से भरे ड्रमों में आग

१६ अगस्त को सैनिक संरक्षण में रेल यातायात बन्द हो जाने के कारण ५ ड्रम पेट्रोल लेकर इलाहाबाद से गोरखपुर जाते हुए एक ट्रक आजमगढ़ में रुकी। डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त आदि के प्रयास से जब ड्राइवर सहित लारी के सभी लोग चौक स्थित सभा महराज के भोजनालय में भोजन करने चले गये, तो ड्रमों को नीचे ढकेलकर पेट्रोल बहा दिया गया। किसी ने बहते पेट्रोल में आग लगा दी किन्तु उसी समय पानी बरस जाने के कारण तेज लपटें शान्त हो गयीं और नगर जलने से बच गया।

आजमगढ़ में सशस्त्र सेना का आगमन

१७ अगस्त को लखनऊ से एक बमवर्षक वायुयान के साथ सशस्त्र सेना लखनऊ से आजमगढ़ आ गयी। सैनिकों ने पुलिस कप्तान के नेतृत्व में गश्त तेज कर दी तथा नगर में खाद्यान्नों की लूट करके कोतवाली लाना प्रारम्भ किया।

सेना के आतंक को निष्प्रभावी बनाने के लिए छात्र आन्दोलनकारियों ने अनेक काण्ड किये; जैसे सरकारी सुतली की गोदाम फूकना, टंकी फूकने का प्रयास, पुलिस कप्तान का कार्यालय फूकने का प्रयास, जेलर पर दिवाली के दिन बम फेंकने का प्रयास आदि स्मरणीय हैं। २६ जनवरी ४३ को स्वतन्त्रता दिवस मनाने के लिए सिविल सर्जन तथा जिलाधिकारी की कोठी पर बम फेका गया किन्तु एक ही बम फट पाया।

इसी प्रकार की गतिविधियाँ सम्पूर्ण जिले में चलीं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है।

नगर में सेना आ जाने के कारण प्रमुख कार्यकर्त्ताओं द्वारा गाँवों में फैलकर जनमत जागृत करने तथा जनता को संगठित कर पूर्व नियोजित कार्यक्रमों को सफल बनाने का प्रयास किया गया। श्रीफूलबदन सिंह ने नगर के समीपवर्ती गावों में कार्य प्रसार का प्रयत्न करते हुए सर्वप्रथम कन्धरापुर थाने पर कब्जा करने की योजना बनाई किन्तु वहाँ सेना पहुँच जाने के कारण उकड़ौरा पुल तोड़ने का कार्य प्रारम्भ किया गया। किन्तु तीन घण्टे तक परिश्रम करने पर भी पुल नहीं टूटा और फौज आ गई। उसी दिन सेना लेकर बलिया जाने वाली ट्रेन आजमगढ़ से आगे बढ़ी तो सिधारी से २ मील पूरब गोपालपुर व धनकपुर गाँवों के बीच रात्रि तीन बजे इंजन तथा आगे के दो तीन डिब्बे पटरी से उतर गये क्योंकि वहाँ रेलवे लाइन उखाड़ दी गयी थी।

१३ अगस्त को सिकरौरा में सभा आयोजित कर जनता को आन्दोलित करने के कारण डा० श्रीराम पांठक गिरफ्तार कर लिये गये। फलस्वरूप सरायमीर में हड़ताल हुई और पोस्ट आफिस को क्षति पहुँचाई गई और सरायमीर रेलवे स्टेशन से एक फलाँग दूर रेल की पटरी उखाड़ दी गयी जिसके कारण भोर में पैसेन्जर ट्रेन का इंजन उलट गया। कुछ दिन बाद सरायमीर और फूलपुर के बीच रेलवे लाइन उखाड़ दी गई। मीरपुर के पास रेलवे लाइन के तार काटे गये तथा फरिहा स्टेशन से ४ फलाँग पूरब रेलवे लाइन उखाड़ दी गई।

मधुवन थाना गोली काण्ड

१८ अगस्त को मधुवन थाने पर अधिकार करने के उद्देश्य से फतेहपुर, दुबारी, बीबीपुर, सूरजपुर तथा घोषी क्षेत्रों के कार्यकर्त्ता रास्ते में सरकारी कार्यालयों, डाकघरों, बीजगोदामों को फूंकते हुए मधुवन पहुँचे। जिलाधिकारी प्रातः काल से ही वहाँ उपस्थित थे। लगभग २५ हजार लोगों ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वहाँ पहुँचकर थानाध्यक्ष से थाने पर तिरङ्गा फहराने का अनुरोध किया किन्तु असफल होने पर भीड़ ने धावा बोल दिया। पुलिस मोर्चेबन्दी कर गोली वर्षा करने लगी। जनता बहुत देर तक अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करती रही किन्तु पुलिस की गोलियों से ढेर हो रहे अपने बलिदानी सहयोगियों की बढ़ती संख्या देखकर वह अधीर हो गयी। इस गोली काण्ड में कितने लोग मारे गये यह आज तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका।

२२ अगस्त को बीबीपुर डाकघर, तथा इसके पूर्व ही दोहरीघाट डाकखाने को नष्ट किया जा चुका था। दोहरीघाट क्षेत्र में माल गोदाम फूंकना, गोंठा ग्राम के पास ६ फर्लांग रेलवे लाइन उखाड़ना, मऊ-दोहरीघाट सड़क काटना, उल्लेखनीय घटनाये हैं। अमिला टाउन एरिया का कार्यालय फूंकना, ताड़ी की दुकान नष्ट करना तथा अमिला स्टेशन पर आग लगा कर अपने विद्रोह एवं विरोध की भावना का प्रदर्शन क्षेत्रीय जनता ने अपने प्रिय नेताओं के निर्देशन में किया था।

मधुवन व मऊ काण्डों से क्षुब्ध जनता ने १७ अगस्त को इन्दारा स्टेशन पर धावा बोल कर काफी नुकसान पहुँचाया था। स्पेशल ट्रेन से जिलाधिकारी सेना के साथ पहुँचे। यद्यपि प्रायः सभी लोग वापस जा चुके थे किन्तु मन्दगति से जाते हुए लोगों पर सेना ने गोली चलानी प्रारम्भ कर दी जिससे महुआर गाँव के श्री हरिहर सिंह की मृत्यु हो गयी तथा अनेक लोग घायल हो गये। इसी क्षेत्र में गोठा और घोसी के बीच कल्याणपुर के सामने रेलवे लाइन के तार काटे गये थे जिसके कारण उस समय प्रशासन बेचैन हो उठा था।

लालगंज तहसील

ठेकमा डाकखाना काण्ड

१६ अगस्त ४२ को प्रातः १० बजे डाकखाने पर धावा बोलकर वहाँ से रुपये आदि लेकर सभी-कागज-पत्रों को जला दिया गया। ताड़ी की दुकान एवं मवेशीखाना के कागजात नष्ट किये गये तथा सरकारी डाक बँगले पर पहुँच कर तिरंगा फहराया गया। १८ अगस्त को आजमगढ़-जौनपुर रोड पर सराय मोहन-बिजौली की पुलिया तोड़ी गयी। कालान्तर में २९ अगस्त को वहाँ सेना ने आतंक मचाया तथा लोगों से रुपये आदि वसूल किए। इस काण्ड में १५ लोगों को सज़ाएँ हुई थीं।

तरवा थाना काण्ड

१८ अगस्त ४२ को श्री तेजबहादुर सिंह आदि के नेतृत्व में तरवा थाने पर कब्जा करके वहाँ के सभी शस्त्रों पर कब्जा कर लिया गया और थाने में आग लगा दी गयी।

तरवा डाकखाना काण्ड

१८ अगस्त ४२ को थाने पर कब्जा और वहाँ अग्निकाण्ड करने के बाद जनसमूह तरवा डाकघर पहुँचा और वहाँ के सभी कागजात जला डाले। श्री तेजबहादुर सिंह व उनके अभिन्न साथी श्री बद्री सिंह, बासदेव सिंह एवं चन्द्रिका सिंह आदि लोगों ने किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति को क्षति पहुँचाये बिना थाना तथा डाकखाना काण्ड करके कुछ दिनों तक थाने के घोड़ों का उपयोग करके वहाँ का शासन चलाया।

कंकड़-दल का अभियान

उपर्युक्त घटनाओं के बाद सेना पूरे क्षेत्र में आतंक पैदाकर लोगों का दमन करने लगी तब वहाँ के नेताओं ने प्रतिरोध करने का निश्चय किया। एतदर्थ तय किया गया कि क्षेत्र की तमाम जनता कंकड़ लेकर थाने पर धावा बोले और थाने से निकलने के पूर्व सेना का काम तमाम करे। पकड़ी के वासदेव सिंह व तरवा के बद्री सिंह के नेतृत्व में ५०० लोग गाड़ियों में कंकड़ भर कर थाने की ओर बढ़े किन्तु कतिपय दलालों से इसकी सूचना थानाधिकारियों को मिल गयी। फलस्वरूप श्री वासदेव सिंह आदि को थाने पर बुलाया गया। पहले तो उन्होंने वार्ता करने से इनकार कर दिया किन्तु बाद में क्षेत्रीय लोगों के दबाव व थाने के निरंतर आमंत्रण के कारण वार्त्ता करने के लिए श्री वासदेव सिंह थाने गये। इस बीच पकड़ी के ५०० लोगों का कंकड़दल तरवा गाँव में प्रवेश कर गया था जिससे घबड़ा कर थानेदार झूठे आश्वासनों में फँसाकर कंकड़ दल को वापस करवाने में सफल हो गया। इस सम्पूर्ण कार्यक्रम की विफलता के लिए श्री जल भगत सिंह जवरसिया उत्तरदायी हैं क्योंकि उन्होंने थाने की रक्षा करने के लिए अपने आदमियों को लगाया था तथा स्वतंत्रता सेनानियों का मनोबल तोड़ने के लिए भी अथक प्रयास किया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेंहनगर क्षेत्र में काण्ड

१८ अगस्त ४२ को श्री सूर्यवंश पुरी के प्रयास से मेंहनगर कस्बे में श्री महादेव देसाई की मृत्यु के उपलक्ष्य में हड़ताल करायी गयी। जू० हा० स्कूल के छात्रों ने मेंहनगर पोस्ट-आफिस को जला दिया। १९ अगस्त को भी हड़ताल करायी गयी। २० अगस्त ४२ को महमदपुर जाने वाली डाक लूट ली गई। इसके बाद वहाँ सेना पहुँची और अपना दमन चक्र प्रारम्भ किया।

मेहनाजपुर

रामनगर-लालमऊ और जामूडीह के चौकीदारों की वर्दी-पेटी उतार कर फूँका गया २३ अगस्त को रामनगर-चिल्लूवार कुरहरा ग्राम में एक बड़ी सभा करके पूर्ण स्वाधीनता दिवस मनाया गया।

कम्हरिया (बासगाँव) डाकखाना काण्ड

१९ अगस्त को डाकखाना फूँका गया।

तहसील मुहम्मदाबाद-मऊ स्टेशन काण्ड

१४ अगस्त ११ बजे दिन हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों के संरक्षण में एक ट्रेन मऊ पहुँचने पर श्री हरि प्रसाद गुप्त व श्री राधे रमण अग्रवाल आदि कार्यकर्त्ता बाजार में हड़ताल कराकर स्टेशन पहुँचे किन्तु वहाँ लाठीचार्ज हो जाने के कारण जनता प्लेटफार्म पर न जा सकी।

मऊ नोटीफाइड एरिया अग्निकाण्ड

लाठी चार्ज के बाद जुलूस नोटीफाइड एरिया कार्यालय पहुँचा। वहाँ कर्मचारियों को अपना निजी सामान हटा लेने के बाद वहाँ आग लगा दी। इस घटना के बाद मऊ में कर्फ्यू लगा दिया गया।

मऊ थाना गोली काण्ड

कर्फ्यू की परवाह किए बिना दूसरे दिन जुलूस निकाल-कर थाने पर कब्जा करने के उद्देश्य से जनता आगे बढ़ी। बीच में पुलिस ने उसे वापस करना चाहा किन्तु असफल रही। फलस्वरूप गोली चलाने का आदेश हो गया जिससे कई लोगों की जानें गयीं। श्रीराधेरमण अग्रवाल की कपड़े की दुकान फूँक दी गयी जिसमें ७-८ लाख की क्षति हुई थी।

कांझा कोठी काण्ड

कांझा स्टेट पर एक अंग्रेज महिला का अधिकार था। यहाँ उसके अंग्रेज मैनेजर आदि शासन व्यवस्था संचालित करते थे। अन्य स्थानों पर हो रही विद्रोह की घटनाओं से प्रेरित होकर कांझा के लोगों ने भी अंग्रेजी स्टेट की पराधीनता से मुक्त होने का संकल्प लिया। जनता ने संगठित होकर स्टेट पर धावा बोल दिया तथा काफी क्षति पहुँचाई। बाद में चिरैया कोट के थानाध्यक्ष, स्टेट के कारिन्दे व फौज के लोगों क्षेत्र में लूट पाट व आतंक मचा दिया।

पिपरीडीह काण्ड

मऊ एवं कांझा काण्ड की सफलता के बाद २१ अगस्त ४२ को सिंहेल राजपूतों ने एक जुट होकर पिपरीडीह एवं मऊ स्टेशनों के बीच के ५० खम्भों को उखाड़ कर लेडुई नदी में गिरा दिया। तत्पश्चात् सब लोग पिपरीडीह स्टेशन पहुँचे किन्तु स्टेशन मास्टर एक दिन पूर्व ही मऊ चला गया था।

खुटहन स्टेशन काण्ड

नवम्बर ४२ को श्री रामादर्श, श्रीपुरी व राम विलास पाण्डेय आदि लोगों ने खुटहन स्टेशन के सरकारी कागजों को जलाया।

चिरैयाकोट क्षेत्र में विप्लवी कार्य

इस क्षेत्र में गोड़िसा बवकरा की पुलिया, सिरसा-रायपुर और सरसेना की पुलियायें तोड़ी गयी थी।

सगड़ी तहसील

पं० लक्ष्मीकान्त मिश्र, श्री महादेव सिह, श्री रमेस्सर राम, तिलक राज राम आदि के नेतृत्व में जोड़वावर क्षेत्र की हजारों जनता ने १८-८-४२ को महराजगंज थाने पर तिरंगा झंडा फहराया।[1] बाद में उमंग भरी जनता ने बाजार में गाँजा, ताड़ी की दुकानों को नष्ट करते हुए डाकखाने को फूँका। यद्यपि लगभग सम्पूर्ण जनता काफी दूर चली गयी थी फिर भी श्री लक्ष्मीकान्त मिश्र सहित १५ लोग गिरफ्तार हुए जिनपर थानेदार ने बहुत अत्याचार ढाया। मार का विरोध करने पर पं० लक्ष्मीकान्त मिश्र को इतना मारा गया

१. उस समय थानाध्यक्ष वहाँ उपस्थित नहीं थे। कर्मचारियों व जनता में कोई संघर्ष नहीं हुआ था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि उनका पेशाब ही चार दिनों तक बन्द हो गया था। २३-अगस्त ४२ को राजेसुल्तानपुर नामक गाँव में आयोजित सभा में लगभग ४००० जनता आयी थी। सभा को सम्बोधित करते समय थानेदार श्री अफरूल्लाह खां ने श्रीबसुधा सिंह (पोखर भिडा) को गिरफ्तार करना चाहा किन्तु जनता से संघर्ष हो गया और थानेदार तथा कामता सिंह नामक सिपाही जान से मार डाले गये तथा कानूनगो का हाथ पैर तोड़ दिया गया। बाद में दोनों लाशों को पहले चारपाई पर और बाद में ऊँट पर लादकर सरयू नदी के तट पर ले जाकर घड़ों में बालू भर कर फेंक नदी में दिया गया जिससे उन लाशों का पता कभी नहीं चल पाया। ११ नवम्बर ४२ को श्री माता भीख सिंह फूलपुर से आते समय गिरफ्तार कर लिए गये थे। पुलिस ने अन्य फरारियों का सुराग पाने के ध्येय से उनकी अतिशय पिटाई की। प्रारम्भ में तो उन्होंने काफी होला हवाली की किन्तु अन्ततः भयंकर मार से पीड़ित होकर सब सही-सही बता दिया जिससे बहुत से लोग गिरफ्तार हुए। सगड़ी तहसील में लाटघाट क्षेत्र की जनता १९ अगस्त को माफी गाँव के पास पुल तोड़ने के लिए जा डटी। अनेक पेड़ काटकर सड़क पर बिछा दिए गये थे किन्तु उसी समय दोहरीघाट जाते समय सेना वहाँ पहुँच गयी जिससे जनता वहां से हट गयी। फौजी लारी के जाने के बाद जोकहरा डाकखाना लूट लिया गया। २३ अगस्त को प्राइमरी पाठशाला पर वरडीहा के गोपाल सिंह की अध्यक्षता में सभा हुई जिसमें डॉ० पारस नाथ राय, श्री रामानन्द आदि के भाषण हुए। श्रीरामानन्द राय द्वारा प्रस्तुत तीन प्रस्ताव पारित किए गये।

आजमगढ़ से आनेवाली श्री अर्जुन सिंह की टोली ने सलूनपुर गाँव के डाकघर का तार काटा तथा आजमगढ़ के डाकघर को फूंका। इन काण्डों के कारण समूनपुर, खतीबपुर, आजमगढ़ बाजार तथा मेघई ग्रामवालों से क्रमशः ३००, ४००, ५०० तथा १५० रुपये जुर्माने के रूप में वसूल किये गये।

१९ अगस्त को ही आजमगढ़-फैजाबाद रोड पर मन्दुरी व कप्तानगंज के बीच की पुलिया तोड़ने का असफल प्रयास किया गया। २३ अगस्त को स्वाधीनता दिवस मनाने के लिए सियरहा गाँव में सभा हुई। श्री अर्जुन सिंह के नेतृत्व में सरैया के पास कयाड़ नदी का पुल तोड़ दिया गया। किन्तु इसी बीच एक गुप्तचर, मुक्तिनाथ दूबे, को सब योजना की जानकारी मिल गयी जिससे १ ट्रक सैनिकों के साथ सहायक कप्तान श्री कोमलसिंह ने वहाँ पहुँच कर पटवध के श्री बैजूराय को गिरफ्तार कर लिया। सेना आने का समाचार सुनते ही चारो ओर से जनता ने सेना के ट्रक को घेर लिया किन्तु कोमल सिंह के धोखे में आकर वह वापस जाने लगी। किन्तु इसी बीच सेना ने गोलीवर्षा प्रारम्भ कर दिया जिससे ८ व्यक्ति तथा दो पशु तत्काल मारे गये।

१० फरवरी ४३ को रात ८ बजे जिले के १७ फरारी स्वतन्त्रता सेनानी रौनापार थाना फूँकने तथा सगड़ी तहसील के बन्दोबस्ती कागजातों को फूँकने के उद्देश्य से पटवध से पैदल चले। बिलरियागंज पहुँचने पर आन्दोलन चलाने के लिए पैसा एकत्र करने के उद्देश्य से विन्देश्वरी कलवार का खुला घर देखकर उससे रुपये को माँग की किन्तु रुपया नहीं मिला उल्टे हल्ला हो जाने के कारण भीड़ उमड़ पड़ी। ये लोग भागे किन्तु अरहर के खेत में छिपे श्री केदारनाथ दीक्षित व श्री रामहर्ष सिंह पकड़ लिये गये। भीषण मार पड़ने पर उन लोगों ने सबका नाम व पता बता दिया जिससे भविष्य की सारी योजनाएँ खटाई में पड़ गईं।

इस तहसील में सर्व प्रथम शासन ने १० अगस्त ४२ को फूलपुर कस्बे के प्राचीन कर्मठ कार्यकर्त्ताओं सर्वश्री सन्त बक्श साहु तथा डॉ० अब्दुल रऊफ को गिरफ्तार किया। ११ अगस्त को अपने नेताओं को खुरासों रोड स्टेशन से विदा करके लौटने के बाद बाजार में अद्वितीय हड़ताल हुई। १३ अगस्त को फूलपुर व सरायमीर स्टेशनों के बीच अनेक स्थानों पर तार काटे गये तथा रेलवे लाइन उखाड़ी गयी। फूलपुर के दौलत लाल तथा सन्त वक्श साहु का मकान मिट्टी का तेल छिड़क-कर फूंक दिया गया था। ४ फरवरी ४३ को श्री तेजबहादुर सिंह के नेतृत्व में रहने वाला १५ व्यक्तियों का फरारीदल खुराशों स्कूल पर पहुँचकर प्रधानाचार्य श्री श्यामनारायण त्रिपाठी की कृपा से भोजनादि करके रात्रि ८ बजे खुराशों रोड स्टेशन के लिए रवाना हुआ। इस दल ने रात्रि ९ बजे स्टेशन पर चढ़ाई की। जब तक दल वहाँ उपस्थित रहा आतंक व्याप्त था किन्तु दल जब देहात की ओर जाने लगा तो पुलिस ने गोलियाँ चलाईं जिसका जबाब भी विप्लवी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दल ने गोलियों से दिया। बाद में इस काण्ड में प्रधानाचार्य श्री श्यामनारायण तिवारी सहित १२ लोगों की गिरफ्तारियाँ हुईं। इनमें एक इकबाली गवाह श्री साहब लाल भी थे। इन्होंने अपना बयान आगे चलकर बदल दिया था। बयान बदल देने के कारण इनको ८० वर्ष की कड़ी सजा मिली किन्तु अन्य लोग छोड़ दिये गये।

२१ अगस्त को दीदारगंज डाक घर लूटा गया था तथा दीदारगंज की पुलिस चौकी पर तिरंगा झण्डा फहराया गया था। इसी तहसील में आजमगढ़-फैजाबाद रोड पर बुदनपुर गाँव के पश्चिम केशवपुर का पुल तोड़ने का प्रयास किया गया। २३ अगस्त को डाक बंगले पर स्वाधीनता दिवस मनाने के लिए सभा करने हेतु हजारों की संख्या में जनता पहुँच रही थी किन्तु थानेदार ने सभा की तैयारी की पूर्व सूचना देकर सेना की एक टुकड़ी मंगा ली थी तथा उस क्षेत्र में धारा १४४ लगा दी गयी थी। प्रारम्भ में तो कमान्डर दुनी चन्द नामक सिख सरदार ने जनता को भाग जाने का आदेश दिया किन्तु जब जनता डटी रही तथा शान्ति पूर्वक सभा करने को अनुमति माँगने लगी तो हवाई फायर होने लगा। अधिकांश जनता तो भाग गयी थी किन्तु देवनाथ पाण्डेय वहीं शहीद हो गये तथा श्री देवराज पाण्डेय व श्री राजवन्त सिंह गोली खाकर घायल हो गये थे। इस केस में ११ लोगों को ९-९ महीने की सजायें हुई थीं।

१९ अगस्त ४२ को श्री महादेव सिंह आदि पुराने कार्यकर्त्ताओं ने कैथेपुर व कौड़िया की पुलिया तोड़ने का प्रयास किया। १७ अगस्त ४३ की रात्रि में अम्बारी व शाहगंज के बीच कई स्थानों पर रेलवे लाइन उखाड़ी गई तथा तार काटे गये। इन कार्यों में नौहरा ग्राम के लोगों ने बड़े उत्साह से कार्य किया। १९ अगस्त ४२ को ही आलमपुर-हाजीपुर ग्रामों के समीप रेलवे लाइन उखाड़कर तार काटे गये। उपर्युक्त दोनों काण्डों में श्री राम सुन्दर यादव, राम प्रताप यादव ने बहुत परिश्रम किया था। इस क्षेत्र में भी सेना व पुलिस ने अन्य स्थानों के समान दमन व लूटपाट किया। श्री मार्कण्डेय सिंह को गिरफ्तार करने पुलिस जब उनके मकान पर गयी तो वह उपस्थित नहीं थे। फलस्वरूप उनका मकान फूंक दिया गया। सिधारों के ठाकुर कुबेर सिंह की ससुराल से आयी लड़की के सारे जेवर व नकदी छीन लिया गया। बिलारी के श्री दिलदार राम गुप्त का मकान व गल्ला कुर्क कर लिया गया था जिसे मात्र १० रुपये श्री कतवारू सिंह ने लेकर उसे पुनः श्री गुप्त के परिवार वालों को वापस कर दिया था।

इसके बाद स्वाधीनता संग्राम में जनपद का प्रत्यक्ष रूप से योगदान नहीं रहा क्योंकि इस समय अधिकांश गतिविधियाँ राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रित हो गयी थीं। जैसे महात्मा जी का २१ दिन का उपवास, मो० जिन्ना की अलगाववादी नीतियाँ व वक्तव्य, लखनऊ का सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में सम्पन्न निर्दल सम्मेलन, मुस्लिम लीग की योजना व प्रेरणा से साम्प्रदायिक दंगे, आजाद हिन्द फौज के सेनानियों को फौजी अदालतों में आजीवन कारावास की सजायें सुनाना, ब्रिटेन में मजदूर पार्टी की सरकार बनना तथा २३-३-४६ को भारत मंत्री पेथिक लारेन्स की अध्यक्षता में मंत्री मिशन का भारत आना, शिमला सम्मेलन, २५-८-४६ को अन्तरिम सरकार की घोषणा आदि। २३-११-४६ को आचार्य कृपलानी की अध्यक्षता में मेरठ में विशेष अधिवेशन हुआ जिसमें सम्पूर्ण परिस्थितियों पर विचार हुआ। २०-२-४७ को ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने भारतीयों को सत्ता सौपने की घोषणा कर दी। १२-५-४७ को शिमला सम्मेलन में जिन्ना की जिद के कारण देश के विभाजन का निर्णय लिया गया। पं० जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में १४ सदस्यीय मंत्रिमण्डल का गठन होने के बाद पूर्व घोषणा के पहले ही १५ अगस्त १२ बजे रात्रि में सत्ता हस्तान्तरित कर अंग्रेज इंगलैण्ड के लिए प्रस्थान कर गये। इस प्रकार विभाजन की शर्त पर भारत भूमि स्वतंत्र हुई। अतः यह स्पष्ट है कि स्वाधीनता संग्राम में आजमगढ़ का अप्रतिम योगदान है। जनपद में स्वाधीनता संघर्ष से सम्बन्धित लगभग १५० घटनाओं में लगभग १५०० व्यक्ति गिरफ्तार किये गये। मुकदमों के दौरान पैरबियों के फलस्वरूप लगभग ५०० व्यक्ति तो छोड़ दिये गये थे किन्तु सही गलत करीब १००० लोगों को लम्बी सजायें दी गयी थी। सुप्रसिद्ध मधुबन थाना-काण्ड में १५ शहीदों, पचासों गोली से घायल व्यक्तियों के अतिरिक्त लगभग १०० लोगों को लम्बी सजायें हुई थीं। तरवा थाना-काण्ड में ८०० व्यक्तियों को, कांझा-कोठी काण्ड में ६५० व्यक्तियों को,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाराजगंज थाना-काण्ड में १५ व्यक्तियों को, जहाँगीर थाना काण्ड में २० व्यक्तियों को, मऊ नोटीफाइड एरिया काण्ड में २५ व्यक्तियों को आजीवन कारावास से लेकर छोटी-छोटी सजायें प्राप्त हुई थीं। इसी प्रकार दोहरी घाट, अमिला, इन्दारा, बीबीपुर, फतेहपुर, रामपुर, ढेकमा, मेंहनगर, दीदारगंज, खुरासों रोड, अम्बारी, अतरौलिया, बिलरियागंज, परवध, सरैया, सगड़ी, आजमगढ़, बरडीहा, खुटेहन, बड़ागांव, पिपरीडीह, मुहम्मदाबाद, रायपुर आदि स्थानों पर स्वतंत्रता-आन्दोलन से प्रेरित घटित घटनायें इस बात का प्रमाण हैं कि आजमगढ़ जनपद स्वाधीनता संग्राम में अग्रणी था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

षष्ट अनुभाग

सामान्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

DATE OF THE VEDIC KALPASŪTRAS

K. C. Varma*

The critical study of Sanskrit language and literature started by scholars like Sir William Jones, Sir Thomas Colebrooke, Davis etc., inevitably involved problems of chronology; and almost the first such text whose date was determined was the *Vedānga-Jyotisha*. From the astronomical data contained in the text, it was assigned to 1400-1200 B. C.[1] But the first comprehensive attempt to formulate Vedic chronology was made by Max Müller,[2] who based his computations on the '*ghost story*' narrated by Somadeva[3] and he acknowledged that it was a very 'slender' basis.[4] According to this story, the great Pāṇini, his vārttikākāra Vararuchi Kātyāyana, Aśvalāyana, and the latter's guru, Śaunaka were contemporaries of king Nanda.[5] Max Müller, in assigning them to the middle of the fourth century B. C. observed :[6]

"It will readily be seen how entirely hypothetical all these arguments are. If they possess any force it is this, that inspite of the conflicting statements of Brahmanical, Buddhist and European scholars, nothing has

---

* KB-32, Old Kavinagar, Ghaziabad-201002.

1. *Asiatic Res.* Vol. II, pp. 268, 393 (Reprinted., Vol. V, pp. 241, 295). Colebrooke, *Ibid*, Vol. VIII, p. 493 and *Misce. Essays*, Vol. I, p. 109, dated it 1391 B. C.
2. *History of Anc. Sansk. Lit.*, (HASL), 1959, pp. 249, 313 (Reprint; Chowkhamba Skt. Studies, Vol. XV, pp. 191, 217).
3. *Ibid.*, p. 217.
4. *Kathāsaritasāgara*, (Nirṇayasāgara Press, Bombay, 1930, pp. 8-10); *Ādistarangaḥ* 4, *Kathāpīṭhalambakaḥ* 1 :

अथ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत् । तत्रैकः पाणिनिर्नाम जड़बुद्धितरोऽभवत् ॥ २०
सशुश्रषापरिक्लिष्टः प्रेषितो वर्षभार्यया । अगच्छत्तपसे खिन्नो विद्याकामो हिमालयम् ॥ २१
तत्र तीव्रेण तपसा तोषितादिन्दुशेखरात् । सर्वविद्यामुखं तेन प्राप्तं व्याकरणंनवम् ॥ २२
ततच्यागत्य मामेव वादायाह्वयते स्मसः । प्रवृत्ते चावयोर्वादे प्रयाताः सप्तवासरः ॥ २३
अष्टमेऽह्नि मया तस्मिञ्जिते तत्समनन्तरम् । नभःस्थेन महाघोरो हुंकारः शंभुना कृतः ॥ २४
तेनप्रणष्टमैन्द्रं तदस्मव्याकरणं भुवि । जिताः पाणिनिनासर्वे मूर्खी भूता वयं पुनः ॥ २५
उपकोषाप्यथ प्रातश्चेटिकानुगता । गुरुणामनिवेद्यैव स राज्ञो नन्दस्य मन्दिरम् ॥ ७१
इति निश्चित्य नन्दस्य भूपते कटकं वयम् । अयोध्यास्थमगच्छाम त्रयः सब्रह्मचारिणः ॥ ९७
महामन्ती ह्यं स्वेच्छमचिरात्वां विनाशयेत् । पूर्वनन्दसुतम् कुर्याच्चन्द्रगुप्तं हि भूमिपम् ॥ ११६

5. Max Müller did not realize that Pāṇini (*Ashtādhyāyī*, IV, 3, 5-6) mentions Śaunaka as an ancient authority. Cf. Goldstucker, *Pāṇini*, (Chowkhamba Skt. Studies, Vol. XLVIII, 1965, p. 89, f.n. 91).
6. *HASL* (Chow. 1965), p. 217. Goldstücker, *Pāṇini*, pp. 87-89, and f.n. 91, states that Max Müller is not at all sure whether Pāṇini and Kātyāyana were contemporaries or the latter was somewhat junior.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

bcen brought forward as yet, that would render the date here assigned to Kātyāyana impossible. Nay more: if we place Kātyāyana in the second half of the fourth century, Aśvalāyana, the predecessor of Kātyāyana about 350 B. C., and Śaunaka the teacher of Aśvalāyana, about 400; and if then, considering the writers of Sūtras anterior to Śaunaka and posterior to Kātyāyana, we extend limits of the Sūtra period of literature from 600 to 200, we are still able to say, that there is no fact in history or literature that would interfere with such an arrangement. *As an experiment, therefore, though as no more than an experiment* we propose to fix the years 600 and 200 B. C. as the limits of that age, during which the Brahmanic literature was carried on in strange style of the Sūtras."

He endeavoured to buttress his chronology by examining the statements in the *Uṇādi-Sūtras* and other texts and concluded:[1]

"The test which has thus been applied to our chronological arrangement of the Sūtra literature in general, in the case of the *Uṇādi-Sūtras*, so far from invalidating, has rather strengthened our argument for placing the whole literature of the Sūtras, at least those which are combined with the Vedas, between the years 600 and 200 B. C."

It is remarkable that neither Max Müller nor his successors, who all uphold a date in the 4th century B. C. for Pāṇini, Kātyāyana, Āśvalāyana, etc. realized that absurd inferences can be drawan by showing that the Bhārata war occurred about 400 B. C. .and Pāṇini was the greatest block-head ever born.[2]

---

1. *HASL*, (Chow.), p. 217. Since the time of Max Müller, almost all, with a few exceptions, western scholars—e. g., A. B. Keith, *Hist. of Skt. Lit.*, 1928, pp. 424f. Renous, *L'Inde Classique*, Tome II, 1520; T. Burrow, *Sanskrit Language*, 1955, have, without assigning any evidence and also ignoring the arguments advanced by not only some European scholars but also eminent Indians like Sir R. G. Bhandarkar, S. K. Belvalkar, V. K. Rajwade, P. L. Bhargava, C. V. Vaidya,. and a whole host of others, have insisted on assigning the illustrious Pāṇini to the middle of the fourth century B. C. Keith places Kātyāyana about 250 B. C., but does not cite any evidence ! However, some western scholars, like Weber went even further and in his *Indische Studies*, Vol. I. pp. 141f. Vol. V, pp. 1ff and *Akademische Vorlesungen uber Indische Literaturheschichte*, pp. 200, 202, placed him in A. D. 140. (Cited from Goldstucker, *Pāṇiui*, 29). But some, a minority, of western scholars, e. g. J. Charpentier, *JRSA*, 1928 p. 345, H. Luders, *Sitz. Ber. Preuss. Akad. Wise*, 1919; *Philologica Indica*, p. 473; Liebich, *Pāṇini*, 1891, pp. 1-8, Keilhorn, *Nachr. Gött. Gess. Wise*, 1885, p. 186; P. Thieme, *Pāṇini and the Veda*, 1935, pp. 79-81; and, Goldstucker *Pāṇini*, date Pāṇini between 700 and 500 B. C.
2. Since Āśvalāyana was a pupil of Śaunaka, the latter a pupil of Vaiśampāyana, who in his turn was a pupil of Krishna Dvaipāyana Vyāsa—a contemporary of the Bhārata War—it follows that if the teacher pupil age interval be say, about 25 years, then three generations would cover 75 years. Since Aśvalāyana is a contemporary of Nanda dated about 360 B. C., the war would have to be dated not earlier than 360+75=435 B. C. Again, it has been shown by Goldstucker, *Pāṇini*, pp. 90-91,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

that Max Muller's thesis rests on extremely precarious base. Max Muller reasoned, "Suffice it for the present that, if Chandragupta was king in 315 B. C., Kātyāyana may be placed, according to our interpretation of Somadeva's story, in the second half of the fourth cedtury B. C. We may disregard the story of Somadeva, which actually makes Kātyāyana himself minister of Nanda, and thus would make him an old man at the time of Cahndragupta's accession to the throne. This is, according to its own showing, a mere episode in a *ghost story* (Goldstucker, p. 90, f.n. 93 wrote, "According to the southern Biddhists it was Chandrapupta, and not Nanda, whose corpse was reanimated. *Asiatic Researches*, Vol. XX, p. 167)', and had to be inserted in order to connect Kātyāyana's story with other fables of the *Kathāsaritasāgara. But there still remains this one fact, however slender it may appear, that as late as the twelfth century A. D., the popular tradition of the Brāhmaṇas connected the famous grammarians Kātyāyana and Pāṇini with that period of their history which immediately preceded the rise of Chandragupta and his Sūdra dynasty; and this, from an Enropean point of view, we must place in the second half of the fourth century B. C.*" (Italics are mine—KCV). Goldstucker (p. 91) continues: "Thus, the whole foundation of Muller's date rests on the authority of Somadeva, the author of 'an Ocean of (or rather, *for*) the River of Stories,' who narrated his tales in the twelthe century after Christ. Somadeva, I am satisfied, would not be a little surprised to learn that '*a European point of view*' raises a '*ghost story*' of his to the dignity of an historical document. Müller himself, as we see, says that it would be "*wrong*" to expect in a work of this kind "*historical or chronological facts.*" He is doubtful as to the date which might have been in Somadeva's mind when he speaks of King Nanda; he will '*disregard*' the fact that Kātyāyana becomes, in the tale quoted, a minister of Nanda. He admits that a story current in the middle of the twelfth century about Kātyāyana and Pāṇini is but a "*slender*" fact; *in short, he pulls dawn every stone of this historical fabric; and yet, becouse Nanda is mentioned in this amusing tale, he 'must' place Kātyāyana's life about* 350 *B. C.*" As regards the relationship between Pāṇini and Kātyāyana, Goldstucker observes (p. 132), "In proposing to himself to write Vārttikas on Pāṇini, Kātyāyana did not mean to justify and to defend the rules of Pāṇini, but to find faults with them; and whoever has gone through his work must avow that he has done so to his heart's content. He will have to admit that Kātyāyana has frequently failed in justice to Pāṇini, by twisting the words of the Sūtras into a sense which they need not have, or by upbraiding Pāṇini with failings he was not guilty of. On this score he is not unfrequently rebuked by Patanjali, who on such occasions severely rates him for his ungenerous treatment of Pāṇini and, as we have seen in an instance above (p. 52) proves to him that he himself is wanting in proficiency, not Pāṇini. Kātyāyana, in short, does not leave the impression of an admirer or friend of Pāṇini, but that of an antagonist often, too, of an unfair antagonist." Again (p. 134), Goldstucker states, "Now, if we take a summary view of the labours of Kātyāyana, we find that

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

II. It is also worthwhile inviting attention to the fact that many of these "critically trained" scholars frequently contradict themselves, according to requirements, e. g. A. B. Keith dealing with the problem of chronology of the Kalpa-sūtras observed about Āpstamba, "That the argument from language is of some weight is undeniable, but it does not carry Āpstamba beyond say 300 or 350 B. C."[1]; again, "In style and condensation of expression, Kātyāyana is certainly more developed than Āpstamba, and this argument helps to give him a date of the 3rd century B. C. and even probably the fourth century B. C. Garbe, with Bühler, indeed does not hesitate to assign Āpstamba to the

---

of the 3993 or 3992 Sūtras of Pāṇini, more than 1500 offered him the opportunity of showing his superior skill; that his criticisms called forth more than 4000 Vārttikas, which, at the lowest estimate, contain 10,000 special cases comprised in his remark." Goldstuker continues (p. 134), "Having arrived at this point, let us ask—How could India resound with the fame of a work which was imperfect as to contain at least 10,000 inaccuracies, omissions, and mistakes ? Suppose that there existed in our days a work of 4,000 paragraphs, every second or third of which not merely called an emendation, an addition, and corrections, in formal respects, but which, on the whole, compelled us to draw the conclusion that there were twice and a half times as many blunders in it as it contained matter to be relied upon—is it possible to assume that such a work could create a reputation for its author except one which no sensible man would be desirous of ?" P. Thieme also in his '*devastating review*', of T. Burrow's *Sanskrit Language*, published in *Language* (Linguistic Society of America), Vol. XXXI, No. 3, July-Sep., 1955, pp. 428—448) and republished in the *Jour. of Bihar Research Soc.*, (JBRS) Vol. LVIII, 1972, pp. 197-223 ((*citations are from the latter*—KCV) says (p. 198), "(i) Pāṇini's language is far more akin to Vedic prose than to that of classical literature. (ii) A considerable time must have passed between him and Kātyāyana. (iii) Patanjali is much later than Kātyāyana. Burrow is wrong when he asserts (p. 49) that Kātyāyan wrote his "Vārttika," at a date not long after the composition of the *Ashṭādhyāyī* itself." Keilhorn has shown (*Indian Antiquary*, Vol. XVI, 1887, p. 103) "that Kātyāyana was acqainted with the works of other scholars who, before him, had tried both to explain and to amend Pāṇini's grammar, and who had subjected the wording of the Sūtras to that critical examination which is so striking a feature of Kātyāyana's own Vārttikas. Certain it is, that he was not the first Vārttikakāra. This external evidence is corroborated by certain features of the Vārttikas : Kātyāyana is by no mean always sure of Pāṇini's meaning and occasionally he even fails to understand him (Thieme, *Pāṇini*, p. 130)." Thieme has also shown that there was no oral tradition between Pāṇini and Kātyāyana ! Considering the great strength of 'Indian oral tradition', it means that the difference between the two was of several centuries.

1. *Taittirīya Saṁhitā*, Introduction, p. xlv. Julius Eggling, *Sacred Books of the East* (SBE), ed. F. Max Müller, Vol. XII, p. xl.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

fifth century B. C.; but this seems to me to go beyond the necessities of the case."[1] Keith himself regards Kātyāyana to be earlier than Pāṇini and again Āpstamba earlier than the former".[2] Ram Gopal, noticing these statements, observes,[3] "It is important to note that Āpastamba's priority to Pāṇini refutes Prof. Keith's above quoted view that Āpstamba's date cannot go beyond 300 or 350 B. C. as the learned author observes elsewhere."[4]

III. Dr. Ram Gopal, in his *India of the Vedic Kalpa Sūtras* has made, perhaps, the most critical and detailed study of the problem of chronology, and his incisive analysis has enabled him to divide the Sūtras into four clases or groups :[5]

(i) "The *Aśv. D. S.*, the *Aśv. G. S.*, the *Lāt. Ś. S.*, the *Baudh. Ś. S.* and *Baudh. G.S.*, the *Baudh. D.S.*, the *Mānava Ś.S.*, the *Mānava G.S.*, the *Kauś. S.S.*, *Gautam D. S.*, and the *Gobhila G. S.*, form the earliest stratum of Sūtra literature."

(ii) "The second stratum of Sūtra literature is constituted by *Sāṅkh. Ś. S.*, *Sāṅkh. G. S.*, the *Bhāradwāja S. S.*, the *Bhāradwāja G. S.*, the *Āpstamba Ś. S.*, the *Āpstamba G.S.*, the *Āpstamba D. S.*, the *Kātyāyana Ś. S.* the *Pāraskara G. S.* and the *Katha. G. S.*, which are later than the Sūtras placed in group (i)."

(iii) "The *Drāhyāna Śrautasūtra*, the *Kh. G. S.*, the *Jaiminīyīa Ś. S.*, the *Jaiminīyīa G. S.*, the *Hiraṇyakeśi Ś. S.*, the *Hiraṇyakeśi G. S.*, the *Vaitāna Sūtra* and the *Vas. D.S.* (sūtra portion) form the third" stratum of sūtra literature and are later than the Sūtras enumerated in the first two groups.

(iv) "The *Var. Ś. S.*, the *Var. G. S.*, the *Vaikhānasa Ś. S.*, the *Vaikhānasa G. S.* the *Agni G. S.* and the *Vishṇu D. S.* are undoubtedly the latest Sūtras; and the date of their composition defi-

1. *Brāhmaṇas of the Ṛgveda*, Introduction, p. 49. Bühler, *SBE*, Vol. II, pp. xxii-xxiv, held, "It is more probable that Baudhāyana, and Bharadwāja as well as the latter and Āpstamba are separated by several intervening generations of teachers, who contented themselves with explaining the works of their predecessors. The distance in years between the first and the last of the three Sūtrakāras, therefore, must be measured rather by centuries than decaded."
2. *Taittirīya Saṁhitā*, Introduction, p. clxxii, note 4.
3. *India of the Vedic Kalpa Sūtras*, p. 75.
4. *Ibid.*, p. 75. "In regard to relative chronology of Āpstamba, it may be noted here that, in addition to the evidence adduced from Āpstamba's language, and from the mention of Śvetaketu as an avara, the occurrence of Āpstamba's name in the Bidadi Gaṇapātha of Pāṇini (IV. 1. 104) lends some support to the view that Āpstamba is earlier than Pāṇini." For the date of Pāṇini, see my paper "*Pāṇini*" *V. V. R. I. Res. Journal*, Sadhu-Ashrma, Hoshiarpur Dist. (Punjab), Vol. XX, 1982, pp. 26-57., where new references to the findings of other scholars are given. Also Udayavir Shastri, "*Pāṇini-Kāla Charchā*", *TAHR*, Vol. xxxiii, pp. 147-158; S. B. Roy, *IBLD*, pp. 117-144, *Pāṇini and Kātyāyana.*"
5. *India of the Vedic Kalpa Sūtras*, pp. 84 ff.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

nitely falls outside that period which is generally known as the Sūtra period of Vedic literature.

Therefore, the following discussion relating to the upper and lower limits of Sūtra period has little relation to the chronology of the Sūtras placed in group (iv). All the Sūtras belonging to this group seem to be later than the beginning of the Christian era. However, the composition of the Sūtras belonging to the first three groups date from an earlier period.

IV. Ram Gopal's analysis shows the tremendous gulf between the Sūtras, e. g. "The earlier Gṛihyasūtras, such as the *Āp. G. S.* the *Baudh. G. S.*, and the *Mānava G. S.* prescribe immolation of a cow at the *Śūlagava*, while the later Gṛihyasūtras, such as the *Āp. G. S*,, and the *Hiraṇayakeśi G. S.*, lay down that the *Śūlagava* should be performed by sacrificing a mess of cooked food (*Sthālīpāka*, *vide* Chp. XIX). A good many instances of this kind can be cited to demonstrate the differences between the earlier and the later Sūtras. As the period of a few decades is utterly inadequate to account for such important differences between the earlier and the later Sūtras, the probability suggests itself that the period intervening between the earlier and the later Sūtras extends over many centuries. In other words, the period of the Sūtras seems to cover centuries rather than decades." Ram Gopal continues. "Now we are confronted with the difficult task of fixing the upper and lower limits of the Sūtra period. According to the foregoing discussion, the relative chronology of individual Sūtras most of them listed in group (ii) are regarded as earlier than Pāṇini; and consequently all the Sūtras falling in group (i) must be held pre-Pāṇinian."

V. Dr. Ram Gopal had, therefore, to determine the date of Pāṇini, and as one of the latest scholars who attempted to date Pāṇini is the late V. S. Agarwala,[1] Ram Gopal, has examined the latter's arguments very criticalty and shown their fallacy and, comes to the conclusion that Pāṇini is to be dated not about 450 B. C., with Agarwala, but 600-550 B. C.[2] He then shows that a minimum period of three centuries is required between the first and the third group of Sūtras and these limits are 800-500 B. C.[3]

VI. Dr. Ram Gopal has, however, also stated that the statement in *Baudhāyana Śrauta Sūtra* XXVI, 29 will push the date back to 1300-1200 B. C. The validity of this assertion on examination will be shown below. The statements in the texts are :

(A) उभेकाष्ठे अभियजेत् । माघमासेधनिष्ठाभिरुत्त-रेणैतिभानुमान् अर्घाश्लेस्य श्रावणस्य दक्षिणेनोपनिवर्तत् ॥ *Baudh. Śr. Sūtra*, XXVI, 29.

अथातो नक्षत्रेष्टीं॰र्याख्यास्यामोऽग्निर्वा अकामयता-न्नादो देवानां स्यामिति त ब्राह्मणेन व्याख्याताः साया वैशाख्याः पौर्णमास्याः पुरस्तादमावास्या भवति स सकृत्-संवत्सरस्यापभरणीभिः संपद्यते तस्यामारभेतेति ॥ *Bavdh. Śr. Sūtra*, XXXIII, 3-4.

तद् [तत्र देवयज्ञे] एतां प्राचीनवंशां शालां मापयति; कृत्तिकाः खल्विमाः प्राचीं दिशं न परिजहति । तासां संदर्शनेनमापयेदित्यतदेकम् । श्राणसंदर्शनेन मापयेदित्ये-तदेकम् । चित्रास्वात्योरन्तरेणेत्येतद् अपरम् ॥ *Baudh. Śr. Sūtra*, XXV, 5.

1. *India as Known to Pāṇini*, 1963, pp. 458-478.
2. Ram Gopal, *Op. cit.*, p. 88.
3. *Ibid.*, p. 88.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रियानुष्टं महासेनं देवसेनापतिं कृतम् ।
सप्तर्षिपत्न्यः षडदेव्यस्तत्सकाशमथागमन् ॥१

× × × ×

अभिजीत्स्पर्धमाना तु रोहिण्या कन्यसी स्वसा ।
इच्छन्ती ज्येष्ठतां देवीं तपस्तसुं वनं गता ॥८

तत्र मूढोऽस्मिभद्रं ते नक्षत्रं गगनाच्चयुतम् ।
कालंत्विमं परं स्कन्द ब्रह्मया सह चिन्तय ॥९

धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः ।
रोहिण्याद्योऽभवत्पूर्वमेवं संख्या समाभवत् ॥१०

एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः ।
नक्षचंशकटाकारं भाति तद्वह्निदैवतम् ॥११

(B) *Mahābhārata* (Crt. Ed.), Vanaparvan, 3.219.3 (Vol. IV, pp. 777-778)

स्वराक्रमेते सोमार्कौ यथा साकं सवासवौ ।
स्थानदादियुगं माघस्तपश्शुक्लोऽयनं ह्युद्रक ॥६
प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्य्याचन्द्रमसावुदक् ।
सार्पार्द्धेदक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयो सदा ॥—७

(C) *Vedānga-Jyotisha.*

अर्वेन्दुयोगषटके वैधृतमुक्तं दशार्क्षसहितेषु ।
यदि चक्रो व्यतीपातो वेलामृग्या गतैर्भागैः ॥२०
आश्लेषार्धादासीद्यदा निवृत्तिः किलोषणकिरणस्य ।
युक्तमयनं तदासीत् साम्प्रतमयनं पुर्नवसुतः ॥२१
विपरीतायनभागो यदार्ककाष्ठांशशिरविक्षेपः ।
भवति तदा व्यतीपातोदिनकृच्छ्रशियोगः चक्रार्धे ॥२०

(D) *Pañca-Siddhāntikā*, Ch. III.

The statements in the *Vedāṅga-Jyotisha*, had beed noticed by western scholars almost two centuries ago.[1] Later on, G. Thibaut, Sudhakara Dwivedi, Whitney, Burgess, Weber, Max Muller, Dixit, Lokmānya Tilak, Jacobi and many others also considered these statements and arrived at dates between 1450-1180 B. C.

1. Sir William Jones had a copy of the manuscript of Bhaṭṭopala's Commentary on *Parāśara Saṁhitā*, which latter was *svarantika* (i. e. accented like the Vedic texts, and hence had to belong to the Vedic period, though late, and he cited Bhāṭṭopala, who states, that by 'former Śāstras' are meant the book of Parāśāra and other munis"). Followring this, Jones, cited from the *Parāśara Samahitā* : "*Śravishṭhādyāta Paushanārdhaṁta charāḥ Śiśirāḥ; vasantāḥ Paushnārdhāt Rohiṇyāntam....*"(*Asiatic Researches*, Vol. II, pp. 391-393 (Reprint ed., 1979, Vol. II p. 305). Captain Francis Wilford, *Asiatic Researches* (Reprint), Vol. V, pp. 241-295, states (p. 288) that Davis insisted that the date is not 1181 B. C., but 1391 B. C. Sir Thomas Colebrooke, the greatest of them all, calculated the date to be 1391 B. C. (*Misce. Essays*, Vol. I, p. 109,201 and *Asiatic Researchs*, Vol, VIII, p. 493 ; Reprint Vol. VII, p. 283). E. Burgess *JAOS*, Vol. VI. 1864, p. 146) came to 1184 B. C. and repeated the same figure, in his reply to Whitney etc., *JAOS*, Vol. VIII, 1966, pp. 311-317. P. C. Sen Gupta, *Anc. Ind. Chronology* (Cal. Uni., 1947), pp. 188-189, computed the date to be 1428 B. C. The difference is due to the selection of the first point of nakshatra *Dhanishṭhā* (Regulus), as it is not known which point was selected by the author of the *Jyotisha.* S. B. Roy, *Ancient India*, pp. 46 ff (20–B Sujan Singh Park, New Delhi), basing his computation on the "*junction tithi*" of the months of *Pausha* and *Māgha*, which is not only easier but also less liable to error, arrived at 1270 B. C. S. B. Dixit, *Bhāratiya Jyotisha*, Hindi; Trs. pp. 123-124, has advanced strong reasons to date it 1410 B. C. H. Jacobi also accepted 1400 B. C. (*Indian Antiquary*, Vol. XXIII, 1894, pp. 154-159, "*Date of the Ṛigveda*").

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

VII. The statement in the *Baudhāyana Śr. Sūtra*, XXVI, 29, simply means that when the sun reaches the nakshatra *Dhanishṭhā* (Vedic *Śravishṭhā*; modern *Delphinis*,) in the month of Māgha, it turns north, i. e. the *uttarāyaṇa* commences; when it turns south, in the nakshatra *Aślesha* (modern *Hydrae*), it is in the month of *Śrāvaṇa*. These are the two limits of the north-south motions of the Sun. The computation is :[1]

Longitude of *Dhanishṭhā* = 316°; Longitude of Winter-solstice (i e. beginning of *Uttarāyaṇa*) in 1970 = 270° : Hence, precession of equinoxes = 46°. As the rate of precession is one degree in 27 years, the period would be 3,312 years, i.e. 3312 - 1970 = 1342 B.C. Dr. Gorakh Prasad also has shown from *Baudhāyana Śr. Sūtra*, XXV, 5, that the date is 1330 ± 100 B. C.[2] Better results are however obtainable from *Baudhāyana Śr. Sūtra*, XXVIII, 3-4; and S. Roy demonstres :[3]

"Now the rule for performing the *Nakshatra-ishṭi* sacrifice : "Agni wished, "I would be the partaker of food for the gods." This has been set forth in the *Brāhmaṇas* (*Taittirīya Brāhmaṇa*, III, 1. 4). The *pūrṇimā* which occured near the nakshatra *Vishākhā*; (modern *Librae*) has its preceding *amāvāsyā* in the *Sakṛita-saṁvatsara*; this new moon or *amāvāsyā* is the day for starting the sacrifice." Roy observes : "*Nakshatra-ihsṭi* is the sacrifice or festival of the astronomers (i. e. *nakshatra-darśas*—literally *star-gazers*). *Sakṛita-saṁvatsara* is the perfect year; *sama*-perfect, *vatsara*-year), i. e. a year in which the lunar and the solar (tropical) years are brought into correspondence by the addition of 11 days or a fraction more, i. e. intercalated. The instruction is to begin the sacrifice (in this case, the yearly cycle) at the *Bharaṇi-amāvāsyā* (new moon in the constellation *Muscae*) and the vernal equinox. Instead of beginning with autumnal equinox at *Kṛittikā* (modern *Pleiades*), the new system begins at the vernal equinox at *Bharaṇi*, as a thousand years had elapsed since the vernal equinox at (the nakshatra *Kṛittikā-Pleiades*), causing a precession of the seasons of fifteen days, or so. Hence the epoch would be : *Event* = Vernal equinox at *Bharaṇi*. Astronomical indication = the Sun, and the Moon together at *Bharaṇi* (or *Apharaṇi*), whose longitude in the base year 1970 = 46.47° degrees. As the longitude of the vernal equinox in 1970 = 0° degree, the amount of precession is = 46.47° degrees. The elapsed time, therefore, is 3,346 years i. e. 3,346 - 1970 = 1376 ± 72 years B. C.

Thus all the three statements, which, *it may be noted are in present tense*, give a date for the *Baudhāyana Śr. Sūtra*, between 1476 - 1276 B. C. In other words, the date is about 1400 B. C. *The texts do not say that it used to happen in the past.*

VIII The date of the statement in the *Vedāṅga-Jyotisha* (C) may also be similarly computed. The Indian Calendar Cemmittee headed by the illuitrious M. N. Saha, one of the greatest names in Astro-Physics, in

1. *Date of the Bhārata Battle* (S. B. Roy, 20-B, Sujan Singh Park, New Delhi-110003. Cornwallis Road), pp. 66-67.
2. *Journal of the Royal Asiatic Society*, (*JRAS*), 1936, pp. 417-421; *Bhāratīya Jyotisha Kā Itihāsa* (Prakashan Bureau, U. P. Govt., Lucknow, : Hindi Parāmarsha Samiti Granthamālā No. 1, 1956). pp. 50-51, 53-55, *Jour. of the Bihar and Orissa Research Society*, (*JBORS*), Vol. XXI, 1935, pp. 122-130.
3. Roy, *Date of the Bhārata Battle*, pp. 68-69.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

its Report, of 1955, pp. 239, also came to the conclusion that the *Vedāṅga-Jyotisha* was composed in the fourteenth century B. C. or there abouts :

"*Vdānga- Jyotihsa*, 6-7 : The winter-solstice took place in the nakshatra *Śravishṭhā* (later called *Dhanishṭhā*; Constellation *Delphinis*). This is the 21st nakshatra in the *Kṛittikādi* system and 23rd in the *Aśvinyādi* system. Its component stars and their longitudes in the base year 1950 were :

Alpha Delphinis, Longitude = 316° 41 :
Latitude = +33° 02′

Beta Delphinis, Longitude = 315° 39′ :
Latitude = +31° 55′

Gama Delphinis, Longituda = 318° 40′ :
Latitude = +32° 41'

Delta Delphinis, Longitude = 318° 35′ :
Latitude = +31° 57′

The longitude of the nakshtra *Dhanishṭhā* (i. e. the constellation) in the time of the Vedāṅgas was 270° degrees. Hence, there had been a precession of equinoxes of 316° 41′—270° = 46° 41′. If Alpha Delphinis be used as the *Yogatārā* (junction star), the date, at 72 years per degree of precession, would be 3,350 years B. P. i. e. 1400 B. C. If 'Beta Delphinis be used as the *Yogatārā*, the date would be 1340 B. C.

IX. S. B. Roy has also studied the problem, using, not the 'initial point' of the nakshatra *Dhanishṭhā*, but an easier and less liable to error, method of junction tithi of the months of *Pausha* and *Māgha*, mentioned in the text and shows:[1]

"It may be pointed out that many riddles would be solved if we posit two sets of observations—one set made in 1424 B. C. at Kuru (i. e. Kurukshetra) and the other set made in 1191 B. C. at Videha. This assumption, one way or the other, would define the initial point of *Dhanishṭhā* as shown below : "The initial point of *Dhanishṭhā* (constituted as division of the sky, measuring 13° 20′) is not known. Different modern authorities have, therefore, arrived at different dates for the observations of the *Vedāṅga-Jyottisha* as follows :—(a) Colebrooke, Davis and Sir William Jones 1391B.C.; (b) Our computation, 1270 B. C ; (c) Bentlay, Spratt etc., 1131 B. C.; (d) M. N. Saha, P. C. Sen Gupta, Shankara Balkrishna Dixit, 1450 B. C. Our computation not only avoids the extremes, but it does not depend upon the initial point of *Dhanishṭhā* (which is not known for certain); it depends upon the junction tithi of the months of *Pausha* and *Māgha* i. e., upon Viśvāmitra's method. *Fixation of a tithi is always very much easier and more certain than fixing an invisible point in the ecliptic.* One can work backwards to find the extreme limits assumed by the above workers. With 1424 B. C., the time lapse in 3,394 years i. e. 47°; with 1191 B. C., the lapse is 3,161 years, i. e. 44°. Thus, the initial point of *Dhanishṭhā* would be 317° according to Colebrooke and 314° according to Bentley. Astronomers Varāhamihira and Āryabhaṭa also faced the same problem. At their time (c. 500 A. D.), the winter solstice took place at 290°. Hence they arrived at two different rates of precession, depending upon whether the total amount of shift was taken at 24° or 27° degrees. Varāhā adopted 27° and arrived at the rate of precession of 54′ (seconds) per year. There

1. *Ancient India*, 1975, pp. 46-47. The book can be had from the author, at 20-B Sujan Singh Park, Cornwallis Road, New Delhi.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

are reasons to believe not only that Āryabhaṭa took the correct amount of 24° degrees, but also that he knew Viśvāmitra's rate of 72 *parivatsaras* per *dyu* (which is precisely equal to 1° degree per 72 years.) According to our datum of 1270 B. C., the initial point (of *Dhanishṭhā*) comes to 315.88°. As the longitude of Beta Delphinis measures 315°, we think that Lagadha took this very star to be the initial point of the sphere." Tarkeshwara Bhattacharya has also discussed the point dealing with the selection of Beta Delphinis, by the *Sūrya-Siddhānta*, and justifies it.[1]

X. The statements in the *Mahābhārata* (group B) and the *Pañchasiddhāntika* also lead to the same date, i.e. in the fourteenth century; as shown by T. Bhattacharya :[2]

(a) The Mahābhārata Statement, when divested of allegory, means that the people were accustomed to associate the vernal equinox with the nakshatra *Kṛittikā*. When the vernal equinox crossed the first point of *Kṛittikā* and shifted backwards into the nakshatra *Bharaṇi*, they wanted the *Kṛittikā* association to continue. This was accomplished by dividing the ecliptic into 28 instead of 27 nakshatras, by including *Abhijit* (Vega)[3] thereby changing the entire configuration and giving an extension of 3.1/3rd of a degree i. e. 242 years to the association of the vernal equinox with *Kṛittikā*. In order to avoid confusion between the two systems, the first point of *Dhanishṭhā* was kept identical in both. In other words, the longitude of the first point of *Kṛittikā* became identical with the end of the third quarter of the nakshatra *Bharaṇi*. Bhattacharya then shows that the effect of this change on the nakshatra *Rohiṇī* (i. e. *Jyeshṭhā-Rohiṇī*; modern Antares) was that it shifted towards the east by three-quarters of a nakshatra and that is why it is stated in verse 10, रोहिणी ह्यभवत् पूर्व्यं. He then shows that this extended association of vernal equinox with the *Kṛittikās*, finally ended in 1347 B. C. :

Longi. of the First point of *Dhaniṣṭhā*........ 295° 29′ (499 A. D.)

Longu. of the First point of *Dhanishṭhā* from equinox at First point of *Kṛittikā* under the new (28 nakshatra) system....... 270° 0′

Precession ....25° 29′

With the precessional rate of 49″. 739, the interval = (25.29)/(49.739) = 1,845 years. Thus the date when the vernal equinox finally crossed the first point of *Kṛittikā* (under the new system) ....499–1845 = 1346 A. D. i. e. 1347 B. C.

(b) Bhattacharya, utilizing the data in the *Pañcha-Siddhāntikā*, 20, 21, 22 and the *Vedāṅga Jyotisha*, 6, determined the exact data for the institution of the *Dhanishṭhādi* reckoning.[4] Citing G. Thibaut's translation of *Pañchasiddhāntika* 21,—he says. "When the northern solstice was at the middle of *Āśleshā* (Hydrae), the solstice was then correct. Now, (i. e. at the time of the author's statement) it was at *Punarvasu* (Pollux)" he says; but this cannot be the view of Varāhamihira, as he lived in 505-585 A. D., while the longitude of the solestice at *Punarvasu* was 92° 24′, and Varāhamihira was giving an account of the *Pauliśa*-

1. *JGRI*, Vol. VIII. 1950, pp. 56-58.
2. *Ibid.*, pp. 36-42.
3. *Ibid.*, "Date of the Bhārata War", pp. 39-42.
4. *JGRI.*, Vol. XI-XII, 1953-55, pp. 25 ff.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Siddhānta or its commentator Lāṭadeva. Let the author of the statement be designated L. With the date in the verses 20 and 21, the data of the epoch is :

"These three verses of the *Pañchasiddhāntika*, Ch. III, show that the initial point of the equinox was at 1353 B. C. The *Yoga-vaidhriti* occurred when the total of longitudes of the Sun and the Moon (i. e. *S* and *M*) was 360° degrees or 0° degree. The *Yoga-vyatipāta* occurred when this total was 180° degrees. Now 360° degrees = 27 nakshatras and 180° degrees = 13.5 nakshatras. This was possible provided the longitudes were taken with reference to the initial point in 1353 B. C. But according to L, if the longitudes were taken from his time (given by the longitude 92° 24′ i. e. 337 A. D.), the precession of equinoxes (P) has to be added to the longitude referred to the initial point of 1353 B. C., and the resulting longitudes should then be used for obtaining the correct *Yoga-vaidhṛiti* and the *Yoga-vyatipāta*. Thus :

For *Yoga - Vaidhṛiti* : P+S+P+M+10N (i. e. Nakshatras) = 13° 20′

But S+M=O. Hence, 2P+10N=13.5 Nakshatras, or 2P - 3.5N=46° 40′

For *Yogavyatipāta* : P+S+P+M - 10N+27N (i. e., 360° degrees). S+M=13.5N.

Thus 2P = 27N - 10N - 3.5N=46° 40′.

Hence, in either case P=23° 20′.

The conclusion, therefore, is that the author '*L*' had assumed the greatest declination (परमापक्रम) of the sun to be 23° 20′ and there had been a precession of equinoxes of 23° 20′ from the year 1353 B. C. to the time of author (92.24′ = 337 A. D.). He then finds the probable first point of the nakshatra *Dhanishṭhā* (*Śravishṭhā* i. e. Delphini) and uses *Vedāṅga-Jyotisha* 6,7, and *Pañchasiddhāntikā* 21,—

Longitude of *Punarvasu* (Pollux : Star Beta Geminorum) with reference to the equinox at 499 A. D.	- 92° 24′	(429 A.D.)
Add precession of equinoxes	+ 23° 20′	
Position of the middle of the nakshatra Asleshā (Hydrae)	= 115° 44′	(499 A.D.)
Add 180° degrees	+ 180° 00′	
Position of Winter Solstice	= 295° 44′	(499A D.)
Deduct 270°	- 270° 00′	
Position of the equinox at the probable epoch	= 25° 44′	(499 A.D.)

This interval between the probable epoch and A. D. 499, at 49″ 726 per year = 1,863 years. If the year of the epoch be Y, then 499 - Y = 1,863; or Y = 499 - 1863 = - 1364 A. D. i. e. 1365 B. C. But this cannot be the year, when the winter solstice was at the first point of *Dhanishṭhā*, since the *Vedāṅga-Jyotisha* 6, lays down that there should be an amāvāsyā on winter solstice day.[1] The nearest

1. Bhattacharya, *Ibid*, pp. 29-30, further confirms the computations above. The longitude of the Sun on winter solstice day, mean noon, at Kurukshetra, with reference to the equinox of 1353 B. C. = 270° 0′. Precession from 1353 B. C. to 499 A. D., at 49″. 74 per annum = 25° 34′. Hence, the longitude of the first point of *Dhanishṭhā*—with ref. to 499 A. D. - 295° 34′. Thus the longitude of star *Jyeshṭhā-Rohiṇi* in 499 A. D. = 228° 54. Therefore, the distance between the star *Jyeshṭhā* and the first point of *Dhanishṭhā* = 295° 34′ - 228° 54′ = 66° 40′ = 13° 20′ x 4 = 5 nakshatra spaces. Bhattacharya has demonstrated in his paper "A Forgotten Chapter of Anc. Ind. Astro." *JGRI*, Vol. XI-XII, 1953-55, p. 15, that the term nakshatra

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

year which satisfies the condition is 1353 B.C. The winter solstice occurred in this year on January 2, (Julian day 12,27,241), when the apparent longitude of the Sun was 270° 03′ at Kurukshetra mean noon, and the *amāvasyā*, by mean motion, was over by the midnight of the same day. Hence, 1353 B. C. is the year implied in all the texts cited. Thus, once more the date obtained is in the fourteenth century B. C., confirming the ones already obtained in a most remarkable manner. It also means that the existing Kalpa-Sūtras and the other Vedāṅgas, belong to the same period. It follows, therefore, that the limits 800–500 B. C., with the provisio that a higher date can be had from astronomical data, by

has two meanings, (a) the space of 13° 20′ covered by the nakshatra (i. e. constollation or asterism), and, (b) the duration which the moon requires to cross it. Thus in the present case, '*beginning of Dhanishṭhā*' means the moment when the moon crosses it. He shows, further, that in A. D. 80, the distance between star *Jyeshṭhā* and the first point of *Dhanishṭhā* was 66° 40′. Thus, once more it is proved that the star *Jyeshṭhā* coincided with the first point of *Dhanishṭhā*. He shows, further on p. 31, that "in A. D. 80, the first day of Māgha fell on the 11th January (Julian day 17,50,287.75). The new moon expired at 5 hours, 12 minutes A. M. in the morning when the longitude of the Sun and the Moon was 295° 19′ (499 A. D.). The moon's longi. at the mean sunrise was 295° 36′ (499 A. D.), longi. of the star *Jyeshṭhā* 228° 54′ (499 A. D.). Difference = 66° 42′. So, the distance between the star *Jyeshthā* from the first point of *Dhanishṭhā* (A. D. 80) may be fairly taken as 66° 40′. Hence, here also we have that the star *Jyeshṭhā* coincided with the first point of the nakṣatra (i. e. constellation,—asterism) *Jyeṣṭhā*". He then shows that since the star *Jyeshthā* marked the beginning of the nakshatra *Jyeshṭhā* the equinox of 1453 B.C. was considered at the end of the third quarter of Bharaṇi. So it is apparent that on the same basis, the point 23° 20′ behind it, was named as the first point of *Aśvini* (Arietis). From this it follows that the old standard initial point was still obeyed. Let us call this the first poind of *Aśvini* to be the first point of the standard *Aśvini*. Let us now find when the equinox reached the first point of the standard *Aśvini*. There was a shift of the vernal equinox by 25° 20′ from 1353 B. C., to the time when it reached the first point of the standard *Aśvini*. The precessional rate in the interval was 49″. 731. Hence, this interval was 1689 year. Since 1353 B. C. = – 1352 A. D., let X be the required date. X – (– 1352) = – 1689. Hence, X = 1689 – 1352 = 337 A. D. The equinox reached the first point of the standard *Aśvini* in 337 A. D. This was during the reign of the Gupta Emperor, Chandragupta (probably Chandragupta I, – KCV). Hence, it is clear that the old, system, with the star *Jyeshṭhā-Rohiṇi* (Antares at the first point of the nakshatra (constellation-asterism), was still recognized as correct. As regards the *Aśvinyādi* reckoning of Āryabhaṭa, Bhattacharya observes (p. 32): "Aryabhaṭa in order to commemorate the year of his winting his siddhāñta *Aryabhatīyam*, arbstrarily took the equinox of his year 499 A. D., as the first point of *Aśvini*. It was not justtfiable for him to demolish, in this way, the standard system of the sacred and hoary antiquity."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Ram Gopal[1] should be pushed back to about 1400 - 1000 B. C.[2] It may be mentioned, incidently, that the date of Pāṇini is also pushed back by four or five centuries to about 1100 - 1000 B. C.[3]

XI. Evidence of the Pole-Star[4] also provides welcome, though hardly necessary evidence, that the foregoing computations are correct. Almost all the *Grihya-Sūtras* prescribe that at the marriage ceremony, the bridal pair should have their attention invited to the Pole-Star, implying that the bond which has bound them should be as immovable as the Pole-Star itself. The condition necessary for the Pole-Star to fulfil this is, that its movement should not be discernible by naked eye. Sir Thomas Colebrooke was the first to notice[5] the passage ध्रुवंपश्य in the *Āśvalāyana Grihya Sūtra* I.7.22, which is also repeated in many other Grihya-Sūtras,[6] but as the critical study of the Vedic literature, began sometime after him, he did not fully appreciate its bearing on the problem of Vedic chronology. It was left to the illustrious Hermann Jacobi, to appreciate its full implications; and he has argued that the date is 2800 B. C. or so.[7] To illustrate this argument, attention is invited to the table below and also to the two figures at the end of this paper :

---

1. *India of the Vedic Kalpa-Sūtras*, p. 354.
2. Lokmānya Tilak, *Orion*, also had determined that the Sūtra period commenced in 1400 B. C.
3. K. V. Sounderarajan, Ex. Jt. Dir. Genl, Arch. Sur. of India, in his paper published in *The Origin of Brāhmi Lipi* (ed. by S. P. Gupta and K. S. Rama chandran) pp. 62ff and M. C. Joshi, also, in the same work, now assign Pāṇini to the 1000 B. C., on archaeological grounds. It may also be mentioned that M. A. Mehendale *The Vedic Age*, p. 480, gives 800 B. C., as against 600 B. C. of western scholars for the oldest of the existing Kalpa-Sūtras, and he also, as V. M. Apte, (p. 487) admit that there were much earlier Sūtra works which have been lost.
4. H. Jacobi, *Indian Antiquary*, Vol. XXIII, 1894, pp. 154-159, "On the Date of the Ṛigveda." He was supported by G. Bühler, *Ibid*, pp. 238-249, and on p. 245, states that *"in later times, even during the Vedic period, the motion of the pole star had been observed by the Hindus. In the Maitrayāṇa-Brāhmaṇa Upanishada (See Sacred Books of the East, Vol. XV), the motion of the Pole star is mentioned as one of the many instances of mutability to which all terrestrial and celestial beings are subject."*
5. *Asiatic Researches*, Vol. IX, pp. 323ff.
6. *Pāraskara Gr. Sū.*, 1.8.19; *Hiraṇyakeśi. Gr. Sū.*, 1.22.14; *Gobhila Gr. Sū.* 11.3.8; *Baudhāyana Gr. Sū.*, 1.5.13; *Mānava Gr. Sū.*, 1.14.9; and *Āpstamba Gr. Sū.*, 11.6.12 (cited by Gorakh Prasad also, *JBORS*, Vol. XXI, 1935, p. 128.
7. H. Jacobi, *Indian Antiquary*, Vol. XXIII, 1894, pp. 154-159.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Name of the star	Magnitude	Polar Distance	Date Remarks
Vega (Alpha Lyrae=)			12,000 B. C.
I Draconis (*Śiśumāra*)	3.0	4°36′	4,700 B. C.
Alpha Draconis (" ")	3.3	0°06′	2,800 B. C.
K. Draconis (" ")	3.3	4°44′	1,300 B. C.
Beta Ursae Minoris	2.0	6°28′	1,060 B. C.
Alpha Ursae Minoris	2.0	0°28′	2,100 A.D.

Explanatory Note : Polar distance, is the distance in degrees, minutes and seconds between the star in question and the *celestial pole-point,* which is determined by prolonging the axis of the earth so as to touch the celestial sphere point. *Magnitude* denotes the degree of brightness of a star; e.g. a star of magnitude 1 is brighter than the one with magnitude 2, and the latter is brighter than one of magnitude 3.

XII. The argument of Jacobi[1] is "Hitherto we have spoken only of result of the precession of the equinoxes, namely the alteration of the '*colures*'. Another result is that, along with the gradual alteration of the celestial equator, its north and south poles continued to move in a circle of 23½ sem-diameters in a period of about 26,000 years, round the fixed poles of the ecliptic. In this way one star after another draws near the north pole and becomes the north or the Pole-Star.[2] We shall distinguish these two names, which are now synonnymous, by calling the bright star which, at any time, stands nearest the pole, the north star; the star whose distance from the pole was so slight that for all practical purposes it may be called fixed (*dhruva*); we shall call it the Pole Star."[3] Since the polar distance of Alpha Draconis (*Śiśumār* and *Uttānapāda* constellations in Sanskrit)[4] from the celestial pole was only 0.6' (minutes), and hence its movement was not observable by naked eyes. Jacobi opted for it as the Pole star of the

1. *Indian Antiquary,* Vol. XXIII.
2. Sir Norman Lockyer, Director Solar Observatory, England, *Elementary Lessons in Astronomy,* (Mac Millan & Co., St. Martin's Street, London, 1919) paragraphs 341, 547, also 153, 261, 328, 360. S. B. Roy, *Ancient India,* pp. 62 66, *Date of the Bhārata Battle,* 1976, pp. 73-74 and *Prehistoric Lunar Astronomy,* 1976, pp. 39-40. Also present writer's paper, The Kaliyuga Era and the Ignored Glimpses of Indian Antiquity, *ABORI,* (Diamond Jubilee Volumes), Vols. LVIII-LIX, 1977-1978.
3. *Indian Antiquary,* XXIII, 1894, p. 157.
4. Draconis consists of the stars Alpha, Beta, Gamma, Episilon, Zeta, Delta, Mu, Psi, Kappa etc. The nakshatra *Uttānapāda* had all these stars, with the exception of Gamma and Kappa. The nakshatra Ursae Majoris, (Great Bear) = Vedic Ṛiksha, later *Sapatarishis,* includes the stars Alpha, Beta, Delta, Episilon, Gamma, Lambda etc. In the olden days, in ancient Sk. Lit., the nakshatra *Śiśumāra* had all these stars as also the Kappa Draconis.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Vedic period, in about 2,800 B. C.[1] But a majority of western Sanskritists of the time and even of the present day, have fought shy of the problem, since to them, a date for Vedic literature, prior to 1500 B. C. is anathema. Jacobi and Tilak were vehemetly opposed by W. D. Whitney[2] and G. Thibaut,[3] followed by M. Winternitz,[4] Macdonell and Keith.[5] Whitney observed:[6]

"Any star, not too far from the pole, would have satisfied the wedded woman and the exhibitor; there is no need of assuming that the custom is one handed down from the remote period when Alpha Draconis was really very close to the pole, across an interval of two or three thousand years, during which there is no mention of pole star in the Veda or Brāhmaṇas."

Similarly, Keith, in the controversy between himself and Hermann Oldenberg—a biggotted antiancient Indian on the one hand and Jacobi on the other, had the audacity to affirm that Jacobi's argument from the pole star was not *convincing*.[7] Lokmānya Tilak did not bother to enter into the controversy, as he was involved in the National Struggle for Freedom, but Jacobi's magnificient ripsote is worth reproduction :[8]

"I identified the *dhruva* with Alpha Draconis, which was in 2780 B. C. only six minutes distant from the pole, and continued for three or four hundred years before and

---

1. Even much vaunted Babylonian and Greek astronomers did not possess telescopes. There was no alternative to 'naked-eye' observation.
2. *Indian Antiquary*, Vol. XXIV, 1895, pp. 361-369, p. 365 (reprint from *JAOS*, 1894).
3. *Indian Antiquary*, Vol. XXIV, 1895, pp. 85-100.
4. *Hist. of Ind. Lit.*, (Eng. trs.), Vol. I, pp. 296-298.
5. *Vedic Index*, Vol. I, 'Nakshatras'; A. B. Keith, *JRAS*, 1909 and 1910.
6. Keith, "Antiquiry of Vedic Culture", *JRAS*, 1909, p. 1102 ; H. Oldenberg,—a confirmed anti-ancient Indian civilization—also contributed two papers in *JRAS* 1909 and 1910, opposing Jacobi and Tilak; Whitney, *JAOS*, 1894, *Indian Antiquary*, p. 365.
7. This is a favourite method of many 'critically trained' scholars, to avoid problem, when they are unable to meet the arguments of their adversaries.
8. Jacobi, "Antiquity of the Vedic Culture", *JRAS*, 1910, p. 462. His papers in *JRAS*, 1909, pp. 721-726 and 1910, pp. 456-464. Later on scholars like S. B. Dixit, *Bhāratiya Jyotisha* (Hindi. trs.); G. Buhler, *Indian Antiquary*, Vol. XXIII, 1894, pp. 238-249; B. V. Kameshwara Aiyar, "Age of the Brāhmaṇas", *Jour. of the Mythic Soc.* Vol. XII, 1921–22, pp. 171-193, 223-249, 357-366; Gorakh Prasad, *JBORS*, Vol. XXI, 1935, pp. 120-135, *JRAS*, 417-421; N. N. Law, *Age of the Ṛigveda*, 1965, pp. i-xvi, 1-160; K. V, Abhayankar, *ABORI*, Vol. LVI, 1976, pp 140-146; Jogesh Chandra Ray, *Veder Devatā O Kṛishtikāla* (The gods of the Veda and the Age of the Vedic Culture), Banglā, Bengali Saṁvata, 1361, pp. 43-53 (cited from N. N. Law, *Age of Ṛigveda*, p. 140). Many other scholars, who also worked on the problem and utilized data, not taken into consideration. Tilak and Jacobi have also come to same conclusion.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

after that time in such vicinity of the Pole that it may have been regarded as a true polar star. Only two more stars of sufficient magnitude approached the Pole—K. Draconis and Beta Ursae Minoris, the minimum polar distance of the former being 4°44′ in 1290 B. C. and of the latter 6°28′ in 1060 B. C. But neither could have been made immovable since the daily changes in the position of the one amounted to 10° degrees and of the other about 13° degrees, and they increased as time went on. These are quantities not to be overlooked by men familiar with the starred heavens, as those Indians must have been, who told the day of the month and the time of the night by observing the asterisms. I have, elsewhere, dealt at some length, the astronomical side of the question.[1] My observations appeal to those who, by practical acquaintance with astronomy form an adequate idea of their perceptible difference of position. Mr. Berriedale Keith, who says that *'my observations on this point do not seem to be convincing' will give me leave to doubt his competence as judge in astronomical matters, since on p. 1102 of his paper, he gives went to the opinion that a star of 3.3 magnitude is brighter than one of 'only 2.0 magnitude."*

It can be affirmed that with the exception of G. Thibaut, the others like Winternitz, Whitney. Macdonell, had no knowledge of astyonomy, but only Whitney had the audicity to assert that while he was not an astronomer, he had a right to pronounce judgement.[2] The above observations of Professor Jacobi are more than confirmed by the remarks of a most eminent Astronomer-Mathematician :[3]

"A complete journey of the Pole occupies the considerable period of about 25,867 years The drawing shows the position of the Pole at the several dates from 4000 B. C. to 2000 A. D. A glance at this map bring prominently before us how casual is the proximity of the pole to the Pole Star. At present, indeed, the distance of the two is actually lessening, but afterwards the distance will increase until when half of the revolution has been accomplished, the pole will be at a distance of twice the radius of the circle from the Pole Star. It will then happen that the pole will be near the bright Star Vega (Sanskt, *Abhijit*) or *Alpha Lyrae*, so that our successors some 12,000 years hence may make use of Vega for many of the purposes for which the Pole Star is at present employed. Looking back into past ages, we see that some 2000 or 3000 years B. C., the star Alpha Draconis was suitably placed to serve Pole Star".

XIII. It may be mentioned that the observation about Pole Star could not have been borrowed from abroad, since the Assyrio-Babylonian astronomers do not mention it and their attention was devoted, almost entirely, to the planetary astronomy, the appearance of Venus, and horoscopic astrology; and the Egyptians, had concentrated their thought on the heliacal rising of the *Sothes* modern

1. *Festgrussan Rudolf von Roth*, 1893, pp. 72. ff.; *ZDMG*, Vol. XLIX, pp. 228 ff.
2. *JAOS*, Vol. VIII, 1966, pp. 1-95. *His admission about his astronomical ignorance is on* p. 35.
3. Sir Robert Ball, F. R. S. Lowndean Professor of Astronomy and Geometry, University of Cambridge, and Director of the Uni. Observatory, *Story of the Heavens*, rev. ed. 1913, pp. 493-494. (cited from N. N. Law, *Loc. Cit.*, p. 141).

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Sirius; Sanskrit *Mṛigavyādha*), inspite of the fact that they knew the Pole Star.[1] Thus the alternative is that either the Alpha Draconis or the Alpha Minoris is the Pole Star of the *Gṛihya Sūtras.* Even if Kappa Draconis of 1300 B. C. be accepted, which would be in accord with Whitneys '*ipse dixit*', *that any star not too far from the pole would have satisfied the wedded woman and the exhibitor*', the result is that the date of the Vedic literature is pushed back by more than two thousand years and along with it the Sūtras are also pulled back, since it is well known that there were far earlier works which have not come down to us :[2]

"The Dharma-Sūtras of Gautama, Baudhāyana, Vaśishṭha and Āpstamba have been placed by eminent scholars like Bühler and Jolly between the sixth and fourth (or third) centuries B. C., others assign a somewhat later date. But although none of the extant Dharma-Sūtras is older than 600 B. C., there is no doubt that there were works of this class belonging to an earlier period. For not only the oldest text, viz., *Gautama Dharma-Sūtra,* probably, belonging to sixth century B. C., refers, both directly and indirectly, to other works of this class, but even Yāska's *Nirukta* seems to allude to them. On the whole the Kalpa-Sūtras may be roughly placed between the eighth and third centuries B. C."

It is worthwhile mentioning that at the time Mehendale made this observation, he was a firm upholder of the date 1600 B. C., for the *Ṛigveda;*[3] but during the last few years he seems to have changed his views and is prepared to place *Ṛigveda*, considerably earlier than 2,000 B. C. ![4] Thus, it can be safely concluded that the earliest Kalpa-Sūtras that have survived, date from alout 1400 B. C. Lately, K. D. Sethna, has advanced very cogent arguments to show that the Kalpa-

1. *Ancient and Med. Science* (ed. Rone Taton; Eng. trs. 1963, Thames and Hudson, London), chapters on Babylonian and Egyptian sciences. J. Filliozat, *Ibid*, Chp. 'Anc. Ind. Science', pp. 136-138 and for Indian influence on Babylonian astronomy, pp. 141, 144. Regarding the present Pole-Star, *Alpha Minoris*, Ake Wallenquist, *The Penguin Dictionary of Astronomy*, No. nil.; Eng. Trs., 1968), p. 169 observes, "The star Alpha Ursae Minoris, in the constellation Ursa Minor (popularly 'Little Bear') ....is at present located at a distance of slightly less than one degree from the north celestial pole."
2. M. A. Mehendale, *The Vedic Age* (Vidya Bhavan, Bombay), Chp. XXIV, 'Language and Literature', p. 481.
3. In several personal discussions in 1976, he expressed this date for the *Ṛigveda*.
4. In 1979–1980, I drew Mehendale's attention to the paper of the Paleo-Climatologist Gurdip Singh, on the Indus Valley Culture, in *Purāttatva*, (1970-71), pp. 68-76 in which he established that the lakes of Rajasthan had dried up in the 18th century B. C. (C-14), and the correct date being in the 2200-2100 B. C. (Masca, i. e. Dendrochronolcgical correction, applied to the Carbon-14 dates). This implies that the Sarasvati also dried up at that time, and in acknowledgement of this, Mehendale, in a personal communication stated that the *Ṛigveda* must be placed considerably anterior to 2000 B. C.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Sūtra literature began not later than 2000 B. C.[1]

XIV. A possible objection, against the chronology propounded in these pages may also be considered. A large number of scholars, almost entirely European and American, were not prepared to admit that the ancient Vedic astronomy was of Indian origin.[2] Their view about the original home ranged from Babylonia to China, though the most popular country of origin of this astronomy, was considered to be Babylonia. Their arguments-really they had none-have been more than answered repeatedly by many scholars :

(a) Sir Thomas Colebrooke was among the first to affirm that the Indian astronomy was not borrowed from any country :[3]

"The Hindus had undoubtedly made some progress at an early period in the astronomy cultivated by them for the regulation of time. Their calender both civil and religious, was generated chiefiy, not exclusively, by the Moon and Sun; and the motions of these luminaries were carefully observed by them with such success, that their determination of the Moon's synodical revolution, which was what they were principally concerned with, is a much *more correct one than the Greeks ever achieved.* They had a division of the ecliptic into twenty-seven or twenty-eight (?) parts, suggested evidently by the Moon's period in days, and *seemingly their own; it was certainly borrowed by the Arabians.*"

(b) Max Muller also upheld the Indian origin of the Nakshatras : and vigourously combated Biot, Whitney, Weber and others:[4]

"In conclusion, I have to say a few words on a hypothesis, according to which the discovery of the twenty-seven nakshatras was originally made at Babylon and from thence communicated as a very early date-date is not given-to the Indians in the South, the Chinese

1. *Karpāsa in Prehistoric India*, (Biblia Impex Private Ltd., 2-18 Ansari Road Delhi-1100 02) pp. 65-96.
2. Biot, in several articles, in the *Jour. des Savants*, 1839-40 onwards, Lassen, *Indian Antiquities*, p. 747; Hardwick, *An Historical Enquiry into some of the chief Parallelisms and Contrasts between Christianity and the Religious Systems of the Ancient World*, 1855–1858, pp. 7. 8 (cited by N. N. Lal, *Age of the Ṛigveda*, p. 151), and others upheld the view that the Indian Nakshatra system was borrowed from China. This was controverted not only by Max Muller, Preface to the Text of the *Ṛigveda*, Vol. xli-xlvii but also A. Weber, in his *Nakshatras*, Vol. I, pp. 284ff, opposed this, on the ground that the Chinese astronomical literature is very late. H. Oldenberg, *Nachrichten der Königliche Gessellschaft der Wiss-enschaften zu Göttingen*, 1909, pp. 5-4, 566-67, 572, also opposed the 'Chinese hypothesis' and accepted the 'Babylonian origin', advocated by Weber and Whitney. Hommell, *ZDMG*, Vol. XLV, pp. 592ff and Zimmer, *Atlindisches Leben*, pp. 356-357, also upheld the Babylonian origin. A. B. Keith referred to this approvingly, in *JRAS*, 1917, pp. 136-138. Lehmann Haupt, *ZDMG*, vol. XLVI, pp. 636f. argued in favour of the Babylonian theory. Whitney, in his controversies with Max Muller and Weber, *JAOS*, Vol. VIII, 1966, pp. 1-94 was one of the most vehement upholders of the Babylonian hypothesis.
3. *Miscellaneous Essays*, Vol. II, p. 447, cited by Max Muller, *Loc. Cit*, vol. IV, p. xlix.
4. Text of the *Ṛigveda*, Preface. Vol. IV, p. xl.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

in the east and sundry Semitic nations in the west. Such a hypothesis seems almost beyond the reach of scientific criticism, though with the progress of deciphering Babylonion inscriptions, some facts may come to light either to confirm or to refute it. At present, however, all that can be brought forward in proof of such a theory is vague and uncertain, and could not stand the test of most forbearing criticism...." Again, after penning these remarks, in 1862, he states, (*India : What Can it Teach Us*), 1892, pp. 126f, "With due respect for the astronomical knowledge of those who support this view, all that I can say is that it is *novel* and nothing but a *novel*." Again, refuting the 'Chinese origin' hypothesis, Max Muller urged that the nakshatras were intended to mark equal divisions of the heavens; and as their number was 27 each 'division' covered 360/27 = 13° 20′; the Chinese '*Sieu*' were 24 in number and later on they were increased to 28, and also there is no indication of such a change in India; no Chinese dictionary can explain the names *Pehoua*, *Makue* and *Pholkune*, which in reality are the Sanskrit terms *Pausha*, *Māgha* and *Phālguna*, thereby showing that it was the *Chinese who borrowed*.

(c) B. V. Kameshwara Aiyar examined the problem of the origin of the 27 nakshatra Zodiac :[1]

"We find the lunar ecliptic (*actually it should be luni-solar, as is now* admitted by even western scholars, e. g. J. Filliozat, *Anc. & Med. Science* (ed.) Rene Taton, Eng. trs., 1963, pp. 136 ff, *that it was a tied calendar, and the nakshatras were connected not only with the moon but also with the sun*) of 27 nakshatras referred to in several places in the later *Saṁhitās* and the *Brāhmaṇas*. We find a knowledge of the lunar (i. e. actually *luni-solar*) ecliptic in the marriage hymn of the *Ṛigveda*, X, 85, 13, where expresseions '*Aghāsu*' and '*Arjunayoḥ*' mean 'on the day when the moon is in conjunction with these *asterisms*'. Why then should one seek for the origin of the *nakshatra* in any other ancient country, where no traces of the same have been found after years of research ? You find it there in ancient Indian literature and you donot find the like of it in any other country at so early a period. It is, again, a scheme which could easily have been worked out in the land of the Indus, by a people with as much knowledge of civilized life as is exhibited in the *Ṛigveda*. Would it be fair or competent criticism, then, to say that ancient Indians must have borrowed the simple scheme from some country, not definitely known, at some unknown or indeterminable period, simply because a Biot or a Weber or a Whitney had started theories which half a century of further research has left where they started ?"

Again citing the observations of the eminent Assyriologist, Professor M. Jastrow :[2] "There is no evidence that prior to 700 B. C., more than a number of constellations of the zodiac had become part of their current zodiac. The division of the ecliptic into 12 constellations does not appear to have been perfected until after the fall of the Babylonian empire in B. C. 539. The golden age of Babylonian astronomy belongs not to the remote past as was until recently supposed, but to the

1. *Indian Antiquary*, Vol. XLVIII, 1919, pp. 95f.; *QJMS*, Vol. XII, pp. 171-178.
2. *Encyclopaedia Britannica*, Eleventh Edition, reprint, 1922, Vol. II, p. 797.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Seleucid period, i. e., after the advent of the Greeks in the Euphrates Valley. The defectiveness of early Babylonian astronomy may be gathered from the fact that as late as the sixth century B. C., an error of almost an entire month was made by Babylonian astronomers in their attempt to deteimine, through calculation, the beginnings of a certain year." Kameshwara Aiyar, bitterly remarks: "Was it worth-while borrowing such a clumsy and makeshift arrangement, when the Brahmavādins had a Vedānga Luni-Solar Calendar which could never go seriously wrong, except after the operation of a thousand years of precession?"

(d) The problem of the origin of the Nakshatra zodiac was also discussed thread-bare by the Indian Calendar Committee, and the finding is that it could not have been borrowed from anywhere, since even in 1955, no traces of anything similar, anyw-here else in the world, have been found. Agnes Mary Clerke, also showed that the concept of thc twentyseven nakshatras is not found at so early date, any where, as the 18th century B. C. and earlier, except in the Vedic literature.[1] Ebezner Burgess, translator of the *Sūryasiddhānta*, also like Max Müller, repudiated the concept that the nakshatra zodiac was derived from China, Babylonia or the Arabnan lands, as advocated by Biot, Weitney, Weber and others.[2]

XV. In reality, no one who has studied Anthropology, Ethnology and the recently developed disciplines of Archaeo-Astronomy and Ethno-Astronomy, now believes that

1. *Ency. Britannica,* 1922, Vol. XXVIII, p. 996, where she has dealt with the Kṛittikā passage of the *Śātapatha Brāhmaṇa*, II, 1, 2, 2.
एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते । सर्वाणिहवा अन्या नक्षत्राणि प्राच्यै दिश्क्ष्यवन्ते तत्प्राच्यामेवास्यैतदिश्याहितौ भवतस्तस्मात् कृत्तिका स्वाधीत् ।

2. *JAOS*, Vol. VIII, 1966, pp. 309-334, "On the origin of the Lunar Division of Zodiac represented in the Nakshatra system of the Hindus." With regard to the assertion that the Nakshatras were borrowed from the Arabs, he stated (pp. 325-326), "The evidences of a common origin of the *Manzil* (Arab name of constella-tions) and the Nakshatras, are so clear, that I shall not discuss the points of coincid-ence and discrepancies between the two systems." He emphasised that there was no Arabic literature, before 500 B. C., and by that time, the scientific Siddhāntic Astronomy, was fully developed in India. (It may be noted that J. Filliozat, *Anc. & Med. Science*, p. 140, has shown that the original *Sūryasiddhānta* was first composed in the sixth ceutury B. C.; and the *Indian Calendar Committee, Report*, p. 239ff, has shown that there was a revision of the text, in 280 A. D., as the star positions had changed !). Burgess also cites the great *Hist. of Astronomy* by Delambre, to the point that this historian, did not include Arab sciencc, in the an-cient period, and describes it in the medieval period; and also that when the Arabs translated the famous *Syntaxis* of Ptolemy, under the title *Alamgest,* the ascending and descending *Nodes* were described in *Sanskrit terms.* The Arabs have, themselves, acknowledged that they studied Indian astronomy earlier than the Greek (W. H. Siddiqui, 'India's Contribution to Arab Civilization', *Vivekanand Commemoration Volume*, pp. 579-587). See also, Colebrooke, *Hindu Algebra*, p. lxiv.; and Strachey

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

there was any tribe in any part of the world, to borrow astronomical lore of an observational nature from anyone, since Man was, before the rise of agriculture, a 'hunter and gatherer of food'. He had, therefore, to know what eatable fruits, vegetables and animals were to be had, where and when. Thus he had to have knowledge of seasons, and very soon he found that the onset or end of a season, was connected with the rising and setting of particular groups of stars or star clusters (i. e. constellations).[1] The proof lies in the fact that constellations which occupy a prominent place in Vedic calender and rituals are also of great importance to some of the most primitive tribes, in Africa, Australia and South America which never came into contact with either any ancient civilization of Asia or Africa, or any modern civilization, till the advent of European Buccaneers in the fifteenth and sixteenth centuries.[2] And Man migrated, from

---

'On the Early Hist. of Algebra', *Asiatic Researches*, Vol. XII, p. 184. The Indian Calendar Committee, also investigated the problem in 1955, and came to the conclusion that there is not the slightest evidence for foreign origin of the Nakshatra Zodiac; and Jogesh Chandra Ray, *Veder Devatāi O Krishtikāla*, has shown that this was developed in the thirtythird century B. C.

1. Sir E. B. Taylor, *Antoropology*, 2 Vols. (Thinker's Library Nos. 14,15) Vol. II, pp. 80–81 has referred to the astonishing accuracy of the astronomical lore of the Bushmen of Africa, which has held its own against modern science. Nilsson, *Primitive Time Reckoning*, pp. 109–143, 311–318, has given a detailed and very accurate description of the astronomical lore of these primitive African, Australian and South American Tribes. A Marshack, "Cognitive Aspect of Upper Paleolithic Engraving", *Current Anthropology*, Vol. XIII, 1972, pp. 445-461; "Lunar Notations on Upper Paleolithic Remains", *Science*, Vol. CXXXXVI, 1964, pp. 743–745; *The Roots of Civilization*, McGraw Hill Pub. 1971. Elizabeth Baitty, "Archaeo-Astronomy and Ethno-Astronomy so far," *Current Anthropology*, Oct.1973; S. B. Roy *Prehistoric Lunar Astronomy*.
2. *Enci. Brit.*, 1969, pp. 725f. On p. 725, it states, "The American Indian languages do not form a single historically interrelated stock (as do the Indo-European languages), nor are there any structural features (in phonetics, grammar, and vocabulary) whereby American Indian languages can be distinguished as a whole from languages spoken elsewhere. Again on p. 726, it observes, "Although there is little doubt that the American Indians came originally from Asia, there is no clear evidence relating the languages of the Americas to those of Asia or elsewhere in the old world. Several such relationships had been proposed by the late 1950s; (i) between the Eskimo-Aleut lenguages and the proposed Ural-Altaic stock of Asia; (ii) between the Nadene languages of North America and the Sine-Tibetan languages of Asia; (iii) between the Hoken languages of North and Central America and the Malayo-Polynesian of Oceania; and (iv) between the Chonan languages of southern Argentina and the languages of Australia. None of these hypotheses had been verified and the evidence for all of them was extremely slender."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Siberia to the new world, not less them 30,000 year ago. It follows, therefore, that this knowledge had been acquired by the Mankind, long before 30,000 B. C.; and so far linguisticians have not been able to corelate any of the 2000 or more dialects, which were spoken or are even now spoken by the Non-European peoples of South America. Nilsson[1] has given a large number of examples of the astronomical lore of an 'observational nature', possessed by these extremely primitive tribes, in Africa, Australia and South

1. A few examples of this astronomical lore are : "The Plecades (कृत्तिका) are the most important....An account of the Bushmen shows how extremely primitive peoples may also observe the rising of the stars, may connect with the seasons, and which is indeed rare, may even worship them....Canopus (अगस्त्य) and Sirius (Egyptian Sothes, Skt. मृगव्याध, श्वान्, appear in winter, hence cold is connected with them." (Reference may be made in this connection to the works, of G. W. Stew, *The Native Races of South Africa*; G. Bertin, "The Bushmen and their language", *JRAS*, Vol. XVIII, pt. I; J. L. P. Erasmus, *The Wild Bushmen*; F. C. Selous, *African Nature Notes and Reminescenes*, Chp, XX; Sir H. H. Johntton, *Jour. of Anthro. Inst.*, 1883, p. 463f; W. H. I. Bleak, *Bushmen Folklore*.) They are so primitive that they live neither in huts nor in a hole dug in the earth; in the mountains they prepare shelters by hanging a mat on the windward side of the rocks. Barring Ostrich eggs (shells) in which they arried water, they have no utensils and occasionally they have rough pots. For cooking his food he does not use any utensils and cooks directly on the fire which is produced by rubbing hard and soft woods with each other....Their meat is half cooked. When they are hard up they eat lizards, snakes, frogs, worms, or even caterpillars. They have no idea of God, and worship and fear evil spirits. They eat as vegetables, roots and bulbs and love honey. There is no tribal organization among them. They have many *solar and lunar myths*; *they observe and also* name the stars. Canopus (अगस्त्य) for example has five names. Some of the constellations have figurative names. Orion's belt (i. e. the belt of *Mṛigaśiras*) is named "*the three tortoises hanging on a stick*" and Castor and Pollux (पुनर्वसु), the "*cowlands*". The Hottentots, connect the Pleiades (कृत्तिका) with winter. These stars become visible in the middle of June, that is in the first half of the cold season (*i. e. in the Southern Hemisphere*) and are therefore celled "*Rhime-stars*". The appearance of Pleiade also gives the bushmen of Aub district the signal for departure for the "*tasmafield*"....A tribe of Western Australia (i. e. Victoria) connected certain constellations with seasons....The winter stars are Arcturus (स्वाती), who is held in great esteem; since he has taught the natives to find the papue of wood ants, which are an important article of food in August and September-and Vega (अभिजीत) who has taught them to find the eggs of the Mallee-hen, which also are an important article of food in October.......they can tell from the position of Arcturus (स्वाती) or Vega (अभिजित्) above the horizon in August and October respectively when it is time to collect these eggs. For example, when

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Canopus (अगस्त्य) at dawn is only a very little above the eastern horizon, it is time to collect eggs; when the Pleiades (कृत्तिका) are visible in the east, a little before sunrise, the time has come to visit friends, and neighbouring tribes. The Chuckee form out of the stars Altair (*Sravana*) and Tarared Aquila, a constellation named "*pchittin*", which is believed to be the forefather of the tribe who, after death, ascended into heaven (Cf. the legend of Prajāpati-Rohiṇī-Mṛigaśiras, in *Ait. Brah.* III. 13.9). Since this constellation begins to appear above the horizon at the time of the winter solstice (i. e. *Uttarāyaṇa*, which now occurs on Dec. 23), it is said to usher in the light of the new year, and most families belonging to the tribes living by the sea bring their sacrifices at its first appearance....*The South American Indians have much greater knowledgc of the stars*, and in consequence, frequently connect stellar phenomena, especially those of the Pleiades (कृत्तिका) with phases of nature. In North-West Brazil, the Indians determine the time of planting from the position of certain constellations, in particular the Pleiades. If these have disappeared below the horizon, the *regular heavy rains would begin.* The Siusi (another South American tribe) *gave an account of the constellations, by which they calculated the seasons*, and in explanation drew three diagrams in the sand. No. 1, had three constellations :—"*A Second.Crab*", composed of the principal stars of Leo (पूर्व उत्तर फल्गुनी) and the "*Youths*" (Pleiades = कृत्तिका). When these set, continuous rain falls, the rivers begin to rise, beginning of the rainy season, planting of *Manioc.* No. 2, had two constellations, "*The Fishing Basket*" (Orion - मृगशिरा) and the *Kakudzuta* (northern part of the constellation Eridanus), in which the other tribes see a dancing implement. When these set, much rain falls, the water in the rivers is at its highest. No. 3 was the "*Great Serpant*", (Scorpionis = अनुराधा या मूत्रा). When this sets, there is little or no rain, the water is at its lowest. The natives of Brazil are acquainted with the course of the constellations, with their height and time of their appearance in, disappearance from the sky, and according to them, divide up the seasons....In Africa also, observation of the stars, and above all of the Pleiades (कृत्तिका), is wide-spread. *In view of the disemnation of this knowledge all over the world, it is making an un-necessary exception to state that it came into Africa from Egypt. (See foot-note at the end*-KCV). Moreover this asseetion does not correspond with the facts, since among the Egyptians the Sirius (मृगव्याध) and not the Pleiades (कृत्तिका) occupied the first place....The Melanesians of Banks Islands and the Northern New Hebrides are also acquainted with the Pleiades (कृत्तिका) as the sign of the approach of the Yam Harvest. The inhabitants of New Britain (Bismarck Archipalego) are guided in asceratining the time of planting by the position of certain stars. "Their names for the Orion (मृगशिरा) and Canis Major (The Great Bear) i. e. *Saptarshis* (*Vedic Ṛiksha*) are "*Fisher's Canoe*" and "*Bird*". It may be noted that the assertion that the knowledge came about the Pleiades came to the primitive American tribes, from Egypt, was based on the assumption of the *Diffusion of Civilization*, from the

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

America.[1] It is clear, that the statements in the texts, which enable the determination of the chronology of the Sūtra literature are authentic and based on real observations of the period they indicate; hence the affirmation can be made that the surviving Kalpa-sūtras go back to the fourteenth century B.C. and that the composition of this class of works began at a still earlier period.

XVI. It is suggested that reference to the chart, showing the twentyseven or Twentyeight Nakshatra ecliptic and the zodiac through the ages, will be of assistance in following the trend of the astronomical argument

---

Fertile Crescent of the Euphrates and Tigris rivers, in Mesopotamia associated usually by V. Gordon Childe with all over Egypt, Iran, India, etc., (*American Jour. of Arch.* Vol. XLIII, 1939 p. 10, and accepted by others, e. g. *Dawn of European Civ.*. 1925, pp. 125, 133, "In Retrospect", *Antiquity*, Vol. XXXII, 1958, p 80; *Prehistory of European Soc.* 1958, pp. 163-164; *Thc Danube in Prehistory*, 1929, 3 2.34; *Man Makes Himself*, 1936, pp. 169-170; Grahame Clarke, *World Prehistory*, 1961, pp. 139-140; Glyn Daniel, *Antiquity*, Vol. XXXIII, 1959, pp. 79-80; J. Mellaart, *Earliest Civilizations of the Near East*, 1965, p. 36. This 'Diffusionist Theory' has now been completely exploded, (Colin Renfrew, *Before Civilization*, Penguin, 1973). Also see G.R. Sharma, *From History to Prehistory : Archaeology of the Ganga Valley and the Vindhyas*, Allahabad Uni., 1980. Also Enc. Brit., 1969, Vol. IV, pp. 611-612; Vol VI, pp. 391-393.

1. See my paper, "Astronomical Lore of Observational Nature possessed by the Vedic Aryans and some Extremely Pirimitive African, Australtian and Souh American Tribes : A Comparison", *ABORI*, Vol, LXI, 1980, pp. 1-130 and "The Kali yuga Era and the Ignored Glimpses of Indian Antiquity", *ABORI*, (Diamond Jub., Vols. LVII-LVIII, 1977-1978 pp. 1025-1045.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Lokamānya B. G. Tilak, *Orion*, 4th ed., (1955), p. 213

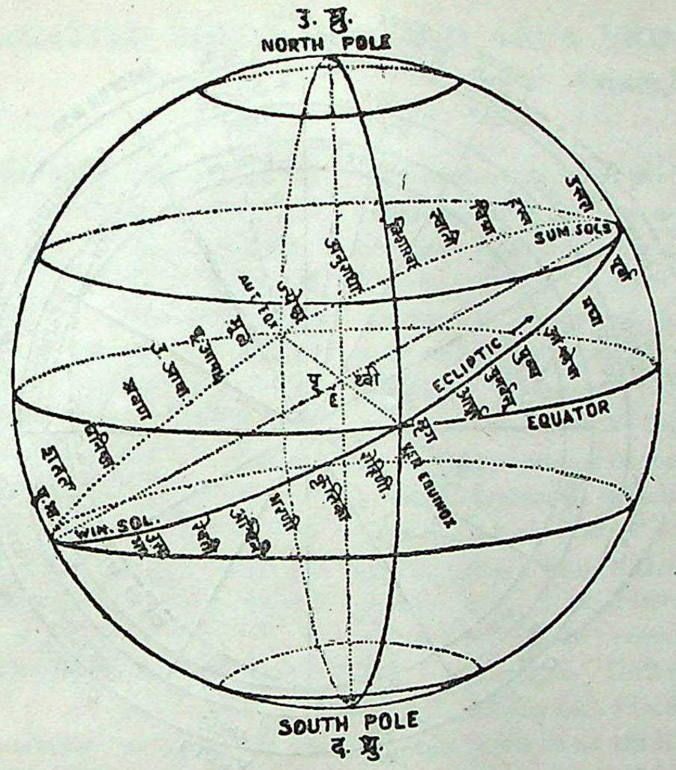

Fig. 1

Epxlanation : *Fig*. 1 : The figure is drawan on the supposition that the earth (E) is in the centre, that the sun moves in the ecliptic, and the precession of the equinoxes is caused by the motion of ecliptic. With a given Nakshatra at the vernal equinox, we can here, at once, find what Nakshatras would be at the cardinal points and hence also at the winter solstice.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Zodiac Through the Ages

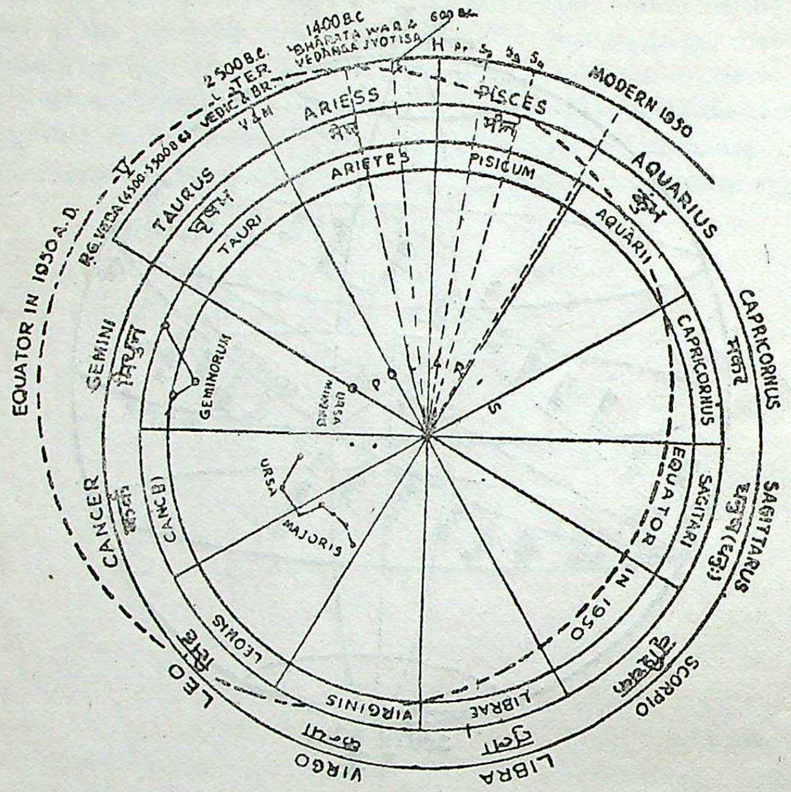

Fig. 2

Explanation : Figure 2 : Based on the chart in the Report of the Indian Calendar Committee, which showed it upto Kṛittikā period i. e. 2500 B. C.

Earliest hymns of the *RV/AV*. i. e. 4000-3500 B. C. Middle, 3500-2500 B. C. when the colure had receded to *Rohiṇī*, from *Mṛigaśiras*. Late Vedic, i. e. *Taitt. Saṁ.*, Late hymns of *Atharvaveda*, Brāhmaṇas, e. g. *Jaiminīya, Śatapatha, Kauśītaki, Aitareya* etc. 2500-1400 B. C. *Kalpasūtras*, with the vernal equinox in Bharaṇi, 1500-500 B. C.

S (i) First Ed., *Sūryasiddhānta*, (J. Filloozat, *Anc. & Med. Sc.*, p. 140) 600 B. C.
HIPty-Hipparchus and Ptolemy, 150 B. C.—150 A. D.

S (ii) Ist. Rev. *Sūryasiddhānta*, 280 A. D. (*Report of Ind. Cal. Comm.* 1955)

S (iii) 2nd Rev. *Sūryasiddhānta*, 500 A. D. Also *Āryabhaṭiyam.*

S (iv) Present *Sūrysiddhinta* 1000, A. D.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

COMPARATIVE PHILOLOGY AND ARYA PROBLEM

Shyam Sunder Mishra*

Historical investigations into the Aryan problem have been mainly done by the linguistic approach, particularly in the discipline known as Comparative Philology. It was in the year 1767 and 1786, respectively, that Coeurdoux, a Frenchman, and Sir William Jones, an Englishman, published the conclusions they drew from their comparative study of Sanskrit with the Latin and Greek tongues. They found remarkable affinities in vocabulary and grammar. Since then numerous studies of Sanskrit were made. Sanskrit, as such, has been regarded the language of languages and key to all languages termed as Indo-European. Ogilvie and Wilson conclude :

> "Sanskrit, the ancient language of the Hindoos, has been termed the language of languages and is even regarded as the key to all those termed 'Indo-European' including Teutonic family, French, Italian Spanish, Slavonian, Lithuanian, Greek, Latin and Celtic. It is found to bear such a resemblance both in its more important words and its grammatical forms to the Indo-European languages, as to lead to the conclusion that all must have sprung from a common source—some primitive language, now lost, of which they are all to be regarded as mere varieties".

But all of these major decisions were taken beyond scientific standards of drawing conclusions and without a deep and exhastive study of Sanskrit and other languages. On such inadequate and peripheral studies the conclusion that they are merely the branches of "some primitive language" (not *Prākṛit* as known to us) is obscure and futile and is nothing but misuse of scientific mythology with oblique purposes, in the sphere of Comparative Philology. These investigators could not enter into the deep analysis of word-roots (*dhātu*) and law of their change and arrangement (*vyutpatti*) which is the significant characteristic of *Pāninī*'s Sanskrit Grammar and *Vararuchi's* Prākṛit Grammar. Moreover, studies into comparative development of scripts and their resembling sounds had hardly been made. Unfortunately, no Indian Sanskrit scholar took this sphere of investigation and research as his life work and hence the mysticism created by Westerners prevailed and we could not be able to open the locks of such a horrible scepticism and cavilery.

A Study of Scripts

To have a valid study of comparative philology it is a precondition to have a comparative study of the relevant scripts. Such a study shall benefit in appropriate dilecting and pronunciation and in development and distinction of written languages. Although it is evident that the most ancient phonetic script is that of the Harappans and other ancient Indian scripts of the same nature are Brāhmi and Kharoshṭhi, most of the western scholars held the birth of phonetic alphabets

* 453, Naya Ramnagar, Orai, 285001, U. P.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

around the Mediterraneans and, as such, view their influence on Brāhmī and Kharoshṭhī. The conclusions of many Indian scholars are, nonetheless, in the reverse direction. It is established that phonetic symbols as alphabets are consequential to Egyptian hieroglyphs. Some c. 1850—c. 1500 B. C. in Senai the inscriptions disclose the missing link between the Egyptian hieroglyphs and the Phoenician alphabet. At the same time, at various sites in Palestine, there appear tentative efforts to devise an alphabet with a limited number of signs. The known Phoenician inscriptions come from Byblos in c. 1500—c. 950 B.C. which are written in a purely alphabetic script of 22 consonants. From them other alphabets of Hebrew appear c. 1000 B. C. and of Moabite and Aramaic are found after c. 850 B. C.

As a preliminary investigation, the present researcher stands to study the developmental processes of alphabetic scripts from Egyptian hieroglyphs and symbols from Senai through stages of Phoenician, Hebrew, Greek and Latin letters with that of the Brāhmī, Kharoshṭhī and Nāgarī scripts. These developments are provided in **Fig. 1.** A keen view of these developments clearly indicates that some 16 symbols of Brāhmī, some 12 symbols of Kharoshṭhī and some 10 symbols of Nāgarī are quite identical in sketch and phone at very early stages of development. Apart from these a number of other Indian symbols are identical with hieroglyphs, Senaian or Greek.

The hieroglyphic pictures of concrete objects denote cognate concepts and abstract ideas. The word-value of a symbol is, firstly, to the object depicted or the action or quality suggested; secondly, it expresses the consonantal root of the word derived from it; thirdly, it comes to express other roots composed of the same consonants unconnected with the original root. Thus the symbol of 'ear' stands not only for *sdm* (√श्रु) 'hear' but also for sdm (√श्री) 'paint the eyes'. Later scriptures use signs with simple values to represent mere sounds of a root disregarding meanings. Thus the sign for mn (मन) 'remained' was used not only for mn 'so and so' but also for m-n as a syllable within any word, for instance in sm(i)n(e)t (समीनेत्) 'to fix'. There were, moreover, a large number of roots in Egyptian consisting of one strong and one or two weak consonants; the latter tended to fall away in favour of the surviving consonant as a mere letter. Thus the initial sign for pi (√पी) 'seat' finally stood alone for p as a single letter. Similarly, id (√चि) 'hand' symbol served for d as a mere consonant. Thus a pseudo-alphabet of 24 consonants was devised. It is depicted in **Fig. 2** along with parallel Sanskrit roots and meanings.

Fig. 3 indicates derivatives of Semitic letters from Egyptian hieroglyphs in consecutive meanings and phonetic value thereon and qualifying Sanskrit roots with meanings.

A keen observation into the above two figures indicates very clearly similarities in Egyptian and Sanskrit roots as well as their influence on Semitic languages. Although some scholars pointed out linguistic similarities between Indo-European and Semitic they have been mostly regarded to be the distinct families of languages. The present study based on the formation of words through roots, however, again suggests to open this almost closed domain of linguistic study in the field of Comparative Philology where Semitic and Indo-European languages might be validly compared. Thus, in the present study, both

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

the scripts and word-roots indicate close affinities between Sanskrit and Egyptian or Semitic (Phoenician, Hebrew or Arabian) languages.

Prākrits : Psychology of changing pronunciations

Pronunciations are quite different from written language. We see that the Hindi vowel 'अ' is pronounced 'अ' in Middle Uttar Pradesh, 'अँ' in Eastern Uttar Pradesh and 'अे' in Western Uttar Pradesh; and having a phonetic value it affects all the consonants of Hindi language. We also know that 'ऋ' is pronounced as 'रि' in Hindi Provinces but as 'रु' in other provinces of India and as such it affects pronunciation of the same Sanskrit word variously in different parts of India. In Hindi dialects 'श' and 'ष' are usually pronounced as 'स' but in Bengal 'स' 'श' and 'ष' all are pronounced as 'श'. Similarly, among most of the Indian tribes there is no difference of pronunciation between 'श' and 'च'. In Tamil language कखगघ, चछ, जझ, टठडढ, तथदध, पफबभ are hardly differentiated. A Sanskrit consonent is pronounced with the help of the vowel 'अ', as a rule, but its pronunciation in the, end of a word is without such a help in North India while it is quite with help in South India, so the word 'राम' is pronounced as 'Ram' in the North and 'Rama' in the South.

Such similarities and differences in pro nunciation as mentioned above are apparent throughout the world. Vocal sounds as such are innumerable. The pattern of speach both among child and adult opens new vistas of differential pronunciation more than that of the science of language. More than anything else, it indicates two processes which can be known as (i) Vocal Facilitation, and (ii) Social Facilitation. Language learning being a matter of imitation and vocal drill with the process of conceptualisation, the former is at the opportunity of the organism under function of speech and the latter is concerned with its social approval or collective acceptance.

Learning of language in a child is a matter of the above two processes. Vocal facilitation refers more specifically to vocal organs; the mouth cavity, the tongue, the throat, the lips, etc. The lips may function in the oval or elliptical form, moving inside or outside, parallel and overlapping to each other or otherwise, and in various other ways. The tongue may function in various directions inside the mouth cavity or outside, touching the lips or teeth, hard or soft palate or its own root downwardly; it may function forward and backward, upward or downward or in right and left sides continuously or incidently. The air may pass from the lungs through the throat mildly or strongly, may be retained in the mouth cavity or may pass straightly in various directions. Outside air may also be filled in various ways and directions. Sounds may have various kinds of pitch, tune and rhythm. Thus vocalisation, with the combination of and harmony among various organs, may be created simply as well as very complexly. Naturally, it grows from simple to complex.

The first unlearned sound of the child is crying rather naturally and easily facilitated at birth. But afterwards even to such a meaningless crying adults put significance by providiving comforts to the child which becomes conditioned by the end of the third week to be differentiated in terms of hunger, cold, pain, wetness, etc.; and as the child grows, his crying becomes more specific to

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

the situation by which he is conditioned. Thus social facilitation enters into paly of his language development. Other unlearned sounds resulting from chance movements of the vocal organs for the first few months may commonly referred to as cooing and gurgling which are also admired by parents and adults and are thus conditioned as ways of communication.

The next stage usually extending from the third month of age represents a gradual development of the sounds resembling vowels more than they do consonants. Purely on vocal facilitation the child selects simple sounds and repeats them continuously as a vocal drill which is known as babbling. This practice, to the delight of parents, is encouraged by them and these random vocalisations are put to meaning, thus again conditioning the child which may sometimes result in learning of first meaningful word usually representing a parent or a need, such a word may be 'ma', 'amm', 'dada', 'mum' etc. The random sounds resembling something of a language are conditioned as learning of words during growth and development of the child. Sometimes a child coins his own word which is conditioned in due course by social recognition of social facilitation. Pronouncing similar sounds in immitation of adults are also conditioned in the same fashion. But this is the stage of speech pathology particularly that of lisping and slurring. Errors of speech particularly known as "baby talk" are due to, more than anything else, faulty learning by conditioning on social facilitation having their root in organic conditions and in attempt to "condensation of speech" for the cause of prompt expression or as a result of condensed conceptualisation. Thus omission of essential letters, syllables or words, incorrect verb, pronoun or preposition, interchange of letters in a word or syllable, ungrammatical forms, eating or swallowing of a word with respiration, and rapid runing of words together overlapping each other in such a way as to cause unintelligible speech occur very commonly. If these incorrect speech patterns are encouraged or imitated by adults in admiration or in beloving the child the habit patterns tend to persist well into later childhood. Unless checked early and the child is trained for a correct speech pattern the speech pathology continues even through adulthood. Thus vocal facilitation and social facilitation play the major role in language learning and speech formation.

The development of language in a regional or cultural group is in perfect analogy to the development of language in the child and deviations and perversions therein have the same basis. It is assumed that the human animal was immensely distributed the world over before language and culture came to existence. So the different groups established different kinds of vocal sounds imparting meaningfulness. With the advancement of culture these sounds took form of a language, established and recognised as the characteristic of a people. With the dispersion of people over the vast land sounds changed as dilects on vocal facilitation and social facilitation. Thus we find different pronunciation of the same word even in the most ancient literature of Vedas where *sira* and *hira*, *sri* and *hri*, for example, denote the same thing. Sometimes primitive languages grew with standards of literariness and remained established and culture comparatively for a long time throughout a country but soon after became primitive as before in analogy to a garden which being long unprotected and

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

uncared for grows into a jungle. Thus, Sanskṛit grew from Prākṛit and again turned into Prākṛit or Apabhraṁśa.

Learning of a distinct or standardised language through social cantact or accultura-tion also depends on vocal facilitation and social facilitation. The number of sounds in one language is often different from the other languages. There is little difficulty in ada-pting a language acculturation which has lesser number of sounds than the mother tongue with the exception of the adapting style or intonation of speech. But when the adapted language has larger number of sounds than the mother tongue the difficulty is grave. The only way, in such a situation, is the workable adaptation of many a sounds of learnt language to be reduced on similar sounds of the mother tongue. Obviously, this has been done in case of learning Sans-krit sounds by many peoples the world over. These peoples assimilated the learnt Sanskrit language into their own languages. In ancient India all such languages have been designated as *Prākṛits*.

The Ancient Foreign Prākṛits

The Egyptian :

The discussion on Egyptian symbols as above and the contents of **Fig. 2** and **Fig. 3** are the sufficient proof to indicate similarities and affinities of language between Egyptian and Sanskrit. The roots which are basic structures of word formation are very similar both in Egyptian and Sanskrit. So is the case with hieroglyphic symbolism as indicative of name, action or idea which qualifies perfectly the Sanskrit roots. Thus the symbol 'id' of hand in Egyptian hiero-glyph is meant for 'holding' in that it is very similar to Sanskrit root *dhi*.Other symbols and their established ideas in Egyptian with quli-fying Sanskrit roots are given in **Fig.2andFig.3.**

The Semitic :

Although symbols sometime change significantly different from Egyptian to Semitic languages (Phoenician and Arabian) as indicated in **Fig. 3**, it is apparent that roots of Sanskṛit qualify all of them perfectly and equally. Thus the symbol of 'arrow' in Egyptian hieroglyph qualified by Sanskrit root '*ji*' is meant for victory in Egyptiian as well as in Semitic where it is a symbol of 'weapon'. No doubt affinities of Sanskrit with Semitic languages in their rootal structure are apparent. However, further researches in the area epecially or-ganised to define word structures on Sanskrit roots are suggested.

The Greek :

With the examination of **Fig. 1** we can reach to the conclusion that there are no letters at all for the sounds of ख, घ, ङ, ढ, ध, ञ of Sanskrit alphabet. The sound of क is sometimes amulgamated with sounds of च and स, ष, श; the latter hardly differentiated from each other and many times the sounds of π, σ, ϕ, ε, Ψ, ζ are placed for them. The sound of ज is assimilated with sound of ग or य in Greek language. It is apparent that Greak ζ is very similar to Kharoshṭhi ह which indi-cates assimilation of स and ह sounds in Greek languages. The ह, अ and ए all are assimilated in Greak η which is apparently a vowel, thus indicating the presence of soft 'ह्' or 'अः' sound as in Roman H and He-brew/Arabic 'He' which is more a vowel than a consonant.

When we use our findings from the study of scripts in reading the written Greek langu-age, to our astonishment, most of the Greek

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

words turn into deviated (i. e., Prākṛit or Apabhraṁśa) Sanskṛit words. At a face value, this comes to more than three-fourth of the Greek words. A page from Webster's New World Dictionary (p. 561) is presented here as an example which includes most of the words as Greek derivatives :

Philosophy	philos + sophos		शीलः + सुषः (√श्रु सन्)
philodendron			शील (तन) द्रुम
philogyny	philein + gyne	love for women	शील्य + जनी
philology	philein + logos		शील्यम् + रागः
phleps	phlebos	a vein	सल (जल) + अप (नीचे) √शल (चलना) शलति अपः इति शलापः
phlegma			श्लेष्मा
phloos		bark	शल्ल (वृक्ष की छाल)
phlegein		to burn	शलीजन्य (सूजन) √प्लुष् + √जन्
phlox		a flame	√प्लुष् = जलाना
phoibos		bright	शुभ्र
phoebus		Apolo, Helios	शुभ्रः, शिवः (आपाल, हेलिः)
phobia	phobos	a fear	√शुभ्र, √शुम्भ, अनिष्ट करना, मारना, शुबह (फारसी)
Phoenicia	phoe + nicia		शिव + निकाय्य, नि √चि + ण्यत्
phoinix			श्येनीः
phene		a sound	√श्रु, श्रवणि, सुनी

Sanskrit parallels of Greek prefixes found in Bhargava's Standard Illustrated Dictionary of English Language (p. 12) are given below :

a, an, am अ, अन्	amphi अंश, अंशी	ana अनु	ant, anti अन्यत्
apo अप	arch आर्ष	auth, auto अ-उत	
cat, cata, √कट्(बरसना ढकना)			
cath, kata √कर्त् (शिथिल काट)		deca	di द्वि
dia तिरस्	dys दुर, दुस्	exo, ec, ex इति	en, em नि
endo अन्तर	ep, epi उपरि	eu सु	hemi, semi सामि (अर्द्ध)
hept, hepta सप्त	hetero इतर	hexa षद्	hier सु, स्वर्
holo सर्व	homo सम	hydr, hydro आद्र	hyper अपर
hyp, hypo अप	met, meta मात्र, मात्रा	mon, mone मन	ortho ऋत्
pan, panto पूर्ण	par, para परा	penta पञ्च	peri परि
poly √पुल (बड़ा होना) पुल	pro प्र	pros पुरस्	pseudo क्षुद्र
sy, syl, sym, syn सम्	tri त्रि		

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Names of gods, man and places are given as example with Sanskṛit parallels as below :

Zeus	शिव	Uranus	ऊर्ण
Gaea	गो	Helios	हेलि
Furies	सूर्या	Ae-olus	ऐ-बलः
Asclepius	अश्वलापी (अश्विनी कुमार)	Amphitrite	अम्भि देवी
Poseidon	पोष्यवान (पूषा)	Electra	इलाक्षत्रा
Elysium	ईल-वास्यम्	Eos	हे-उष
Erin-y-es	हिरण्याः, हिरण्यः	Eris	ह्री
Eros	हर, √हृ + अच् = हरने वाला	Eurydice	सु-ऋती
Graces	श्रेयसी	harpazein	हरपक्षिन्
ichor	इक्षु	Ilied	इलात्य
Iris	इरा	Nyx	निशा
Orpheus	ऋषिः	Pegasus	यक्ष-अश्वः
Phaethon	शयथ (यम)	Poly-hymnia	पूर्ण-साम्न
Rhadamanthus	ऋत्-मन्तः	Cronus	प्राणः
Rhea	रयि	Hera	ह्री
Ionia	यवनीय	Areopagus	आर्यपथ
Argive	आर्जीव	Cadmus	छद्म
Cassandra	काशेन्द्रा	Cassiopeia	कश्यपी
Parnassus	पार्णवस, पौराणस	Eugene	सुजन्य
Eunice	सुनीकी	Euphrates	सुसरिता
Tigris	अति जला	Europe	सुरूपी

The present investigator studied thousands of Greek words and reached to the conclusion that most of the Greek Dictionary can be reduced into Prākṛit words. Moreover, the investigator found the same mythology and philosophy which is aptly credited to ancient Hindus.

The Latin :

A number of scholars have shown similarities of language in Latin and Sanskrit. The present investigator found Sanskrit roots in Latin words. The Latin prefixes are nearly the same as that of Sanskrit and the remaining few are based on Sanskrit roots. In a similar way names and places bear Sanskrit origin particularly names of gods. Latin mythology and philosophy was also found akin to that of ancient Hindus. The present investigator hold the opinion that more than three-fourth of the Latin words can be transcripted though Sanskrit roots. In his opinion Latin is nothing but a Prākṛit of Sanskrit origin.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Conclusion

It is concluded, after the study of scripts, deviations of phone, roots and word formations, and general philosophy and mythology among ancient Egyptians, Semites, Greeks and Romans, that there are clear affinities of these people with ancient Hindus. The historical myth of Aryan migration is futile in the light of present research. The historical myth of a common source is also unacceptable on records of the affinities between Sanskrit and Semitic languages. The only possible solution of the problem remains in that the ancient civilizations have social and cultural contacts and there had been an international world with a linguafranca very skin to Vedic Sanskrit. However, exhastive research in these directions based on Sanskrit roots in the field of Comparative Philology is suggested in dealing with the Aryan Problem.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

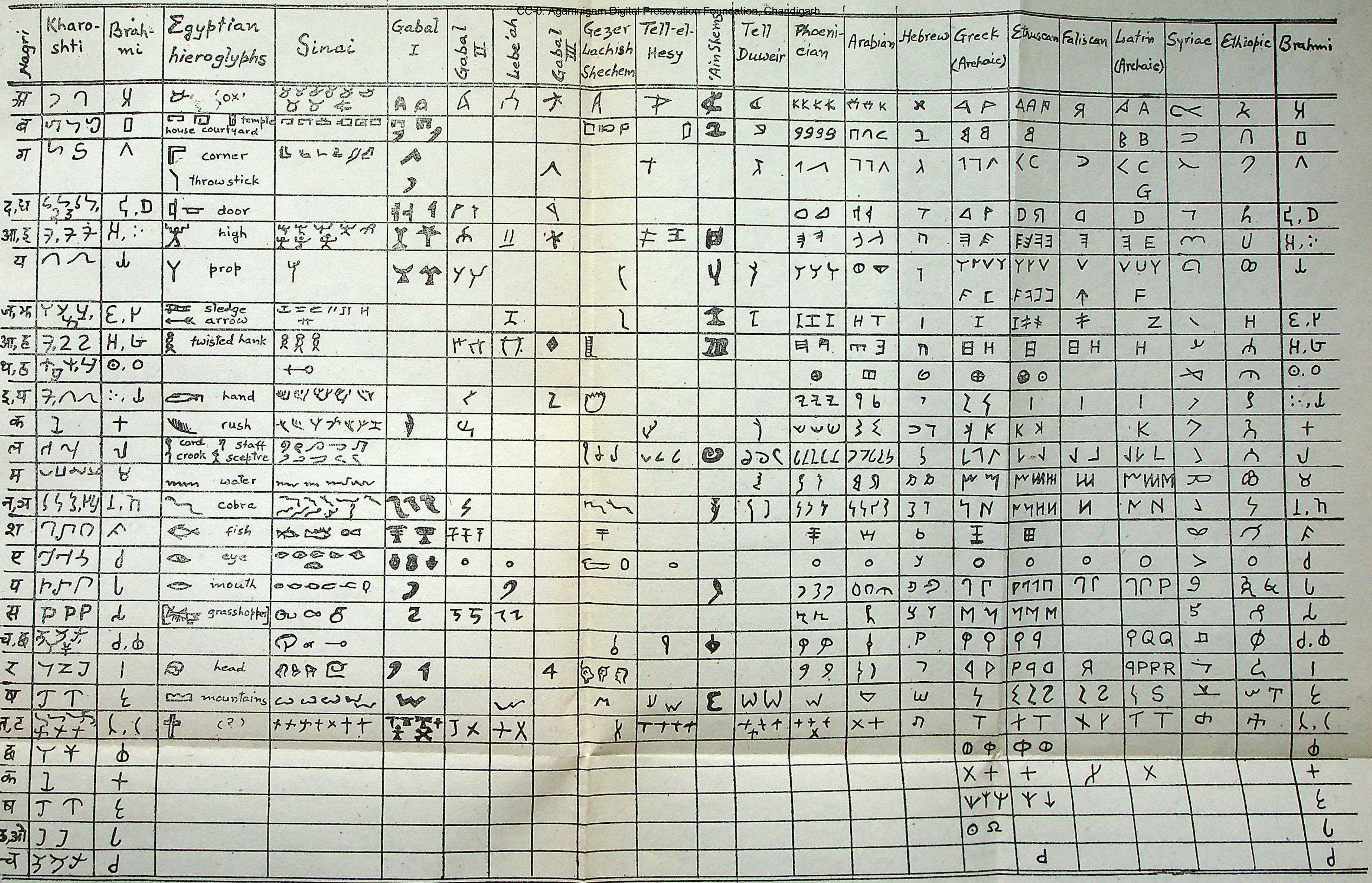

Fig. 1. A comparison of Indian scripts to the developmental process of alphabetical scripts originating from Egyptian hieroglyphs. Nagri letters indicate sounds.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

Details	IDEOGRAPHIC WORDS			PHONETIC PSEUDO-ALPHABET			Sanskrit Equivalents		
	Sign	Pronunciation	Meaning	Sign	Object depicted	Consonantal Value	Consonants	Root & Word Form	Meaning
I. Words containing (i) One consonant	[1]	3	vulture		vulture	3 (ऄ)	अ	√अव् + उ अ√लप् + अच = अलप	air dumb
		i	reed		reed	i (ỉ/ऄ)	इ	√इ + क्रटच् + टाप = इकटा	grass for mat
		r	hand, arm		forearm	r (y)	ए (उ)	√इ + विच √उ	call call
	[2]	f.t[3]	horned viper		horned viper[4]	f	फ	√फक्क् + उ √स्फुट + अच् = फट 4√वप + अड + टाप = वपा	hiss hood of snake snake's burrow
		n.t[3]	water		water	n	न, ण	√नख + उ = णो √नद + अच = नद	water house river
		h	courtyard		courtyard	h	आ व	√आप + क्विप् √वा + उ	compound dwelling
		s	bolt		bolt	z	ज, झ	√झट् + उ = झ	sound of rattle toy zn...
		t	loaf		loaf	t	ट	√टल् + उ	meat of coconut
(ii) One strong and one weak consonant		pi	plinth, seat		stool	p	प	√पी + ठक् √पिठ् + घञ् } = पीठ	stool, sculpture-base
		r3 or ri	mouth		mouth	r	र	√रा + उ = र √रै ऋ	sound growl
		ḫi	placenta (?)		placenta (?)	ḫ (ẖ)	ख क्ष	√क्षि + उ = क्ष	field, degeneration
		ẖ3.t[3]	.... interior of trunk		animal belly with teats	ẖ (ch)	च	√सट् + अच् = सट	crest
(iii) One weak and one strong consonant		id	hand		hand	d	ध	√धि	to hold
(iv) One strong and two weak consonants		š3i (?)	pool		pool	š	श	√शी + अच् = शय	bed
		q33	hill		hill slope	q	ख थ	√खर्व + उ = ख √थुड् + उ = थ	sky, heaven hill
(v) Two weak and one strong consonant		w3ḏ.t[3]	cobra		cobra	ḏ (dj)	द ध	वध	killing, paralysis
II. Words not known					quail-chick	w	व	√वा + उ	wind
					foot	b	ब	√बल + उ	to go
					owl	m	म	√मा + क	time, death
					twisted hank	ḥ (ẖ)	ह	√हा + उ	whip, arm
					folded cloth	s	ष	√सो + उ = सं	sound, fence
					basket	k	क	√कच् + उ	body
					jar stand	g	ग	√गै + क	stand
					teathering rope	ṯ (tj)	त	√तक् + उ	tail

Fig 2. Illustrating signs of the Egyptian pseudo-alphabet

1 Taken from the most primitive writing.
2 Form not actually found but inferred.
3 Final t indicating feminine gender disregarded.
4 Or perhaps rather wfi 'horned viper'.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

EGYPTIAN					SEMITIC					
Hieroglyph	Word	Meaning	Value	Sanskrit root & meaning	Phoenician	Arabian	Value	Name	Meaning	Sanskrit root & meaning
	i.d	hand	d	√घ्र = ग्रहण			y	yód	hand	√युध+अच = योद्धा
	r3, ri	mouth	r	√रा+ड = र = शब्द √री = आलिंगन			p	pē	mouth	√पी
	zhn-t	prop	—	√याच+नङ्+टाप = याच्ना			w	wāw	peg	√वा+ड = व = वरुण
	n-t	water	n	√नख+ड = ण = जलाशय √नद+अच् = नद			m	mēm	water	√मि+रन् = मीर = जल
	(?)	(?)	—	—			t	tāw	mark	√स्तम्भ, √स्था
	qm3	throw-stick	—	√कम् = कामना			g	gimel	throw-stick (?)	√गम्
	Zwn, Zin	arrow	—	√जु+ल्यु = जवन √जि+ल्युट् = जयन						
	?	bolt	z	√सो+ड = स = षड्ज स्वर			z	Zayin	weapon (?)	√जि
	?	folded cloth	s	√झट्+ड = झ = झुन-झुन ध्वनि						
	tp	head	—	√तप्+असुन् = तपस् √तप्+अचस = तपस } = सूर्य, आत्मा			r	réš	head	√ऋष्+इन+कित् = ऋषि
	ir-t	eye	—	√ऋ+क्त = ऋत			'(y)'	'ayin	eye	√अय+ल्युट् = अयन √नी+ल्युट् = नयन
	r3	door	—	√इ+विच = ए = आह्वान √उ = आह्वान			d	dālet	door	√दल्
	k3	ox	—	√कै+ड = क = शिर			'(ʾ)'	'alep	ox	√अल्+प = अल्प = सूक्ष्म अ√लप्+अच् = अलप
	ḥni	rush	—	√हन्+उन् = हनु, ओषधिविशेष			k	kap	hand, bough	क√फल+ड = कफ, केन जलेन फलति। √काश+अच् = कास
	h3s-t	hill country	—	√स्था, √थुड्+ड = थ = पर्वत √खर्व+ड = ख = आकाश, स्वर्ग			ś	sin	tooth, peak	√श्रि+णि = श्रेणि, पर्वतशिखर, दन्तक।
	rw-t	peasant's crook	—	√वह+तृच् = वोढृ = वाहक						
	ḥq3	crooked staff	—	√कै+क = हक इत्यव्यक्तं कायति = हक्क = हस्तीनां चीत्कारं			l	lamed	goad	√ला, लामद, लामेद लाति मदं वीर्यं, लाति मेदं बलं।
	w3s	sceptre	—	√वश+अप् = वश = स्वामित्व, अधिकार						
	h	courtyard	h	√वा+ड = व = वास, निवास			b	bét	house	√वी+क्त = वीत, विवीत
	in-t	bulti-fish	—	√इण+क्त = इत = प्राप्त √नी+क्त = नीत			s	samek	fish (?)	सम् √इ+क्विप् = समित, संग्राम, युद्ध समि+कन = समिक, भल्ल
	w3d-t	cobra	—	√वध+ट = वध = हत्या, प्रहार √व्यध+क्त = व्यधत = विद्ध			n	Aram. nūn Eth. nahās	fish serpent	√नम् = नमन, शब्द √नह् = बन्धन, वेष्टन √नह्+उषच् = नहुष
	q3i	high	—	√कै = शब्द						
	hri	rejoiced	—	√हु+यत् = हव्य, प्रसाद, प्रसन्न			h	hē	lo!	हे, हला
	hr	mourner	—	√हु+अप्, √ह्वे+अप = हव = आह्वान						
	ḥ	twisted hank	ḥ	√हा+ड = ह = अस्त्र			ḥ	ḥét	—	√हेठ+घञ् = हेठ = बाधा
		—	—	—			ṭ	ṭét	—	ठ = वृत्त, शून्य, मण्डल
		'grasshopper'	—	—			ṣ	ṣādê	—	षडी, षाड्य = षटपदी
		'monkey'	—	—			q	qóp	monkey (?)	कपि

Fig. 3. Egyptian hieroglyph compared with Semitic alphabets on Sanskrit roots and meanings.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ZEND-AVESTA : AN ARYAN SCRIPTURE

K. B. Kaushik*

It is evident from the ancient history of Aryans that the people of both countries (India-Iran) were Aryans and Zend Avesta is an Aryan scripture. Dr. H. L. Chopra opines ... legendary history of India and Iran were inhabited by people professing the same faith and speaking the same language. The Vedas bear witness to the assumption that Zoroaster started preaching a Vedic religion in Iran.[1] The sacred texts of the Hindus bear affinity with those of Zoroastrians. Slight phonetic amendments to the Zend Avesta can make it read like Vedic Sanskrit, for the terms used in Avesta are the corrupt forms of the latter times. The affinity which is evedenced not only in the language, metre, diction and sentence formation of the two scriptures, but also in rituals, traditions, creation of fables and accounts of deities and angels of the Zoroastrians and the Hindus, go to prove that both Indians and Iranians lived together as one people prior to their divisions and demarcation.

Both were Aryans : Those living in Iran, to the west of Sind, called themselves Aryans, but were termed Persians by the Greeks, for the latter had to make contact with them in the province of Fars. The names 'Parthavas' and 'Pahlavas' occur in Indian epic tradian also; but our brothers on the western side of Sind gave us the name of Hindus and our land that of Hindustan. In four places in Avesta (in Yasna, Meher Yasht, Tiryasht and Vendidad)India is referred to an 'Haphindu'– the 'Saptsindhu' of the Vedas comprising the Panjab and Sindha. It were the Greeks who changed the names of the both to Indians and Parsians.[2]

Ancient Iran is important because it is the birth-place of the great Aryan prophet of humanity, Zorathustra and of the monotheistic religion and the Avestan literature; and also because it has greatly contributed towards the fusion of people and has added a number of things of spiritual, cultural and literary value to the progress of man kind.[3]

The researches made by foreign and Indian scholars prove that Zend Avesta is an Aryan scripture. Some salient facts are penned down in brief :

Same Name : The fallowers of Veda and Avesta were called 'Arya'. The Parsis are described as 'Arya' and 'Aryatva' is praised in the Avesta as :

(i) "In the dignity of Aryans" (Serogah 1, 9)[4]

(ii) "In the honour of Aryans," whom Mazda has created". (Serogah 1, 25)[5]

1. Dr. Hira Lal Chopra, *Bulletin of Ramkrishna Mission, Institute of Calcutta*, September, 1959.
2. *Ibid.*
3. *Ibid.*
4. *Zend Avesta*, Vol II, p. 7.
5. *Ibid.*, p. 11.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(iii) "We offer oblation to the glory of Aryans whome Mazda has created".[1]

(iv) "Fast archer-Arya, amongst Aryans"[2] (8 yesht 6).

(v) "How the land of Aryans will be fertile."[3]

(vi) "Aryan race gratify them"[4] (same book 58)

(vii) "We offer oblation to Lord, the owner of cosmopolitan pasture, who bestows pleasurable habitations for Aryan race"[5]

The eighteenth chapter of Astādyasht is impregnated with the valour of Aryans only. I would like to quote here its beginning stanza—"Ahurmazda commanded to Zoroaster (Zardusht) that—'I have apulenced to Aryans thrive with food, cattle, wealth, glory, wisdom and prosperity, so that they may fulfill their needs and may defeat their enemies."[6]

Aryan Land : The people who originated ancient Iranian culture were Aryans. The holy and beloved land of the Aryans, mentioned in the Avesta was—Airyanem-Vaejo : "The first of good lands and countries which I created was the Arynem-Vaejo"[7], the seed, the origin, the cradle of the Aryan culture and civilization. Even before the dawn of the recorded history there existed an intimate connection between the Iranians and the ancestors of the present day Hindus. It can now be proved even by geographical evidence that the Zoroastrians had settled in India before they immigrated into Parsia.[8] The Zoroastrians were a colony from Northern India.[9]

Zend-Avesta—Dr. Hang derives word 'Zend' from the root 'zan' (which is equivalent to Sanskrit root 'gya'–to know and means similar to Sanskrit word-Ved But I agree with Max Muller that 'Zend' is a corrupt form of Sanskrit word 'Chhand'.[10] The etymology of 'Avesta is from the word 'Av' (a Sanskrit prefix) + stha (a Sanskrit suffix used in the sense of situated) as J. Muller had suggested in 1839 A. D.

More satisfactory meaning than this can be had if 'Avesta' is derived from 'A + Vita' (which is 'kta' Pratyānt from 'vid' = know) as is the meaning of Ved, the sacred book of the Brāhmaṇs.[11]

But the above cited derivation seems a far-fetching attempt. I am inclined with Max Muller that 'Avesta' is another form

1. *Ibid.*, p. 15.
2. *Ibid.*, p. 95.
3. *Ibid.*, Part II, p. 96.
4. *Ibid.*, p. 100.
5. *Ibid.*, p. 120 (10 yasht 4).
6. *Ibid.*, p. 283.
7. *Vendidad*, 1.
8. *Chips*, Vol. I. p. 235.
9. Max Muller—*Science of Language*
10. Max Muller *Chips*
11. *Hang's Essays*, p. 11.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

of Sanskrit word 'Avasthā'; for Sanskrit 'sthā' has been transformed to 'sta' in Zend. Dr. G.P. Upadhyay suggests that though Sanskrit word 'Avasthā' is known in the sense of instituted and fixed till to day, yet I use the word 'Vyavasthā' in this sense (which is a transformed state of 'Avasthā', only 'vi' prefix is attached before it.[1]

Language—The Avestan language is the corrupt form of Aryan (Vedic) language. At least sixty percent of the words in Zend Avesta are of pure Vedic Sanskrit origin. Sir William Jones opines that the Zend language was a form of Sanskrit language. It was possibly so much nearer to Sanskrit as much was 'Prākṛit' or other prevalent languages, which were spoken two thousand years before in India.[2] Professor Dermesteter, in his translation of Zend Avesta (Sacred Books of the East Series) quoting father Paulo de Saint Barthelemy says that "they concluded that Sanskrit was spoken in India and Iran in ancient period and Zend originated from sanskrit.[3] Johan Lyden and Erskine believe that Zend was a form of Sanskrit, which was borrowed from India by the founder of Parasi religion.[4] Peter von Bohlen also agrees with this view.[5]

Grammar : Dr. Hang writes that there is sound proof of similar origin of grammatical forms of Sanskrit and Avesta.[6] L. H. Mills has transposed much part of the 'Gāthā language into Vedic Sanskrit on the basis of grammatical affinity.[7] As regards the grammar and vocabulary of Zend language, Max Muller says that it is more contiguous than other Indo-European language. The corruption of Sanskrit words has followed a particular pattern. For example—Sanskritic—'ta' has changed in to 'tha' in the Avesta; 'swa' into 'sya', 'ha' in to 'ja' and 'sa' into 'ha'.[8]

Metre Analogy : It is interesting to note, that the metre composition and prosody of Vedas are similar to those of Zend Avasta. The metres used in the 'Gāthās are the same as used in the Vedic hymns.[9] Bishop Mills and Dr. Hang have given vivid examples of 'Gāyatri, Trishṭup, Anushṭup, Āsuri, Ushta metres etc. used in the Vedas and the Zend Avesta alike.

Social-order : Dr. Hang is of the opinion that the social order mentioned in the Zend Avesta is similar to Chāturvarṇya. The only difference is that of the names, as (i) Atharvan (Brahmaṇ) (ii) Rathests (Kshatriya) (iii) Vastryo phashya, (Vaishya) and (iv) Huiti (Śūdra).[10] Prof. Dermesteter writes that the social system described in Avesta is borrowed from India beyoned doubt.[11]

1. Dr. Ganga Pd. Upadhyay–*Dharma Kā Ādi Srot*, p. 75.
2. *Asiatic Researches*, 11, p. 3.
3. Dermestater, *Zend Avesta*, Part I, Intro. p. XXL.
4. *Ibid.*
5. *Ibid.*
6. *Hang's Essays*, p. 72.
7. *Zend Avesta*, Part III, Intro. p, 15 (*S.B.E.* Series).
8. *Chips from a German work-shop*, vol. I, p. 82-83.
9. *Hang's Essays*, p. 143.
10. *Zend Avesta*, Preface, p. XXXVI.
11. *Ibid.*, Part I, p. XXXIII.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Religion : There is surprising similarity in the views of the Vedas and the Avesta about religious recognition. Dr. Hang says that the 'Aryaman' in Sanskrit means both a friend and 'God'. In the Avesta also 'Airymana' means the same, as specific God of marriage whom on that occasion, Brahmin and Parsi both invoke.[1] In the Vedic Sanskrit 'Mitra' has three meanings—sun, friend and God. 'Mither' in the Avesta also means the same three things. The thirty-three gods in the Vedas resemble the thirty three 'Ratus' in the Zend Avesta (Yas 1/30)

Dr. Hang writes that it is the most surprising similarity regarding the numbers of gods in the Avesta and the Vedas.[2] Both the scriptures believe in the same theory of the creation of the universe. The teaching of wheel of creation and annihilation theory has been described clearly. The creation is told 'Mihicharkh' in Parsian scriptures which is derived from Sanskrit word 'Mahāchakra' (महाचक्र). Sāsān Vth, the last writer of Parsian religious books, comments that the discription of 'Mihicharkh is equivalent to the 'Mahāchakra' in the Vedas.[3] The Avesta recognises the concept of re-birth and *karm*. Hoshang and Nāmā-Mihāvād accepts the theory of re-birth and *karm* as Hindus believe. The Parsis also have the sacred thread ceremony. It is called 'Kushathi'.

Honour of the cow : The cow has the same two meanings—'cow' and 'earth' in both the scriptures. The Ved and the Avesta pay much honour to the Gau (cow) and 'Go-mutra' (urine of the cow).[4] The cow is honoured as the representative of the entire society in the Avesta.

Yajña : Dr. Hang writes that the Veda and the Avesta both deal with the significance and worship of 'Agni (*Agnimīlepurohitam*) and firepit for the performance of an 'yajña'. 'Yashn' is a blended form of Sanskrit word 'yajña'. Some identical words are penned down here from the Vedas and Avesta regarding the process and practices of the yajña :

Veda	*Avesta*
Ishṭi	Ishti
Āhuti	Ājuti
Hotā	Jotā
Som	Hom

In the end I conclude the facts cited above in brief that the Zend Avesta is an Aryan scripture. Hence it is the call of our national intigration to pay high respect to our this neglected scripture. It is our National duty to bring together our Parsi brothers.

1. *Hang's Essays*, p. 273.
2. *Hang's Essays*, p. 275.
3. *Rigved*, 10/190/1.
4. *Zend Avestg*, Pt. III, p. 3; *Hang's Essays* p. 241, 252, 295.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कपिलवस्तु (पिपरहवा) से प्राप्त बुद्ध के धातु अवशेष

ठाकुर प्रसादवर्मा*

भगवान् बुद्ध के धातु अवशेषों को सर्वप्रथम डब्ल्यू० सी० पेप्पे नामक अंग्रेज जमीन्दार ने बस्ती जिले के पिपरहवा नामक स्थान पर स्थित स्तूप की आंशिक खुदाई करके १८९८ ई० में निकाला था। इसके लगभग ७४ वर्षों बाद १९७२ में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के श्री के०एम० श्रीवास्तव ने इस स्तूप की पुनः खुदाई की तथा पेप्पे द्वारा उत्खनित स्तर से भी नीचे गये। वहाँ भी उन्हें भगवान् बुद्ध के धातु अवशेषों के पात्र मिले। यह एक अनोखा संयोग था कि एक ही स्तूप में दो स्तरों पर धातु-पात्र प्राप्त हुए। श्री श्रीवास्तव इससे असमंजस में पड़ गये और उन्होंने न केवल पेप्पे द्वारा प्राप्त किए गये अवशेषों को बुद्ध के मूल धातु अवशेष मानने से इनकार कर दिया बल्कि अपने उत्खनन का एक मुख्य उद्देश्य ही 'मूल अवशेषों को खोजना' घोषित कर दिया।[1] उन्होंने लिखा है कि "अब यह निश्चित हो गया है कि नव (प्राप्त) अवशेष बुद्ध के हैं और पेप्पे द्वारा १८९७-९८ में प्राप्त लेख युक्त पात्र केवल पूर्व प्रतिष्ठापना का स्मरण दिलाता है तथा स्तूप के पुनर्निर्माण के समय उत्कीर्ण किया गया।"[2] अपने मत के समर्थन में सिल्वा लेवी को प्रस्तुत करते हुए पुरातत्वविदों द्वारा प्रायः उद्घोषित उक्ति का सहारा लेते हुए वे कहते हैं कि पेप्पे ने १८९७-९८ में जो बर्बादी की उससे यह स्थापित कर सकना असम्भव हो गया है कि लेखयुक्त पात्र में जो अस्थियों के टुकड़े मिले हैं वे पहले के मूल अस्थिपात्रों के हैं या नहीं, तथा यदि हैं तो वे कैसे निकाले गये।[3]

श्री श्रीवास्तव ने कपिलवस्तु की विवादास्पद पहचान को सुनिश्चित कर दिया इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। किन्तु उनके द्वारा उठाये गये इस भ्रम का निवारण आवश्यक है कि पहले प्राप्त अवशेष मूल नहीं हैं तथा उनके द्वारा अब खोजे गये अवशेष ही मूल हैं। वास्तव में श्री श्रीवास्तव उन परिस्थितियों की कल्पना ही नहीं कर पाये जिनके कारण स्तूप के पुनर्निर्माण के समय लेखयुक्त पात्र तथा अन्य कई पात्र, जो बुद्ध के धातु अवशेषों के भाग थे, रखे गये। यहाँ संक्षेप में हम इसकी चर्चा करेंगे।

पेप्पे ने पहले ८' गहराई तक स्तूप की खुदाई करके बन्द कर दिया था लेकिन विन्सेन्ट स्मिथ के यह कहने पर कि यह एक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण स्तूप है उन्होंने पुनः खुदाई प्रारम्भ किया। दस फीट की गहराई पर उन्हें सेलखड़ी का एक धातु-कलश मिला जो खण्डित हो चुका था तथा उसमें मिट्टी भर गई थी। मिट्टी के अतिरिक्त इसमें गुरिया, मनके, स्वर्ण आभूषण, सितारे आदि भी थे। इसी प्रकार के धातु-कलश नीचे भी मिले थे। स्तूप की चोटी से १८' नीचे एक विशाल बलुआ पत्थर की पेटिका थी जिसका कुलभार १५३७ पौण्ड था। इस पेटिका का आकार ४४" × २'८.२५" × २'२.२५" था। इसके ऊपर से बन्द करने के लिए जो पत्थर का टुकड़ा बनाया गया था वह स्तूप के मिट्टी के भार से चार खण्डों में टूट गया था। इसके अन्दर निम्नलिखित वस्तुएँ प्राप्त हुई थीं :

१. सेलखड़ी का एक कलश जो ७.५" ऊँचा तथा ४.५" व्यास का है।

२. वैसा ही एक अन्य धातु-कलश जो सेलखड़ी का है तथा ६ इंच ऊँचा एवं ४.१२" व्यास का है। इसके ढक्कन पर एक लेख खुरच कर लिखा गया है।

३. सेलखड़ी का एक लोटा जो ५.५" ऊंचा तथा ५.७५" व्यास का है।

---

* प्रा०भा०इ०सं० । वं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. **स्टडीज इन इंडियन इपीग्रेफी (भारतीय पुराभिलेख पत्रिका)**, भाग २, १९७५, पृ० १०६।

२. **उपरोक्त**, पृ० १०८।

३. **उपरोक्त**, पृ० १०९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

४. सेलखड़ी का एक गोलपात्र जो २.२५'' ऊँचा तथा ३.७५'' व्यास का है।

५. स्फटिक का एक पात्र जो ४.५'' ऊंचा एवं ४.२५'' व्यास का है। इस पर अत्यन्त सुन्दर ओप है। इसका खोखला ढक्कन मछली के आकार का है।

इसके अतिरिक्त पाषाण-पेटिका में लकड़ी एवं चाँदी के अनेक पात्र थे जो टुकड़े-टुकड़े हो गये थे। पात्रों में धातु राख के अतिरिक्त कई सौ की संख्या में बहुमूल्य वस्तुएं भी मिली हैं जिनमें अनेक आकार-प्रकार के स्वर्णाभूषण, दो नारी आकृतियों की छाप, स्वर्णपत्र में हाथी एवं सिंह की आकृतियाँ, स्वर्ण एवं रजत के फूल एवं सितारे, तावीज के आकार की सोने की डिब्बी, स्वर्ण त्रिरत्न, आवर्तयुक्त स्वर्ण चक्र, सादी सोने की छड़ें, स्वर्णपत्रों के लपेटे हुए टुकड़े, कई आकार के मोती जिनमें से कुछ दो, तीन एवं चार की संख्या में परस्पर जुड़े हुए हैं, इत्यादि अनेक प्रकार की वस्तुएं शामिल थीं। ये सभी वस्तुएं कलकत्ता स्थित भारतीय संग्रहालय से सुरक्षित हैं।

पेप्पे द्वारा प्राप्त इस पाषाण पेटिका में रखी गई वस्तुओं की सूची[1] बड़े प्रामाणिक ढंग से बनाई गई है तथा पेप्पे के वर्णन को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि उनके द्वारा स्तूप की अविवेकपूर्ण अन्धा-धुन्ध बर्बादी के कारण अब इनकी अपने मूल से पहचान असम्भव हो गई है जैसा कि श्रीवास्तवजी ने आरोप लगाया है। वास्तव में इससे तो यह आभासित होता है कि इन वस्तुओं को स्तूप में रखने के समय समस्त शाक्य जनपद में एक अभूतपूर्व उत्साह एवं क्रियाशीलता की लहर आयी हुई थी और प्रत्येक व्यक्ति इसमें अपना-अपना योगदान करने को लालायित एवं उत्सुक था।

इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण वह अस्थि कलश है जिसके ढक्कन पर लेख उत्कीर्ण है। जिस समय यह लेख लिखवाया गया होगा अपने में एक चमत्कारिक बात रही होगी, क्योंकि अशोक के अभिलेखों में प्रचलित तथाकथित ब्राह्मीलिपि का उस समय तक बहुत अधिक प्रचलन नहीं हुआ रहा होगा और इस विद्या को केवल कुछ ही लोग जानते रहे होंगे। यह लेख लिपिशास्त्रीय दृष्टि से ई० पू० की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध या उसके बाद की ही हो सकती है।[2] जिस समय यह लेख प्रकाश में आया तब से अनेक विद्वानों ने इस पर अपना मत व्यक्त किया है। सबसे पहले ब्यूलर ने यह मत व्यक्त किया कि यह भगवान् बुद्ध का धातु अवशेष है जिसको शाक्यों ने भगवान् के परिनिर्वाण के उपरान्त अपने आठवें भाग के रूप में प्राप्त किया था।[3] वार्थ,[4] विन्सेन्ट स्मिथ[5] राइस डेविड्स,[6] आदि विद्वानों ने भी अपने-अपने ढंग से इस लेख का विवेचन करते हुए इसे भगवान् बुद्ध के ही धातु अवशेष माना है।

फ्लीट ने सबसे पहले इस लेख को सही व्यवस्था दी और यह बताया कि लेख 'इयं' शब्द से शुरू नहीं होगा बल्कि 'सुकितिभतिनं' से शुरू होना चाहिए, जिसे बाद के सभी विद्वानों ने स्वीकार कर लिया। लेख इस प्रकार है :—

सुकिति भतिनं सभगिनिकं सपुतदलनं।
इयं सलिल निधने बुधस भगवते सकियानं॥

लेकिन फ्लीट ने पहले तो इसे बुद्ध का धातु अवशेष माना[7] किन्तु बाद में इसे बुद्ध के परिजनों का बताया।[8]

---

१. **ज.रा.ए.सो.**, १८९८, पृ० ४७३।
२. वर्मा, ठा० प्र०, **पैलियोग्राफी ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट इन नार्दन इण्डिया**, पृ० १५; दानी, अ० ह०, **इण्डियन पैलियोग्राफी**, पृ० ५६।
३. **ज.रा.ए.सो.**, पृ० ३८७।
४. **इण्ड० एन्टी०**, १९०७, पृ० ११७।
५. **ज.रा.ए.सो.**, १८९८, पृ० ५८६।
६. **उपरोक्त**, पृ० ५९८।
७. **उपरोक्त**, १९०५, पृ० ६७९।
८. **उपरोक्त**, १९०६, पृ० ४९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाषाण-पेटिका में प्राप्त सैकड़ों वस्तुओं के आधार पर उन्होंने यह अनुमान लगाया कि ये सब सैकड़ों शाक्यों के धातु अवशेष होने चाहिए, अतः विडूडभ द्वारा शाक्यों के सामूहिक संहार की घटना से जोड़कर इस लेख की व्याख्या प्रस्तुत की। लेकिन अब श्रीवास्तव द्वारा स्तूप के इस स्तर के भी नीचे के स्तर में पुनः बुद्ध के अवशेषों के प्राप्त हो जाने से फ्लीट का यह अनुमान ढह जाता है क्योंकि परम्परा के अनुसार विडूडभ की घटना बुद्ध के जीवनकाल में हुई थी। अतः यदि उस घटना के स्मरणार्थ यह आस्थि-निक्षेप हुआ होता तो नव प्राप्त धातु अवशेषों के भी निचले स्तर पर उसे होना चाहिए था।

श्रीवास्तव जी ने १९७२ के जनवरी मास में इस स्तूप के पुनरुत्खनन का कार्य प्रारम्भ किया।[1] स्तूप के पश्चिमी भाग की आंशिक खुदाई से पता चला कि स्तूप का निचला भाग वर्गाकार था और इसमें ८५ से० मी० की दूरी पर आयताकार आले बने थे जो सम्भवतः मूर्तियों के रखने के लिए प्रयुक्त होते थे। स्तूप के उत्तरी भाग की खुदाई के समय पकी हुई ईंटों का एक परिमण्डल दिखाई पड़ा जो वर्गाकार स्तूप अधिष्ठान के नीचे था। इससे यह अनुमान लगाया गया कि यह पहले बनाया गया स्तूप का अवशेष है। स्तूप की वर्तमान चोटी से छः मीटर नीचे पकी हुई ईंटों के दो कोष्ठक दिखाई पड़े। ये कोष्ठक पेप्पे द्वारा प्राप्त पाषाण-पेटिका के काफी नीचे थे। इन कोष्ठकों का आकार ८२ × ८० × ३७ से० मी० था। इनमें उत्तरी कोष्ठक के ऊपर से ईंटों के तीन रद्दे हटाने के बाद सेलखड़ी का एक धातु-कलश दिखाई पड़ा। इसके बगल में लाल रंग की एक परई दिखाई पड़ी जो इसी प्रकार की एक अन्य परई(डिश) से से ढकी हुई थी। ऊपर का बर्तन तीन खण्डों में टूट गया था और ऐसा लगता था कि तीनों खण्ड तीन अलग-अलग खानों की वस्तुओं को ढकने के लिए बनाये गये थे। धातु-कलश एवं परई दोनों को ईंटों एवं ईंटों के टुकड़े चारों ओर रखकर बड़ी सावधानी से बन्द किया गया था। सेलखड़ी कलश का व्यास ७ से० मी० तथा परई का २६ से० मी० नापा गया। कलश १२ से० मी० ऊँचा था। इसके अन्दर जली हुई अस्थियाँ थीं। परई में रखे गये वस्तुओं की सामग्री का आकलन नहीं हो सका क्योंकि उसमें मिट्टी भर गई थी। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि उसमें भी धातु अवशेष ही रहे होंगे।

दक्षिणी कोष्ठक में परइयाँ एवं कलश अलग ढंग से रखे गये थे। ईंटों के ऊपरी रद्दों से ठीक नीचे दो परइयाँ उसी आकार-प्रकार की अगल-बगल रखी हुई मिलीं। ये दोनों ही खण्डित होकर टुकड़े-टुकड़े हो गई थीं। ईंटों के दो रद्दे और हटाने के बाद एक दूसरा सेलखड़ी का कलश मिला जिसका ढक्कन टूटकर तीन टुकड़ों में बँट गया था। इस कलश का व्यास ९ से० मी० तथा ऊँचाई १६ से० मी० थी। यह भी ईंटों एवं ईंटों के टुकड़ों द्वारा चारों ओर से सुरक्षित किया गया था। इसके ढक्कन के टूट जाने के कारण कलश में मिट्टी भर गयी थी जिसको हटाने पर जली हुई अस्थियों के टुकड़े मिले। ये सभी अवशेष 'उत्तर भारतीय कृष्ण परिमार्जित भाण्ड' (एन० बी० पी० डब्ल्यू०) के स्तर पर मिले जिससे इनकी तिथि पर प्रकाश पड़ता है और इन्हें ई० पू० की पाँचवीं-चौथी शताब्दी में रखा जा सकता है। तथा पेप्पे द्वारा गत शताब्दी के अन्तिम वर्षों में प्राप्त धातु-कलश, जिस पर लेख उत्कीर्ण है, ऊपरी स्तर पर मिला था और यह बाद में रखा गया होगा यह स्पष्ट हो जाता है। लेकिन इसके कारण हम श्रीवास्तव जी के इस मत से सहमत नहीं हो सकते कि पेप्पे वाला अभिलिखित धातु-कलश मूल नहीं और उनके द्वारा प्राप्त धातु कलश ही मूल है। वास्तव में दोनों ही के द्वारा प्राप्त किए गये अवशेष भगवान् बुद्ध के ही धातु अवशेष हैं इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। लेकिन यह भी सत्य है कि दोनों ही दो विभिन्न समयों में रखे गये थे। इसकी कथा को अब इस प्रकार समझा जा सकता है।

कुशीनगर में भगवान् के महापरिनिर्वाण के बाद उनके धातु अवशेष को आठ भागों में विभक्त किया गया जिसमें से एक भाग शाक्यों को मिला। शाक्यों ने अपना अंश पुनः प्रभावशाली स्वजनों में बाँट लिया तथा जिन-जिन लोगों को हिस्से मिले उन्होंने अपनी-अपनी स्थिति एवं रुचि के अनुसार धातु अवशेषों को विभिन्न पात्रों में रखकर अपने परिवारों में सुरक्षित कर लिया। शीघ्र ही जब अवशेषों

---

१. **स्टडीज् इन इण्डियन इपीग्रेफी**, भाग २, १९७५, पृ० १०६-८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर स्तूप बनाने की बात उठी तो कुछ ने अपने अंशों को स्तूप में रखना स्वीकार कर लिया और कुछ ने अपने परिवार में पूजा के लिए सुरक्षित रखने का निर्णय लिया। इस प्रकार पहला स्तूप बन गया जिनमें उन पाँच पात्रों को रखा गया जो श्रीवास्तव जी ने अपने उत्खनन में प्राप्त किए। फिर शताब्दियाँ बीत गईं। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के कारण दूर-दूर से आस्थावान पूजा के लिए कपिलवस्तु आने और स्तूप की पूजा करने लगे। इस प्रकार स्तूप की लोकप्रियता बढ़ने लगी थी। दो-तीन शताब्दियों के अन्तराल के बाद स्तूप ढहने लग गया था और उसके पुर्ननिर्माण की एक इच्छा शाक्यों में जगी। यह इच्छा भी अकारण नहीं थी। उसके पीछे सम्राट अशोक की प्रेरणा थी, जिसने, कहा जाता है, पूर्व के बुद्ध के स्तूपों से अवशेष निकलवाकर अनेक नवीन स्तूपों की रचना कराई। श्रीवास्तव का यह अनुमान बिल्कुल ठीक लगता है कि अशोक ने कपिलवस्तु के स्तूप को बिल्कुल नहीं छुआ था।[1] कारण शायद कपिलवस्तु के शाक्यों की अनिच्छा, जागरुकता एवं एवं परम्परागत सामूहिक एकता थी। लेकिन अशोक ने आस-पास के क्षेत्रों का दौरा किया तथा कनकमुनि आदि के स्तूपों को दुगुना बड़ा करवाया। लुम्बिनीं के स्थल पर पाषाण प्राकार बनवाकर स्तम्भ खड़ा करवाया। इससे शाक्यों के अन्दर भी जागृति आई और वे पुराने स्तूप का पुर्ननिर्माण करने में जुट गये। जिन लोगों ने अपने अंश के अवशेष पहले के स्तूप निर्माण के समय नहीं दिये थे और जिनके परिवारों में परम्परागत रूप से ये अवशेष अभी भी रखे हुए थे उन सभी लोगों ने स्तूप में रखवाने का निर्णय लिया होगा। इस प्रकार नवनिर्माण के समय समस्त शाक्यजनों ने इसमें अत्यन्त उत्साह पूर्वक भाग लिया और जिसके पास जो भी वस्तु मिली, स्तूप में रखवाने में होड़ लगा दी। इसी कारण पेप्पे के द्वारा प्राप्त पाषाण पेटिका सैकड़ों वस्तुओं से भरी पड़ी है। सम्भवतः प्रत्येक परिवार ने कुछ न कुछ दिया। पीढ़ियों बाद सुकिति ने भी अपने परिवार में परम्परा से चले आ रहे धातु-कलश को स्तूप में रखवाया। किन्तु अब यह परिवार बड़ा हो गया होगा तथा उसमें उसके भाई गण, बहनें, पुत्र, स्त्रियाँ (पत्नियाँ) आदि सभी का भाग रहा होगा। अतः सभी की सम्मति से सभी के द्वारा भगवान् बुद्ध शाक्यमुनि का शरीर निधान इस रूप में रखा गया। इस समय तक शाक्यमुनि बुद्ध भगवत (भगवान्) बन चुके थे। अशोक के लिपि सम्बन्धी अभियान का भी इस पर प्रभाव पड़ा और सुकिति ने अपने धातु-कलश के ढक्कन पर लेख लिखवाया। लिपिशास्त्रीय आधार पर यह लेख ई० पू० की तीसरी-दूसरी शताब्दी में रखा गया है, यह हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं। किन्तु अब यह बात पुरातात्विक उत्खनन से भी स्पष्ट हो गई है। कार्बन १४ के माध्यम से की गई तिथि गणना स्पष्टतः भ्रामक है, जिसमें अभिलेख युक्त कलश को शुंग-कुषाण काल में माना गया है—तथा नवीन प्राप्ति को, जो प्रांङ्मौर्य—क्रमशः २२९०±१०० तथा २२५०±१०० वर्ष पुराना बताया गया है।[2]

इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि दोनों ही प्राप्तियों के कलश समान बनावट एवं समान सामग्री से बने हुए हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि दोनों ही प्राप्तियाँ एक ही समय में निर्मित की गई थीं तथा शाक्य परिवारों द्वारा सुरक्षित रखी गई थीं।

इस प्रकार दोनों ही उत्खननों में प्राप्त धातु अवशेष भगवान तथागत के ही हैं इसमें कोई सन्देह नहीं।

---

१. **पूर्वोक्त**, पृ० १०९

२. **दि ओरिजिन ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट**, १९७९, दिल्ली, पृ० ६५, पाद टिंप्पणी १४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महावस्तुगत राज-धर्म : स्वरूप एवं समीक्षा

रामायण प्रसाद द्विवेदी*

महावस्तु बौद्ध संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य काव्य-निधि है। यथा इसके अभिधान (महावस्तु) से निर्दिष्ट हैं, यह लोक-रक्षक कल्याण-मूर्ति भगवान बुद्ध के विगत जन्मों एवं उनके उदात्त कार्यों से सम्बद्ध अवदानों (बौद्ध कथाओं) का एक महनीय ग्रन्थ है। अनेक दृष्टियों से बौद्ध-साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथमतः तो यह अवान्तर कालीन बौद्ध-रचनाओं के लिये उपजीव्य सिद्ध हुआ है। द्वितीय यह तत्कालीन सामाजिक, अर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक स्थितियों पर प्रकाश डालता है। सम्प्रति इसमें वर्णित राजनैतिक-स्थिति एवं राजधर्म की एक झाँकी प्रस्तुत की जा रही है।

काव्य एवं राजनीति का अत्यन्त धनिष्ट सम्बन्ध है। सरस काव्य-कृतियों के माध्यम से राजनैतिक पेचीदगियों एवं बारीकियों के विवेचन के अनेक दृष्टान्त साहित्य-जगत में दृष्टिगत होते हैं। काव्यकार प्रायः राज-दरबारों में ही पल्लवित एवं पुष्पित होते रहे हैं। विश्व के प्रायः समस्त साहित्य में परिदृश्यमान काव्यकार इसके ज्वलन्त निदर्शन हैं। अतएव काव्यकार वर्ग के लिये यह स्वाभाविक है कि वे संरक्षक शासकों को सरस काव्य के माध्यम से, राजनैतिक-सूक्ष्मताओं से अवगत करावें तथा राजनैतिक-गुत्थियों को सुलझाने की सहज शिक्षा दें। महावस्तु भी इसका अपवाद नहीं है।

शासन-दर्शन के समीक्षकों ने राजनीति के विवेचन-प्रसङ्ग में मनुष्य जगत की उन अपुण्य प्रवृत्तियों की समीक्षा की है, जिनके द्वारा वह स्वकीय शक्ति एवं सम्पत्ति के माध्यम से दूसरों के अधिकारों एवं स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करते हुए दृष्टिगत होता है। और कभी-कभी तो इस प्रसङ्ग में नैतिक-नियमों एवं मानवता का उल्लंघन भी अवलोकित होता है। प्रशासकीय सत्ता की अपेक्षा इसी प्रसङ्ग में होती है, ताकि सामाजिक अनियमितताओं एवं निरंकुशताओं का अपनयन किया जा सके तथा मानवीय-कर्तव्यों का संयमन, अधिकारों का संरक्षण और जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा सम्भावित हो सके। इसी हेतु शासन-पद्धतियों में दण्ड-विधान का प्रयोग परिलक्षित होता है और इसी के द्वारा शासक-वर्ग मानवीय कुप्रवृत्तियों का नियमन एवं उसकी स्वच्छन्दता की व्यवहृतियोंपर अंकुश लगा सकता है तथा सामाजिक मान-मर्यादाओं की रक्षा कर सकता है। और इस प्रकार प्रत्येक मानव समाज में निज अधिकार की रक्षा, कर्तव्य का पालन तथा सुख एवं शान्ति के स्थापन में योग-दान कर सकता है। इस प्रकार राष्ट्र अथवा देश विशेष का अभ्युदय सम्भाव्य होता है। ऐसी विचार-धारा प्रायः सभी देशों में परिलक्षित होती है। प्राचीन शासन-वेत्ताओं एवं विचारकों ने इसका पूर्ण विमर्शन किया। भारतीय अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्र से सम्बद्ध कृतियाँ इसका सबल साक्ष्य हैं और इसकी विवेचना विविधयुगों की कृतियों में भी हुई है। उपर्युक्त राजनैतिक विचार-पद्धति महावस्तु में भी दृष्टिगत होती है।

राजनियुक्ति

राजवंश[1] के अन्तर्गत कोलिय एवं शाक्य राज-वंशों के वृत्तान्त-प्रसङ्ग में प्रशासकीय असमर्थता के कारण तत्कालीन शासन में विद्यमान असत्य, चौर्य एवं हिंसा, इन तीन कुप्रवृत्तियों का उल्लेख मिलता है। समाज-विरोधी इन तत्त्वों के आधिक्य के फल-स्वरूप प्रजावर्ग में अन्याय एवं असदाचरण होने लगते हैं तथा प्रजा संत्रस्त होकर यत्र-तत्र भटकने लगती है। ऐसी परिस्थिति में बुद्धिजीवीवर्ग एकत्र होता है, परस्पर विचार विमर्श करता है और अन्ततोगत्वा अपने मध्य से, सर्वोत्तम एवं विश्वस्त व्यक्ति का राजा के रूप में चयन करता

---

* संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. **महावस्तु,** भाग १, पृ० ३४७–३४८ (कलकत्ता संस्करण)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। उनके द्वारा उसके सम्मुख ऐसा उद्‌गार अभिव्यक्त किया जाता है: 'श्रीमान आप सर्वथा समर्थ हैं, हमारे मध्य दण्डनीय को दण्ड एवं पुरस्करणीय को पुरस्कृत करने में सक्षम हैं। हम सभी एक मत से आपको अपना प्रधान मानते हैं।' इस प्रकार उसके समक्ष उनके अन्य उद्‌गार भी हैं—'हम लोग अपने धान्य का षष्ट-अंश आपको देने के लिये समुद्यत हैं।'

महावस्तु में इस बात का भी उल्लेख है कि महीपति को 'महासम्मत' पद से मण्डित होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि वह ऐसा व्यक्तित्व हो, जो विपुल जन-समुदाय द्वारा चयनित किया गया हो। ऐसा शासक ही प्रजा के धान्यांश का अधिकारी होता हैं। वह 'मूर्धाभिषिक्त' एवं 'राज्य-संरक्षण' में सर्वथा सक्षम होता है। उसे 'जनपदस्याम-वीर्य-प्राप्त' कहा जाता है। वह राष्ट्र-शक्ति एवं दृढ़ता से सम्पन्न होता है और वस्तुतः वह प्रजा का पिता तथा उसका रक्षक होता है।

उस मूर्धाभिषिक्त की भी प्रजा के समक्ष यह उद्‌घोषणा होती है—'मैं एक राजा हूँ, एक उदात्त क्षत्रिय हूँ तथा मैं ऐसा व्यक्तित्व हूँ, जिसे राष्ट्र की समग्र शक्ति तथा दृढ़ता उपलब्ध है और जिसके ऊपर सभी की सुरक्षा का उत्तरदायित्व आधृत है।'

महावस्तु में वर्णित उक्त राजोत्पत्ति अथवा राज-नियुक्ति-सम्बन्धी विवेचनों की समता कौटिल्य के अर्थशास्त्र[१] के एतत्सम्बन्धी वर्णनों के साथ कर सकते हैं। दोनों इस बात पर बल देते हुए दृष्टिगत होते हैं कि राजा का प्रमुख कर्तव्य है प्रजा का पुत्रवत् परिपालन।

भारतीय राजनीति के प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि उदात्त क्षत्रिय ही प्रायः राज-पदाधिकारी हुआ करते थे अथवा पैतृक उत्तराधिकार के रूप में उन्हें ही राज्यासन प्राप्त हुआ करता था। किन्तु महावस्तु का उल्लेख इसका अपवाद है, जहाँ मिथिला के एक ब्राह्मण-भूपति का वर्णन मिलता है। वह विदेह में शासन करता था।[२]

प्राचीन राजनीति के ग्रन्थों में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि प्रायः राजा के ज्येष्ठ कुमार को ही ज्येष्ठत्व के कारण राज्य का उत्तराधिकारी होना चाहिए। किन्तु महावस्तु में इस परम्परा में व्यतिक्रम दीखता है जहाँ ज्येष्ठ भ्राता द्वारा शासन-सत्ता एवं अधिकार का अनुज के निमित्त परित्याग किया गया है। इस ग्रन्थ में राजा के उस अधिकार का भी निर्देश मिलता है, जिसके द्वारा वह निज अनुपस्थिति में अपने अन्य भ्राता की शासकीय कार्य संचालन हेतु नियुक्ति कर सकता है।[३] इसमें ऐसा उल्लेख भी मिलता है, जहाँ पुत्रहीन राजा द्वारा राजकुल के किसी अन्य राजकुमार को वात्सल्यस्नेह प्रदान कर, उसके साथ अपनी राजकुमारी का विवाह-संस्कार कर सकता है। उक्त जामातृ को वह निज आमात्यगण एवं प्रजावर्ग की मंत्रणा तथा उनके अनुमोदन द्वारा अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकता है।[४]

महावस्तु में दो शत्रु राजकुलों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा पारस्परिक विरोध का दूरीकरण कर संधि स्थापन का भी उल्लेख मिलता है। साथ ही इसमें ऐसा भी उल्लेख है, जिसमें यह निर्दशित है कि किस प्रकार दासी के गर्भ से प्रादुर्भूत राजपुत्र को राजाओं की मंत्रणा द्वारा राजा का उत्तराधिकार प्रदान किया गया है।[५]

राजकीय कर्तव्य

प्रायः समस्त प्राचीन राजनीतिवेत्ताओं ने 'राजा रञ्जनात' के कथन को समर्थित करते हुए इस बात पर बल दिया है कि राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य प्रजा का सर्वविधि अनुरञ्ज करना ही है। राजा के लिये यह परमावश्यक है कि वह प्रजा का हित चिन्तन तथा शासन व्यवस्था का समुचित संचालन करे। उसका द्वितीय कर्तव्य यह है कि वह प्रतिवेशी

---

१. **अर्थशास्त्र** १, १३.
२. **महावस्तु,** भाग ३, पृ० १७२.
३. **वही,** पृ० १५.
४. **वही,** पृ० ४०.
५. **महावस्तु,** भाग १, पृ० ३४८–३४९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्यों साथ ही दूरवर्ती राष्ट्रों एवं देशों की गति विधियों का निरीक्षण करे और उनके क्रिया-कलापों के प्रति सतर्क रहे। उसे इस बात के लिए सदैव सावधान एवं सचेत रहना चाहिये कि आवश्यकता पड़ने पर, किसी भी समय, वह शत्रुवर्ग एवं उनकी विरोधी प्रक्रियाओं का सफलता पूर्वक सामना कर सके : यहाँ तक कि युद्धस्थल में उतरने का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर आक्रामकों का डट कर मुकवला कर सके।

महावस्तु में राजा के कर्तव्य एवं उसकी शासकीय विशेषताओं का अनेक संदर्भों में उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ के 'त्रिशकुनी जातक' द्वारा राजधर्म पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। इसमें तीन मेधावी शकुन्तों (उलूक, सारिका एवं शुक) द्वारा मानवीय शब्दों में काशिराज को तीन उपान्त व्याख्यानों के माध्यम से राजधर्म का सुन्दर उपदेश प्रदान किया गया है।[1] इनमें से प्रथम व्याख्यान का वक्ता उलूक है, जिसमें यह शिक्षा दी गयी है कि यदि शासक ज्ञानसम्पन्नता एवं आध्यात्मिक सुख की कामना करता है तो उसे निज क्रोध का निवारण करना चाहिए क्योंकि क्रोधाभिभूत व्यक्ति धर्मार्थ की प्राप्ति नहीं कर सकता है।[2] उसे स्वीकीय इच्छानिच्छा एवं दबाव या भय के वशीभूत होकर कोई निर्णय सहसा नहीं लेना चाहिये। उसके द्वारा कलह विशेष का न्यायोचित समाधान तब तक सम्भाव्य नहीं हो सकता जब तक कि वह उभय पक्ष के साक्षियों का सम्यक समीक्षण नहीं कर लेता।

भौतिक सुखों के प्रति स्वतः अनासक्त रह कर, उसे प्रजा की ही सुख सुविधा के प्रति सदा आसक्त रहना चाहिए। उसकी नीति ऐसी होनी चाहिए, जिसमें दीन हीन प्रजा के लिये उसके अन्तस् में अधिक स्थान हो। किन्तु धनिक वर्ग के प्रति भी उसमें स्नेहाभाव नहीं होना चाहिए। उसे प्राशासनिक गुप्तताओं के संरक्षण के प्रति सतत सजग तथा अप्रासङ्गिक वार्ताओं से विमुख रहना चाहिए। शासक के लिये प्रतिद्वन्दी राजाओं के प्रति शत्रुभाव की अपेक्षा, भ्रातृभाव का व्यवहार ही सदा श्रेयष्कर है। उसे इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि सैनिक शक्ति एवं प्रजा के सहयोग पर ही शासन की बागडोर आधृत हुआ करती है। धर्म (कर्तव्य) का संचालन उन्हीं के बल पर सम्भाव्य है। उसे चाहिए कि प्रत्येक क्रियाकलाप का निरीक्षण अपनी आँखें खोल कर करे और राजकीय कोश एवं प्रजा के धन-धान्य का ध्यान रखे। राजा को यह कभी भी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि उसके सत्कार्यों पर ही राष्ट्र की सम्पन्नता, लोकप्रियता एवं उसका अभ्युदय आधृत है। इन्हीं कर्तव्यों के परिपालन से राजा इस लोक में सुख, यश आदि एवं परलोक में परमानन्द की प्राप्ति कर सकता है।[3]

द्वितीय व्याख्यान सारिका द्वारा दिया गया है, जो राजनैतिक सिद्धान्तों से सम्बद्ध है। प्रत्येक राष्ट्र की दृढ़ता के दो प्रमुख आधार-तत्त्व हैं : १—अनर्जित राजकीय सम्पदाओं का अर्जन तथा २—नूतनार्जित सम्पदा एवं अधिकारों का परिरक्षण। अतएव राजन्यवर्ग का कर्तव्य है धर्मानुकूल अलब्ध के लाभार्थ सतत् उद्योग एवं लब्ध की सुरक्षा का समुचित प्रयास।[4]

शासक को इस बात की भलीभाँति अवगति होनी चाहिए कि उसे किसे दण्डित एवं किसे पुरस्कृत करना है, किसे अपने पक्ष में लाना एवं किसके प्रति अपनत्व भाव का प्रदर्शन करना है। उसे चाहिए कि वह अपने उस पुत्र या भ्राता की नियुक्ति दूरवर्ती ग्रामों, नगरों अथवा सीमावर्ती क्षेत्रों में न करे, जिसका

---

१. **महावस्तु**, भाग१, पृ० २८१-२८२.

२. क्रोधस्य वसं गच्छे स तु क्रोधं निवारयेत्।
नहि क्रुद्धस्य अर्थोवा धर्मोवाक्रमति पार्थिव ॥ **वही**, गाथा ६, पृ० ३४८.

३. द्विभिस्तु पादकैस्तात अत्र लोकः प्रतिष्ठितः।
अलब्धलाभो अर्थस्य लब्धस्य परिरक्षणम् ॥
तस्मादर्थस्य लाभार्थं लब्धस्य परिरक्षणे।
दृढ़ं कुर्यासि व्यायामं धर्मेण मनुजाधिप ॥ **महावस्तु**, गाथा ३८-३९, पृ० ३५२.

४. **महावस्तु**, भाग १, गाथा ४०—६१, पृ० ३५३-३५६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वभाव अनुग्र, अक्षम अथवा असद् हो। राजा राज-सम्पत्ति के भागी अधिकारियों से द्वेष न करे, अन्यथा वे ही प्रबल शत्रु का रूप धारण कर लेते हैं। उसे चाहिए कि वह सदा निज साधनों की वृद्धि के लिए ही प्रयत्न करे। उसका ध्यान सदा बुद्धि, शक्ति एवं सम्पत्ति सम्पन्नों को आत्मीय बनाने के प्रति होना चाहिए जिनका साहाय्य शासन के निमित्त नितान्त अपेक्षित है। वह अमात्य पदों के हेतु उनका ही चयन करे, जो सच्चे राजनीतिज्ञ, सर्वविधिविश्वस्त एवं कुशल तथा प्रजा-प्रतिनिधि (परिनायक) हों। शासक के लिये यह आवश्यक है कि वह सबल एवं सफल गुप्तचर विभाग की स्थापना करे। उसे चाहिए कि प्रमुख प्रासाद-सैनिक (प्रतिहार) पद पर ऐसे व्यक्तित्व का संयोजन करे, जो सर्वथा बुद्धिमान, विश्वस्त, सावधान एवं उसकी सुविधा तथा संरक्षण के प्रति पूर्ण उत्तरदायी हों।[1]

तृतीय व्याख्यान का वक्ता शुक है, जिसने राजा के पञ्च शक्ति-स्रोतों : १–सहजबलम्, २–पुत्रबलम्, ३–जातिमित्रबलम्, ४–चतुरङ्गबलम्, तथा ५–प्रजाबलम् का निर्देश किया है।[2] इनमें निज प्रज्ञाबल एवं मन्त्रिबल ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अल्पज्ञ राजा की प्रजा उससे उदासीन होकर, अन्य प्रभु-सत्ता के लिये इच्छुक हो जाती है। उस राजा का प्रधान धर्माधिकारी समावृत होता है, जो राज्य के उच्च पदों पर शूर, साहसी एवं विवेकी व्यक्तियों की नियुक्ति करता है। राजाके अत्यावश्यक कर्तव्यों का निर्देश करते हुए शुक ने उसकी सत्य-वादिता एवं सदाचारिता पर विशेष बल दिया है, जिसमें अशोककालीन राजनैतिक-क्षेत्र के सदाचार एवं धर्म की ध्वनि गूँजती हुई दीखती है। अन्त में राजकीय परिवार उसके माता-पिता, पत्नि-पुत्र, मन्त्रि एवं धर्माधिकारी, ब्राह्मण-वर्ग तथा प्रजा समाज के भी सत्याचरण का निर्देश है,[3] जिसकी समता अशोक के अभिलेखों में वर्णित धर्म-राज्य के सिद्धान्तों और कौटिल्य के राजनैतिक दृष्टिकोण एवं सिद्धान्तों के साथ की जा सकती है। यह संक्षिप्त समीक्षण महावस्तु में वर्णित राजनीति के विविध पक्षों तथा राजधर्म पर प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त है।

---

१. **वही**, गाथा ६५–६६, पृ० ३५७।
२. **वही**, भाग १, गाथा ६७–८३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रारम्भिक बौद्धसंघ में नागर एवं ग्रामीणों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व[1]

सीताराम दुबे*

प्रारम्भिक बौद्ध संघ के सामान्य अध्ययन से यह सुविदित है कि यह चारिका प्रधान, धर्म प्रचारक भिक्षुओं का एक सुव्यवस्थित संगठन था। वैसे तो बौद्ध संघ का आशय मात्र भिक्षु-भिक्षुणियों से ही लेना चाहिए, किन्तु रोचक है कि पालि वाङ्मय में भिक्षु-भिक्षुणियों के समान ही उपासक-उपासिकाओं का भी महत्व कल्पित है और बौद्ध चतुष्परिषद में इन चारों, भिक्षु-भिक्षुणियों एवं उपासक-उपासिकाओं, का उल्लेख है।[2] अतः भिक्षु संघ का आशय भिक्षु-भिक्षुणियों एवं उपासक-उपासिकाओं के समग्र संगठन से लेना चाहिए। पालि वाङ्मय में बुद्ध एवं बौद्ध भिक्षु तत्कालीन विभिन्न जनपदों के नगर, निगम एवं ग्रामों में चारिका करते और उपदेश देते वर्णित हैं। बुद्ध एवं बौद्ध भिक्षुओं के उपदेश और वार्ता से प्रभावित अधिकांश श्रोताओं के भिक्षु-भिक्षुणी और उपासक-उपासिका के रूप में दीक्षा लेने का उल्लेख है। इन उल्लेखों से बौद्धों में नगर एवं ग्रामीण जनों के आनुपातिक प्रतिनिधित्व के प्रति जिज्ञासा सहज स्वाभाविक है। सौभाग्यवश प्राचीन पालिसाहित्य में बुद्ध एवं बौद्ध भिक्षुओं की चारिका और धर्म प्रचार के सन्दर्भ में व्यक्तियों, सामाजिक वर्गों और स्थानों आदि के नाम सुरक्षित हैं जिनके सम्यक् विवेचन के आधार पर नागर एवं ग्रामीणों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व सम्बन्धी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हमने समय की दृष्टि से प्रारम्भिक बौद्ध संघ का आशय अशोक-पूर्व के बौद्ध संघ से लिया है।[3] इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमने प्रारंभिक पालि साहित्य को आधार माना है, और इसके लिये समग्र विनयपिटक तथा धम्मपद जैसे ग्रन्थों से सामग्री संकलन किया है।[4] ऐसे उदाहरणों को भी आधार बनाया गया है जिनमें भिक्षु या उपासक के रूप में दीक्षा के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

---

* प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, डा० हरिसिह गौड़ विश्वविद्यालय, सागर, (म० प्र०)।

१. प्रस्तुत शोध पत्र गुरु-द्वय प्रोफेसर कृष्णकुमार सिनहा एवं प्रोफेसर जगदीश नारायण तिवारी की प्रेरणा का सुफल है।

२. **अङ्गुत्तर निकाय**, ८.१.८.१२ (उत्तरविपत्तिसुत्त), **दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्त; संयुक्तनिकाय,** ५५.१० (ततियगिञ्जिकावसथ सुत्त)।

३. वास्तव में सद्धर्म के इतिहास में बुद्ध से लेकर अशोक-पूर्व तक का यह समय एक इकाई के रूप में कल्पित किया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि इस अवधि में सद्धर्म प्रायः पूर्वी भारत तक ही सीमित था और इसी क्षेत्र में संघ का प्रारम्भिक प्रचार, प्रसार तथा संगठन हुआ। अशोक के राज्यकाल से बौद्ध धर्म का नया युग प्रारम्भ होता है। यह अनेक दृष्टियों से तथा संघ के इतिहास की दृष्टि से भी, अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा रोचक है, और स्वतंत्र अध्ययन का विषय है। सद्धर्म के प्रचार, प्रसार, निकाय भेद तथा उसमें समय-समय पर जुटे विभिन्न आयामों को दृष्टि में रखकर, अनेक विद्वानों ने सद्धर्म के २५०० वर्षों को विभिन्न कालावधियों में सन्निविष्ट करने का प्रयत्न किया है। (तुलनीय, नारायण, अ० कि०, **इण्ट्रोडक्टरी, टूवर्ड ए न्यू हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म;** नारायण, अ०कि० (सम्पादक) **स्टडीज इन दि हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म**, (दिल्ली, १९८०) पृ० १९ और आगे)। किंतु उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के सभी सामयिक विभाजनों के पीछे सुविधा का दृष्टिकोण भी स्वीकार करना चाहिए क्योंकि कोई निश्चित हेतुभूत प्रत्यय ढूंढना अत्यन्त कठिन है।

४. विनय एवं सुत्तपिटक के सामान्य अध्ययन से आभास होता है कि ये किसी काल विशेष के परिणाम नहीं थे, अपितु सदियों के प्रयास के सुफल थे। यद्यपि इनका ठीक-ठीक कालनिर्धारण तो सम्भव नहीं, पर इनके अधिकांश भाग को प्रायः प्रथम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त उदाहरणों में अनेक के विषय में तो प्राचीन स्थलों में ही प्रचुर आवश्यक सूचनाएँ हैं, परन्तु वर्णित नामों में से अधिकांश के विस्तृत परिचय की सूचना अट्ठकथा साहित्य में भी सुरक्षित है। उनके उत्तरकालीन होने के नाते उनसे प्राप्त परिचय पर किञ्चित शंका तो बनी रहती है, पर उन्हें सर्वथा असत्य मानकर तिरस्कृत भी नहीं किया जा सकता। थेर-थेरी गाथा पर धम्मपाल की अट्ठकथा में प्राप्त सूचनाएँ इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि विनय और निकायों की सर्वाधिक प्रामाणिकता को मूलाधार बनाया गया है और उत्तरकालीन सूचनाओं को उन्हीं की कसौटी पर परीक्षण कर अध्ययन में स्थान दिया गया है। यह तो स्पष्ट है कि हमारे अध्ययन में प्रस्तुत अधिकांश उदाहरण बुद्ध के जीवन काल से जुड़े हैं, परन्तु हमने ऐसे उदाहरणों को भी स्थान दिया है जो बुद्ध के मरणोपरान्त उपासक या भिक्षु बने और जिन्हें अशोक-पूर्वकाल में रखा जा सकता हैं। थेर-थेरी से सम्बद्ध उन सभी भिक्षु-भिक्षुणियों का अध्ययन का माध्यम बनाया गया है जिनकी गाथाएँ सुरक्षित हैं, जिनका इन गाथाओं में यत्र-तत्र प्रसंगवश उल्लेख आ गया है तथा जिन्हें अध्ययन की अवधि में निरपवाद सन्निविष्ट किया जा सकता है। इसी कारण वीताशोक और तेकिच्चकारि जैसे भिक्षुओं और इसिदासी जैसो भिक्षुणियों को उनकी गाथा सुरक्षित होने तथा बौद्ध परम्परा में उनकी निश्चित पहचान होने के बावजूद प्रस्तुत अध्ययन से बाहर रखा गया है,[1] क्योंकि प्राचीन स्रोतों से इसका नाम समर्थित नहीं है और उपलब्ध रूप में उनकी गाथाओं के अशोकोत्तर होने की शंका व्यक्त की गई है। इसी प्रकार उन भिक्षु-भिक्षुणियों को भी स्थान नहीं प्राप्त हो सका है जिनका मात्र अट्ठकथा साहित्य में ही उल्लेख है।

हमने अपने अध्ययन प्रस्तुतीकरण के लिये संख्यात्मक परिगणना का सहारा लिया है। किन्तु इस अध्ययन की भी सीमाएँ हैं। प्रारम्भ में ही यह शंका स्वाभाविक है कि सद्धर्म में दीक्षित सभी भिक्षुओं और उपासकों के नाम सुरक्षित नहीं हैं। इसी प्रकार जिनके उल्लेख सुरक्षित हैं, उनमें भी सबके सम्बन्ध में नाम, स्थल-क्षेत्र इत्यादि की निश्चित पहचान उपलब्ध नहीं है। अनेक स्थलों पर केवल संख्या का निर्देश है।[2] इनमें भी बहुत से उदाहरणों में तो संख्याएँ निश्चित ही

संगीति से लेकर अशोक के काल के बीच रखा जा सकता है। दृष्टव्य, पाण्डेय, गोविन्द चन्द, **स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म,** (इलाहाबाद, १९५७) अध्याय १, विशेषकर पृष्ट ७,८ और आगे)। यद्यपि निकायों के स्तरीकरण के बारे में मतभेद है, किंतु कुछ गिने-चुने अपवादों को छोड़ दें तो यह सत्य है कि सम्पूर्ण प्रथम चार निकाय तथा खुद्दक निकाय की प्राचीन सामग्री सामान्यतया प्राङ्मौर्यकालीन घटनाओं, जीवन और विचारों को प्रदर्शित करती है। (तुलनीय, वैशम, ए० एल०, "दी बैकग्राउण्ड टू दी राइज आफ बुद्धिज्म" नारायण अ० कि० (सम्पादक), **स्टडीज इन दि हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म**, पृष्ट २३–२४; उपाध्याय भरत सिंह, **पालि साहित्य का इतिहास,** (प्रयाग, संवत् २००८) पृ० १७९ और आगे)।

१. श्रीमती रीस डेविड्स, **साम्स आफ अर्ली बुद्धिज्ट्स**, जिल्द २ ब्रेदरेन (लंदन, १९६४), भूमिका भाग पृ० २१ एवं जिल्द १, सिष्टर्स (लंदन, १९६४) भूमिकाविभाग, पृ० २२ और आगे, गाथा ७२, १४५ एवं २११; थेर-गाथा, गाथा ५३७–४६; देखें, मलाल शेखर, **डिक्शनरी**, (दो जिल्दों में, **पालि टेक्स्ट सोसइटी**, लंदन, १९६०), जिल्द १, पृ० ३२३ और १०२३ भी।

२. यथा वाराणसी के श्रेष्ठी यश के ५० मित्र-संबंधी, (**विनय, महावग्ग,** १.१०) २० नवयुवक भद्रवर्गीय, (**विनय, महावग्ग,** १.४१)। इसी प्रकार स्थल-स्थल पर एक-एक करके अनेक ब्राह्मणों के भी संघदीक्षा का उल्लेख है, उनमें बहुतों का क्षेत्र-स्थल भी ज्ञात है और जो वर्णित रूप में स्वाभाविक भी लगता है पर उनके नामाभाव के कारण पुनरावृत्ति भय से उन्हें अध्ययन में सम्मिलित नहीं किया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतिशयोक्तिपूर्ण[1] एवं कुछ उदाहरणों में तो विभिन्न व्यक्तियों द्वारा श्रद्धा व्यक्त करने और सद्धर्म को विविध रूपों में सहायता का उल्लेख तो है परन्तु उनकी दीक्षा का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता।[2] हमने अपने अध्ययन में उन्हीं भिक्षु-भिक्षुणियों या उपासक-उपासिकाओं को सम्मिलित किया है जिनके नाम और क्षेत्रस्थल सहज ज्ञात हैं, तथा प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में जिनकी दीक्षा का स्पष्ट उल्लेख है। इस प्रकार के अध्ययन की अनेक कठिनाइयों और उनके निराकरण हेतु अपनाई गई पद्धति का विवेचन नीचे किया जा रहा है।

नागर भिक्षुओं एवं उपासकों में राजधानियों और नगरों-उपनगरों से सम्बद्ध लोगों को तथा ग्रामीणों में, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ग्राम से सम्बन्धित भिक्षुओं एवं उपासकों को सम्मिलित किया गया है। नगर और ग्राम में परिभाषा की दृष्टि से स्पष्ट भेद करना सम्भव नहीं प्रतीत होता। परन्तु प्रस्तुत अध्ययन में यह विशेष कठिनाई नहीं उपस्थित करता, क्योंकि भिक्षुओं–उपासकों को स्पष्टतः प्रायः नागर विशेषण से सम्बद्ध कर दिया गया है, अथवा स्पष्ट शब्दों में उन्हें अमुक–अमुक गाँव का कहा गया है। इसी प्रकार यह उल्लेखनीय है कि बुद्ध के युग के आस–पास नगरों के भी विविध प्रकार थे। दीघनिकाय के महापरिनिब्बान सुत्तन्त में जहाँ आनन्द द्वारा बुद्ध के परिनिर्वाण के लिये अधिक उपयुक्त कुछ गिने–चुने महानगरों का उल्लेख है, उसी स्थल पर नगरों के विभिन्न प्रकारों के भी वर्णन हैं। परन्तु प्रस्तुत अध्ययन में भिक्षुओं–उपासकों के सम्बन्ध में इस प्रकार का भेद करना सम्भव नहीं है, क्योंकि न केवल उपर्युक्त प्रकार के नगरों की स्पष्ट परिभाषा करना प्रायः असम्भव है, बल्कि भिक्षुओं–उपासकों के सम्बन्ध में ऐसी विस्तृत और असंदिग्ध सूचनाएँ भी नहीं प्राप्त होतीं। अतः हर प्रकार के नगरीय क्षेत्र के व्यक्तियों को एक ही वर्ग में रखा गया है।

नामधारी भिक्षुओं में से भी कुछ के निश्चित आवास–निवास सर्वथा अज्ञात हैं और कुछ के लिये निरापद रूप से यह कह पाना कि वे नागर है अथवा ग्रामीण, सम्भव नहीं है। सारिपुत्र-मौद्गल्यायन भी रोचक उदाहरण हैं। जन-स्थान और कुल-परिवार की चर्चा में इनके ग्राम का तो स्पष्ट उल्लेख है, परन्तु सद्धर्म में दीक्षित होने से पूर्व ये प्रायः राजगृह के ही निवासी थे और संजय परिव्राजक की शिष्य मण्डली के सदस्य थे। सुविधा की दृष्टि से ऐसे भिक्षु या

---

१. यथा, काश्यप बन्धुओं के १००० शिष्य (**विनय, महावग्ग**, १.१५; १.२०.२०; १.२१) संजय परिव्राजक के २५० शिष्य (**विनय, महावग्ग**, १.२३ एवं १.२४) एवं शैल ब्राह्मण का अपने शिष्यों के साथ दीक्षा आदि। इन संख्याओं को किस सीमा तक सत्य एवं ऐतिहासिक माना जाये यह विवाद का विषय है, कभी-कभी तो ब्राह्मणों के ग्राम के ग्राम का उपासक रूप में दीक्षा का उल्लेख है। अतः इन असमंजसपूर्ण सूचनाओं का संख्या-परिगणना में सदुपयोग नही किया गया है। किन्तु प्राचीन पालिसाहित्य वर्णित दीक्षित भिक्षु-भिक्षुणियों एवं उपासक-उपासिकाओं की संख्या एवं उनके दीक्षागत कथानकों में चाहे जितनी अतिरञ्जना हो पर नामधारी दीक्षितों की ऐतिहासिकता में संदेह करने का कोई उचित कारण नहीं प्रतीत होता; तुलनीय, डियांग, जे० डब्ल्यू०, "दी बैकग्राउण्ड आफ अर्ली बुद्धिज्म, **जर्नल आफ इण्डियन एण्ड बुद्धिष्ट स्टडीज**, जिल्द १२, (१९६४) पृ० ४५; **डी० डी० कोशाम्बी, कामोरेशन वाल्यूम**, (सम्पादक लल्लनजी गोपाल), बी० एच० यू०, वाराणसी, १९७७, पृ० ५५–६५ में पुनर्मुद्रित) और इसीलिये इन नामों का आवश्यक सतर्कता के साथ अध्ययन में सन्निवेश है।

२. यथा, सुनीथ एवं वस्सकार। रोचक है कि प्रारम्भिक पालिसाहित्य में इनके बुद्ध एवं बौद्ध भिक्षुओं के प्रति श्रद्धालु होने, उन्हें भोजनादि पर आमंत्रित करने तथा विविध रूपों में सहायता करने का उल्लेख तो है, पर त्रिशरण-गमन द्वारा उपासक होने का उल्लेख नहीं है; (देखें, **दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्तन्त**; अतः इन्हें अध्ययन में स्थान नहीं दिया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपासकों को उनके मूलस्थल से ही सम्बन्धित किया गया है।[३] कुछ ऐसे भिक्षु भी हैं जिनके निवास का प्रत्यक्ष ज्ञान तो नहीं है, परन्तु मित्रों-सम्बन्धियों के निवासस्थल के ज्ञान के आधार पर उनके प्रारम्भिक आवास का भी निर्धारण सम्भव है, यथा अचेलकस्सप।[४]

विवाहित भिक्षुणियों या उसासिकाओं के सम्बन्ध में यह कठिनाई है कि उन्हें पितृ-गृह वाले स्थान से सम्बन्धित किया जाय अथवा पति-गृहवाले स्थान से। ऐसी अवस्था में जो कुछ प्रधान प्रतीत हुआ है, सुविधा की दृष्टि से उन स्त्रियों को उसी कुल के निवास स्थल से सम्बद्ध किया गया है।[५] कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जिन्हें मात्र सम्भावना के आधार पर किसी स्थल विशेष से सम्बन्धित किया गया है, यथा बेलट्ठ-कच्चान। बुद्ध से इनकी भेंट राजगृह जाने वाले मार्ग पर हुई जब यह गुड़ से लदी अपनी ५०० गाड़ियों के काफिले के साथ थे।[६] अतः इनके बड़ा व्यापारी होने का अनुमान कर इन्हें नागर क्षेत्र से ही सम्बंधित किया गया है।

उपरोक्त शैली से सांख्यिक परिगणना करने पर निम्न-लिखित तालिका प्रकाश में आती है—

	भिक्षु	भिक्षुणी	उपासक	उपासिका
नागर	२२८	६३	९०	२६
ग्रामीण	२८	४	११	२

इस तालिका से स्पष्ट होता है कि नागरों का बौद्ध चतुष्परिषद में प्राधान्य था। नागर भिक्षु-भिक्षुणियों तथा उपासक-उपासिकाओं की सम्मिलित संख्या ४०७ है, जबकि उनकी तुलना में ग्रामीणों की संख्या मात्र ४५ हैं। संदर्भवश उल्लेखनीय है कि ये ग्रामीण कोशल, बज्जि, मगध, शाक्य, अवन्ति और कोलिय जैसे जनपदों की राजधानियों और नगरों-उपनगरों के आस-पास के, अथवा राजपथों पर स्थित गिने-चुने ग्रामों से ही सम्बद्ध हैं। नागरों में भी अधिकांश राज-धानियों और उसके आस-पास के क्षेत्रों से ही सम्बद्ध हैं। सम्पूर्ण प्राचीन पालिवाङ्मय के सामान्य अध्ययन से ही यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध एवं बौद्ध भिक्षुओं की चारिका और उपदेश प्रायः जनपदों की राजधानियों और उनके आस-पास के नगरों एवं उपनगरों तक ही सीमित थे। ग्रामीण क्षेत्रों में उनकी चारिका और उपदेश प्रायः नगण्य थे। अतः बौद्ध चतुष्परिषद् में नागरों का प्राधान्य स्वाभाविक ही है।

सामान्यतया भिक्षुओं एवं उपासकों की अपेक्षा भिक्षु-णियों एवं उपासिकाओं की संख्या कम है, परंतु ग्रामीण क्षेत्रों में तो उनकी संख्या और भी कम है। ग्रामीण भिक्षु-भिक्षुणियों में २८::४ का और ग्रामीण उपासक-उपासिकाओं में ११::२ का अनुपात है। इसे स्वाभाविक भी मानना चाहिये क्योंकि नगरों की अपेक्षा गाँवों में अधिक रुढ़िवादिता सम्भव है और यह अनुमान किया जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में सद्धर्म के प्रति स्त्रियों का बहुत कम आकर्षण रहा होगा।

बौद्ध संघ में विभिन्न जाति वर्गों के प्रतिनिधित्व की दृष्टि

१. **विनय, महावग्ग**, १.२३ एवं १.२४; श्रीमती रोस डेविड्स, **साम्स आफ अर्ली बुद्धिष्ट्स**, जिल्द २, ब्रेदरेन, गाथा २५९ एवं २६३ आदि; मलालशेखर, **डिक्शनरी**, जिल्द २, पृ० ११०८ और आगे तथा पृ० ५४१ और आगे।

२. **संयुक्त निकाय**, ४१.९ (अचेलकस्सप सुत्त)।

३. इसी सिद्धांत के आधार पर पटाचारा, चाला जैसी भिक्षुणियों और उपासिकाओं को पितृगृह वाले आवास-स्थल से सम्बद्ध कर दिया गया है (देखें—थेरीगाथा, पृ० ११२ और आगे, श्रीमती रीस डेविड्स, **साम्स आफ अर्ली बुद्धिष्ट्स**, जिल्द १, शिष्टर्स, गाथा ४७; **अङ्गुत्तर निकाय**, १.१४ (ङ०, ११); मलालशेखर, **डिक्शनरी**, क्रमशः जिल्द २, पृ० ११२ और आगे तथा जिल्द १, पृ० ८६३; **थेरीगाथा**, पद्यसंख्या १८२–८८)। इसके विपरीत विशाखा जैसी उपा-सिकाओं (**अङ्गुत्तर, निकाय**, १.१४ (छ २) तुलनीय २.१२.३ एवं ४.१८.६ (आयाचन सुत्त; **संयुत्त निकाय**, १७.१३ (एक पुत्तक सुत्त); विस्तार के लिये देखें, मलालशेखर, **डिक्शनरी**, जिल्द २, पृ० ९०० और आगे) और भद्दा कपिलानी और जैसी भिक्षुणियों (देखें, **थेरीगाथा**, पद्य सं० ६३–६६ और मलालशेखर, **डिक्शनरी**, जिल्द २, पृ० ३५४ और आगे तथा उसके संदर्भ) को पतिगृह वाले स्थान से सम्बद्ध किया गया है।

४. देखें, **विनयपाटिक, महावग्ग**, ६.२६ आदि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से उल्लेखनीय है कि भिक्षु-भिक्षुणियों और उपासक-उपासिकाओं की सम्पूर्ण संख्या में ब्राह्मणों की बहुलता है।[१] नागर-ग्रामीणों के आनुपातिक प्रतिनिधित्व के संदर्भ में विभिन्न जाति वर्गों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व संबन्धी अध्ययन भी सम्भव है। इस प्रकार के अध्ययन से निम्नलिखित दो तालिकाएँ प्रकाश में आती हैं—

(अ) **नागर**

	प्रशासक	ब्राह्मण	श्रेष्ठि-गृहपति	अन्य
भिक्षु	५३	९६	४७	३२
भिक्षुणी	२७	११	१५	१०
उपासक	२०	३२	२६	१२
उपासिका	१०	३	८	५

(ब) **ग्रामीण**

	प्रशासक	ब्राह्मण	श्रेष्ठि-गृहपति	अन्य
भिक्षु	२	२१	२	३
भिक्षुणी	०	४	०	०
उपासक	०	१०	१	०
उपासिका	१	१	०	०

उपर्युक्त दोनों तालिकाओं से नागर तथा ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में भी ब्राह्मणों की आपेक्षिक अधिकता सिद्ध होती हैं। परंतु साथ ही साथ यह रोचक तथ्य भी उजागर होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में ब्राह्मणों की स्थिति का अनुपात नगरीय क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक है। ग्रामीण बौद्ध उपासकों में १० ब्राह्मण हैं, जब कि वैश्य गृहपति वर्ग में मात्र १; शेष वर्गों में तो उनका सर्वथा अभाव है। अतः अन्य जाति वर्गों की अपेक्षा यह संख्या निश्चय ही संतोषजनक कही जा सकती है। प्राचीन पालिसाहित्य में यत्र-तत्र ब्राह्मणों के ग्राम के ग्राम समग्र रूप से उपासक होने की बात विदित है।[२] यदि उक्त उल्लेखों की ऐतिहासिकता आंशिक रूप से भी स्वीकार किया जाये तब ग्रामीण उपासकों में ब्राह्मणों की बहुलता स्पष्ट प्रतीत होती है।

ग्रामीण भिक्षुओं में भी ब्राह्मणों का बहुमत है। जहाँ प्रशासक, वैश्य-गृहपति तथा अन्य वर्ग में क्रमशः २, २ तथा ३ ग्रामीण भिक्षु हैं वहीं ब्राह्मण वर्ग में २१ भिक्षु हैं। यद्यपि सामान्य रूप से भी उपासकों एवं भिक्षुओं में ब्राह्मणों का प्राधान्य विदित है पर यहाँ यह प्राधान्य अधिक अनुपात में पुष्ट होता है। इसी प्रकार जहाँ भिक्षुणियों में संख्या की दृष्टि से प्रशासनिक तथा वैश्य-गृहपति दोनों वर्गों के बाद ब्राह्मण वर्ग का स्थान आता है वहीं ग्रामीणों की तालिका में मात्र ब्राह्मण वर्ग की चार भिक्षुणियाँ हैं, तथा उपासिकाओं में ब्राह्मण तथा प्रशासनिक वर्ग दोनों की संख्या १–१ हैं।

उपर्युक्त अध्ययन से बौद्ध चतुष्परिषद् में नागरों का प्राधान्य सुस्पष्ट है! रोचक तथ्य यह है कि नागर जहाँ जनपदों की राजधानियों और उसके पास-पड़ोस के नगरों उपनगरों से सम्बद्ध थे वहीं ग्रामीण भी प्रायः विभिन्न नगरों उपनगरों के आस-पास के गाँवों के ही प्रतिनिधि थे। जहाँ तक स्त्रियों का प्रश्न है ग्रामीण स्त्रियों का अनुपात नागर स्त्रियों की अपेक्षा बहुत कम हैं। इन तथ्यों को देखते हुए बौद्ध धर्म की नागर पृष्ठभूमि ही स्वीकार करना चाहिए। जाति वर्ग की दृष्टि से, नागर एवं ग्रामीण, दोनों क्षेत्रों में ब्राह्मणोंकी बहुलता हैं। पर ग्रामीण क्षेत्र में ब्राह्मणों की यह बहुलता और अधिक अनुपात में पुष्ट होती है।

---

१. प्रारम्भिक बौद्ध संघ में विभिन्न जाति वर्गों एवं नागर-ग्रामीणों के आनुपातिक प्रतिनिधित्व के विस्तृत एवं ससंदर्भ व्याख्या के लिये देखें, लेखक का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध : **प्रारम्भिक बौद्ध संघ के विकास का एक अध्ययन**, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८२।

२. **संयुत्तनिकाय**, ७.२२ (सोमदुस्स सुत्त), ५५.७ वेलुद्वारेय्य सुत्त; **मज्झिमनिकाय**, नगर विन्देय्य सुत्त और सालेंय्यक सुत्त, **अङ्गुत्तर निकाय** १.७.३ (वेनागपुर सुत्त) इत्यादि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारतीय साहित्य में मृत्तिका पात्र

राजाराम पाल*

प्राचीन भारतीय इतिहास की कतिपय गुत्थियों को सुलझाने के निमित्त साहित्यिक एवं पुरातत्वविद् अलग-अलग प्रयत्नशील हैं। वर्तमान वैज्ञानिक युग की यह माँग है कि दोनों विधाओं के विद्वान अलग दिशाओं में प्रयत्न न कर एकजुट होकर प्रयास करें तो वे गुत्थियाँ आसानी से सुलझ सकती हैं। पिछले कुछ वर्षों से इस दिशा में प्रयत्न अवश्य हो रहा है किन्तु यह नगण्य सा है। पुरातत्व में मृत्तिका पात्रों की प्रचुरता के साथ-साथ उनकी महत्वपूर्ण भूमिका भी है क्योंकि इतिहास केवल राजा-रानी या सम्भ्रान्त व्यक्तियों की कथा मात्र नहीं है वरन वह जन सामान्य की दैनिक चर्चा है। इस दैनिक चर्चा पर अनेक वस्तुएं यथा, सिक्के, मनके, मुहरें, मृण्मूर्तियाँ आदि-आदि प्रचुर प्रकाश डालती हैं। इसी सातत्य में मृत्तिका पात्रों की भी अहम् भूमिका है। इस लेख में हम साहित्य में उल्लिखित पात्रों का प्रयोग के आधार पर पुरातात्विक अन्वेषणों से प्राप्त पात्रों के साथ एक समीकरण प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

साहित्य में वर्णित पात्रों का उनकी उपयोगिता के आधार पर वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—जलपात्र, रसोई पात्र, सुरापात्र, संचयपात्र, मापपात्र, धार्मिक पात्र एवं पुष्प पात्र।

जलपात्र

ऐसा लगता है कि मानव ने सर्वप्रथम पात्रों का निर्माण जल हेतु किया होगा। शतपथ ब्राह्मण में निनाह्य[1] नामक पात्र का उल्लेख जल संचय हेतु किया गया है। इस पात्र को गले तक भूमि के भीतर गाड़कर उसमें जल संचित करते थे। यह सम्भवतः चौड़े मुँह का पात्र होता था जिसे आज नांद कह सकते हैं। आज भी बड़े-बड़े मटके ग्रामीण प्याउओं पर भूमि में गाड़कर उनमें जल संचित करते हैं। सम्भवतः इस क्रिया से जल ठन्डा रहता है। कुम्भ का प्रयोग वैदिक साहित्य में बार-बार आया है। कुम्भ का प्रयोग कूप, नदी, जलाशय आदि से जल लाने के लिए किया जाता था। आज जिस पात्र से जल लाने का कार्य करते हैं उसे घड़ा, गगरी (गयरी) या गगरा आदि कहते हैं। पाणिनि ने ऐसे पात्रों को "उदकपूरयितव्य" कहा है। इस प्रकार के सभी मृतिका पात्रों को कौलाकिका[2] कहा गया है। कौटिल्य ने भी कुम्भ को जलपात्र कहा है। उनका कथन है कि नगरों की प्राचीरों पर वप्र बनाने के लिए कुम्भों का प्रयोग होता था जिसे कुम्भ कुशिका कहा जाता था।[3] इनके अतिरिक्त कुम्भ को द्वारों पर अथवा कार्यालयों पर गर्मी के दिनों में रखा जाता था।[4] नगर परकोटे से सटे हुए नगर रक्षक लोग कुम्भों को भूमि में गाड़ कर रखते थे जो शत्रुओं के लिए खाई का काम करते थे।[5] जैन साहित्य में भी गोलाकार तल वाले कुम्भ एवं उसके लघु संस्करण कुम्भी का उल्लेख है।

पतंजलि महाभाष्य के अनुसार महाभारत में यज्ञ के समय युवती दासियों ने जल से भरे हुए कुम्भ को अपने सिर पर

---

*. उत्खनन एवं सर्वेक्षण अधिकारी, उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन, रोशनुद्दौला कोठी, कैसरबाग, लखनऊ।

१. **श० ब्रा०**, ३।९।२।८।

२. **अष्टाध्यायी** ६.३.५९., ४.३.११८।

३. **कौ० अ०**, २.३।

४. **वही**, ३. ११।

५. **वही**, १२.३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रखकर मर्जलोय मण्डप के उत्तर में नृत्य किया था।[१] मनु स्मृति में भी जल एकत्र करने के लिए कुम्भ का उल्लेख किया गया है।[२]

घट भी जल संचय पात्र था। जातकों में घट का उल्लेख बार-बार आया है। पतंजलि के अनुसार घट एवं घटी, कुम्भ एवं कुम्भी का ही पर्याय है।[३] जल से भरी अनेक घटिकाएँ यज्ञ वेदियों के किनारे रखी जाती थीं।[४] नदियों को पार करने के लिए घटों का प्रयोग बहुधा किया जाता था।[५] मनु स्मृति में यह व्यवस्था है कि यदि कूएँ पर जनता के प्रयोग हेतु रखे घट को कोई चुरावे तब राजा को चाहिए कि उस चोर को एक माषक का दण्ड देवे।[६] सूत्रकाल में मणिका का उल्लेख जल संचय हेतु वृद्हाकार घट के रूप में किया गया है। मणिका का समीकरण महाकुम्भ अथवा महाधट से करना अनुचित न हांगा। यह वर्तमान काल के मटका का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है।

साहित्य[७] में विभिन्न प्रकार के जलपात्रों का उल्लेख किया गया है यथा—गयरी, गगरी, कयल, बड़ा घड़ा, करग, छोटापात्र, मडका या वर्तमान काल का मटका व उदग-द्रोणी एक छोटे पात्र को कहा गया है जिन्हें पक्ति में पहिए से बाँध कर कुएँ से जल निकालने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। इसका समीकरण वर्तमान काल में रेहट (Persian wheel) से करना अनुचित न होगा। वर्तमान काल में जिन्हें चुक्कड़, पुरवा या कुल्हड़ कहते हैं उनका प्रयोग सामाजिक उत्सव आदि के अवसरों पर पानी पीने के लिए किया जाता है।[८] गलोला एक टोंटीदार छोटा बर्तन होता था। वर्तमान समय में गड़ुवा से उसका समीकरण उचित प्रतीत होता है।[९]

रसोई पात्र

साहित्य में रसोई के पात्रों का उद्धरण अत्यल्प मिलता है। तैत्तिरीय संहिता में परिनह्य नामक पात्र का उल्लेख रसोई पात्र के रूप में हुआ है।[१०] मनुस्मृति में भी उक्त पात्र का उल्लेख रसोई कार्य हित किया गया है।[११]

जातक कथाओं में, अष्टाध्यायी में स्थाली[१२] का प्रयोग भोजन पकाने के पात्र के रूप में किया गया है। पतंजलि ने 'स्थाली पुलक हवि' का वर्णन देवों को प्रदान करने के निमित्त किया है। यह चावल (भात) पकाने का पात्र विदित होता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने "स्थाली पुलक न्याय" का उल्लेख किया है।[१३]

वर्तमान काल की बटलोई से स्थाली का समीकरण करना उचित होगा। किन्तु यह पात्र मिट्टी द्वारा ही निर्मित हो। यदि उत्खननों से प्राप्त हाण्डी को हम स्थाली कहें तो अन्यथा न होगा। पाणिनि ने चावल की मात्रा को पका

---

१. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, **पतंजलि कालीन भारत**, पृ० ५२६।
२. **मनुस्मृति**, २. १८२।
३. **महाभाष्य**, पृ० २७-१९, **पाणिनि**, ३.२.९.
४. **वही**,
५. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, **पंतजलि कालीन भारत**, पृ० २४१,
६. **मनुस्मृति**, ८.३१९.
७. **आ० गृ० सू०**, २.९.३; **सा० गृ० सू०**, २.१४.
८. ब्रजदेव प्रसाद राय, **लिटरेरी रेफरेन्स टू पाटरी**, (पाटरीज़ इन एन्सियेण्ट इण्डिया) पृ० ३६४.
९. एस० बी० देव, पाट्स एण्ड यूटेन्सिल्स फ्राम जैन लिटरेचर, **बी० डो० सी० आर० आई० वाल्यूम**, १४, नं० १, पृ० ४०।
१०. **तै० सं०**, ८. २. १. १.
११. **मनुस्मृति** ९. ११।
१२. **महिला मुख जातक, अष्टाध्यायी**—५.१.७०।
१३. **पंतजलि महाभाष्य**,—पृ०–१८४, पाणिनि १.४.२३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकने के आधार पर उनका वर्गीकरण किया है। इसके लिए उन्होंने "परिमाणपच"[१] की संज्ञा दी है। इसी आधार पर पतंजलि ने विभिन्न आकार प्रकार के पात्रों का उल्लेख मात्रा के आधार पर किया है यथा-द्रोषी, पत्रिणा, अधिक, अचितानि एवं द्विकुलजीना।[२]

उखा या उख्या भी रसोई का एक पात्र था। पाणिनि[३] इसे भूनने की कड़ाही या तसला कहते हैं। इसका समीकरण कड़ाही से किया जा सकता है। आयतन के आधार पर इसे भिन्न-भिन्न आकार का उद्धृत किया गया है।[४]

कुछ अन्य प्रकार के पात्र भी बनते थे जो अलग अलग वस्तुओं को पकाने के लिए प्रयुक्त किये जाते थे, इन्हें पचन[५] कहा जाता था। पतंजलि ने मासपचनी का उल्लेख किया है।[६] इससे मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि यह मांस पकाने के लिए एक विशेष प्रकार का पात्र होता था।

कर्पार भी रसोई का एक पात्र था। कात्यायन ने कपरिमोदन का उल्लेख किया है।[७] सम्भवतः यह एक तश्तरी के आकार का पात्र रहा होगा।

प्राचीन भारत में विभिन्न प्रकार की थालियों या तश्तरियों का प्रयोग किया जाता था। पाणिनि ने विभिन्न प्रकार की थालियों का उल्लेख किया है।[८] कात्यायन ने खाना परोसे जाने के लिए थाली के रूप में जिस पात्र का उल्लेख किया है उसे सराब अथवा मल्लक कहा है। कौटिल्य ने सराब नामक पात्र का उल्लेख सोनार के कारखाने के लिए किया है।[९] पतंजलि ने सराब में थोड़ी वस्तुएँ रखने का उल्लेख किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है सराब आयतन में कम होता था। ये मिट्टी के बनते थे और यज्ञ के समय प्रयुक्त किये जाते थे।[१०] मनु के अनुसार इस पात्र में खाना परोसा जाता था।[११] उपरोक्त सारे उद्धरणों से विदित होता है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्र अनेकानेक कार्यों में प्रयुक्त होते थे। इसे यदि हम परई (Bowl) कहें तो अनुचित न होगा। मल्लक या मल्लग में भी खाना परोसा जाता था। इस पात्र के सही आकार का उल्लेख करना कठिन है।[१२]

प्रारम्भिक जैन साहित्य में भूनने के लिये विभिन्न प्रकार के नतोदर पात्रों का उल्लेख किया गया है जैसे तावेच या तपिक जिसे वर्तमान काल में तावा कहते हैं। उस काल में यह मृत्तिका निर्मित होता था। ऐसे पात्र को साहित्य में अवपक्कणहा गया है, अवपकिया के लिये प्रयुक्त होता था।[१३]

पकाने के पात्रों तथा थालियों के अतिरिक्त और भी

---

१. **अष्टाध्यायी,** ३.२.३३।
२. **महाभाष्य,** पृ० ३२५ (पाणिनि–५.१.५२–५६),
३. **अष्टाध्यायी,** ३.२.१७।
४. **वही,** ४.२.५।१.५२।
५. **श० ब्र०** ६.५.४३, ४४; १४.१.२, २१।
६. **महाभाष्य,** पृ० ६८ (पाणिनि ६६.१.६३)।
७. वी० एस० अग्रवाल, **पाणिनि कालीन भारत,** पृ० १३३।
८. **अष्टाध्यायी,**–४.२.१४।
९. **कौटिल्य अर्थशास्त्र,** २.१४।
१०. **महाभाष्य,** पृ० ४४७, पाणिनि १.१.७२।
११. **मनुस्मृति,** ६.५६।
१२. ब्रजदेव प्रसाद राय, **लिटरेरी रेफरेन्सेज टू पाटरी (पाटरीज इन एन्सिएन्ट इण्डिया,** सं० बी० पी० सिन्हा), पृ० २६५।
१३. एस० बी० देव, **पाटस एण्ड यूटेनिन्सल्स फ्राम जैन लिटरेचर, बी० डी० सी आर० आई० वाल्यूम—** १४ नं० १ पृ० ३८-३९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनेक प्रकार के पात्रों का प्रयोग अन्य कार्यों के लिए किया जाता था। ये छोटे नतोदर पात्र खुले चौड़े मुंह के होते थे। इस प्रकार के पात्रों एक में पात्र कपाल था जो खोपड़ी के आकार से मिलता जुलता कटोरे (Bowl) के आकार का बनता था। पाणिनी ने इसका उल्लेख सराव के साथ किया है।[१] कौटिल्य ने इसका उल्लेख सोनार के कारखाने में प्रयोग हेतु किया है।[२] उनका मत है कि भिक्षु लोग कपाल का प्रयोग भिक्षा पात्र के रूप में करते थे।[३] भिक्षा पात्रों को मिलिन्दपञ्हो में पिण्ड पात्र कहा गया है।[४] पतंजलि पुरोडास पकाने हेतु कपाल चरू का उल्लेख करते हैं।[५] पुरातात्विक उत्खननों से विभिन्न प्रकार के गहरे, छिछले, छोटे बड़े प्रकार के कपाल धूसर, चित्रित धूसर, काले लेपित उत्तर भारतीय चमकीले, लाल, काले एवं लाल आदि सभी प्रकार के मृत्तिका रंग में तथा सभी काल में उपलब्ध हुए हैं। इन्हें पुराविद् बाउल्स कहते हैं। इसके लिये जैन साहित्य में कट्टोरग शब्द का उल्लेख है जिसका अपभ्रंश आज कटोरा है।[६]

प्रारम्भिक जैन साहित्य में रसोई कार्य में प्रयुक्त होने वाले अनेक पात्रों का उल्लेख है। खाना रखने के लिये कुसुल नामक पात्र का उल्लेख है। कट्ट नामक पात्र में मिठाई तैयार की जाती थी और कुन्तल नामक पात्र में खाना परोसा जाता था।[७] दूध गरम करने के लिये सूफनी नामक पात्र का प्रयोग किया जाता था। परी और सिनग में गाय दुही जाती थी। इनके अतिरिक्त कई प्रकार के ढक्कनों का भी उल्लेख है यथा—पदि पोलन, प्रतिप्रेरन, पिन्धान, पिहान और. ढकनी। इदुआ भी एक प्रकार के ढक्कन को कहा गया है। इद्दरप खाना पकाते समय बटलोई आदि को ढकने के लिये प्रयुक्त होता था।[८] उत्खननों से प्राप्त विभिन्न प्रकार के लिड्स से हम उक्त ढक्कनों का समीकरण शाब्दिक अर्थ के आधार पर कर सकते हैं।

सुरा पात्र

प्राचीन भारत में मदिरा (सोग) एक प्रसिद्ध पेय था। इसके विभिन्न स्वरूप थे। इसको पीने के लिये विभिन्न प्रकार के पात्रों का प्रयोग किया जाता था। कौटिल्य का मत है कि लोक राज्य सम्बन्धी लोगों को युद्ध से विरत करने के लिये जहरीले मधुकुम्भी या सुरा से परिपूर्ण घट भेंट करना चाहिए जिससे मधु में लीन हो वे अपना विनाश स्वयं करें।[९] पतंजलि ने भी मद्य एकत्र करने के लिये मद्यघट का उल्लेख किया है।[१०] जैन साहित्य में भी सुरा को एकत्र करने अथवा रखने के लिये विभिन्न प्रकार के पात्रों का उल्लेख हुआ है। जैसे जम्बुले, परया, भुगभल और सन्दिया या सौन्दिका आदि।[११] सुरा मापने के लिये टोक्कण नामक पात्र का प्रयोग होता था। उपरिपय, करीय और कटलंक नामक

---

१. **अष्टाध्यायी,** ६.२.२९।
२. **कौटिल्य अर्थशास्त्र** ३.१३।
३. **वही,** ३.११।
४. **मिलिन्द पइंहों,** पृ० २५७।
५. **महाभाष्य,** पृ० ३३४, **पाणिनि** ६.३.४६।
६. ब्रजदेव प्रसाद राय, लिटरेरी रेफरेन्सेज टू पाटरी, **पाटरीज़ इन एन्सियेण्ट इण्डिया,** पृ० २६६।
७. एस० बी० देव, **पूर्वोक्त** नं० १, पृ० ४०।
८. **वही,** पृ० ३९।
९. **कौटिल्य अर्थशास्त्र,** ११.१।
१०. **महाभाष्य** अध्याय १ पृ० ५६।
११. एस० बी० देव, **पूर्वोक्त** पृ० ४०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पात्रों से सुरा परोसी थी थी। चषंग[१] नामक पात्र एक प्रकार का कप होता था जिससे सुरा पी जाती थी। कौटिल्य ने सुरापान हेतु सराब नामक पात्र का उल्लेख किया है।[२] सम्भवतः सराब नामक पात्र से पीने के कारण ही सुरा को शराब भी कहा जाने लगा है।

संचय घट

बड़े-बड़े भाण्ड जिनका आयतन बहुत बड़ा होता था तथा इनकी पेंदी अण्डाकार या नुकीली होती थी अनाज आदि संचय हेतु प्रयुक्त किये जाते थे। भाण्डागार व कोष्ठागार शब्दों की व्युत्पत्ति सम्भवतः भाण्ड और कोष्ठ से हुई है। बंगाल में आज भी मिट्टी के बड़े पात्र को भांड तथा गाँवों में कोष्ठ को कोठिला कहते हैं। भाण्ड और कोष्ठ दोनों शब्दों का अर्थ सम्भवतः संचय घट है। महाभारत में संचय-घट हेतु भाण्ड का उल्लेख किया गया है।[३] कौटिल्य ने तेल, दही आदि का संचय करने के लिये निक्षेप भजनी का प्रयोग किया है।[४] भाण्डों के आयतन का माप ठीक रखने के लिये उन्होंने उल्लेख किया है कि राज्य के लेखाकार को चाहिए कि वह भाण्डों की मात्रा और भार को समान रक्खे क्योंकि भाण्डागार में से कोई बड़ा घट उठा ले जाय और बदले में छोटा न घट रख दे। इस क्रिया को भजन विषम कहा है, भजन विषम से तात्पर्य विषम संचय घट से है।[५] मनु ने संचय घट को भाण्ड कहा है और स्पष्ट निर्देश दिया है कि जो कोई इस घट को चुरा ले अथवा नष्ट कर दे, राजा को चाहिये कि उसे दण्डित करें।[६] इस प्रकार के भाण्डों की प्रचुर मात्रा पुरातात्विक उत्खननों से उपलब्ध हुई हैं।

भाण्डों के अतिरिक्त कुम्भ, कलश और घट का प्रयोग भी संचय घट के रूप में किया गया है। पतंजलि ने भी तेल, घृत आदि तरल पदार्थों को संचित करने के लिए उनका प्रयोग किया है। गन्दे होने पर इन्हें ब्रश अथवा गरम पानी से साफ करने का उल्लेख हैं।[७]

पाणिनि ने कुसुल नामक पात्र का उल्लेख संचय घट के रूप में किया है। यह एक लम्बा बेलनाकार पात्र अनाज रखने के लिए होता था। कौटिल्य ने इसी प्रकार के पात्र को कोष्ठ कहा है। उनके अनुसार यह पात्र या तो लकड़ी से निर्मित होता था या मिट्टी से। पतंजलि ने इसे कद्रु कहा है।[८] इसमे अनाज रखकर ऊपर से इसका मुंह बन्द कर देते थे। इस पात्र में नीचे से छेद कर ऐसा प्राविधान करते थे कि आवश्यकतानुसार अनाज निकाल कर उस छेद को पुनः बन्द कर सकें। इस छेद को कुसुल विल कहा जाता था।[९] आज भी सुदूर गांवों में इस प्रकार के बड़े बड़े पात्रों का अनाज रखने के लिए प्रयोग किया जाता है। जिन्हें कोठिला कहा जाता है और नीचे के विल को कोठबिल कहते हैं। इस प्रकार के छोटे पात्रों को कुसुली कोठिली कहते हैं। सम्भवतः यह कोष्ठागार अथवा कुसुल का उपभ्रंश है।

पाणिनि ने एक अन्य प्रकार के संचय घट का उल्लेख किया है जिसे कुप अथवा साल कहते थे। इसके निर्माण के लिए ९ इंच या एक फीट (बारह अंगुल अथवा पन्द्रह अंगुल) चौड़ा गोलाकार अनेक छल्ले बनाकर रख लेते थे। एक के ऊपर एक को बैठाते जाते थे और उसे अनाज से भरते जाते थे। इस प्रकार यह कूप की भाँति अत्यधिक

---

१. **वही**,
२. **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, १०.३, **महाभाष्य**, पृ० ४४; **पाणिनि** १. १. ७२।
३. **महाभारत**, आदि पर्व, १६.१५।
४. **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, २.१४; २.७.८।
५. **वही**, १.११।
६. **मनुस्मृति**, ८.३२; ३२९–३९।
७. **महाभाष्य**, पृ० ५०७, ३२९–३० **पाणिनि** ४.३.५६।
८. **अष्टाध्यायी**, ६.२.१०२, **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, २.१५।
९. **महाभाष्य**, पृ० ५०७, पाणिनि, ४.३.५६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लम्बा (गहरा) हो जाता था ।[१] उत्खननों से प्राप्त रिंगवेल से इनका समीकरण उचित प्रतीत होता है ।

पाणिनि ने एक लम्बी गर्दन वाले पात्र उद्रिका का भी उल्लेख किया है ।[२] इसके नाम से ही विदित होता है कि यह एक बड़ा पात्र था जिसकी गर्दन लम्बी और मुंह सकरा होता था । उत्खननों से इस प्रकार के पात्र काफी संख्या में मिलते हैं । विशेष कर ब्लैक स्लिप्ड वेयर में ।

माप पात्र

प्राचीन भारत में अनाज आदि मापने के लिए मृत्तिका पात्रों का प्रयोग किया जाता था । सुदूर ग्रामीण अंचलों में आज भी यह परम्परा न्यूनाधिक विद्यमान है । प्राचीन भारत में इसे "माना" भाण्ड[३] कहते थे । आज भी गांवों में इसे माना ही कहते हैं । साहित्य में भिन्न-भिन्न मात्रा के माना पात्रों का उल्लेख मिलता है ।

आढ़क

पाणिनि के अनुसार सोलह कुड़वों या २५६ जव का एक आढ़क होता था ।[४] कौटिल्य के अनुसार एक आढ़क १।४ द्रोण की मात्रा के बराबर होता था ।[५]

कंस

पाणिनि ने इसकी मात्रा आठ प्रस्थ के बराबर बताया है ।[६]

मण्ठा

इसकी मात्रा ४ कंस के बराबर हो बतायी गई है ।[७] कंस एवं मण्ठा जैसे छोटे पात्र थोड़ी मात्रा को मापने के लिए प्रयुक्त होते थे ।

खरी

यह अनाज की ढेरी को मापने के लिए प्रयुक्त होता था । इसका आयतन बड़ा होता था । कौटिल्य के मतानुसार एक खरी सोलह द्रोण की होती थी ।[८] पाणिनि एवं पतंजलि के अनुसार इसके अनेक आकार थे । खारी का आधा भाग अर्ध-खरी अथवा आठ द्रोण की होती थी । बत्तीस द्रोण की द्विखरी होती थी ।[९]

द्रोण

कौटिल्य ने द्रोण और द्रोणी की विवेचना करते हुए लिखा है कि यह बहुत ही प्रचलित माप पात्र था ।[१०] पतंजलि के अनुसार चार आढ़क का एक द्रोण पात्र होता था ।[११]

कुड़व

कौटिल्य के अनुसार एक कुड़व चौथाई प्रस्थ के बराबर होता था ।[१२] पतंजलि के अनुसार एक कुड़व एक मुट्ठी अनाज अर्थात १०० ग्राम के बराबर था । पर इसकी आकृति भिन्न-भिन्न होती थी ।[१३]

---

१. **अष्टाध्यायी**, ६.२.१०२ ।
२. **वही**, ६.२.१०२ ।
३. **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, ४.२ ।
४. **अष्टाध्यायी**, ५.२.३ ।
५. **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, ४.२; २ ।
६. **अष्टाध्यायी**, ५.१.१५; ६.२.१ २२, **महाभाष्य**, पृ० ३०८; २, १९ **पाणिनि**,—५.२.७३ ।
७. **पाणिनि**, ६.२.१२२ ।
८. **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, २.१९ ।
९. **अष्टाध्यायी**, ५.४.१०१; **महाभाष्य**, पृ० ३२०, **पाणिनि**, ५.१.३३ ।
१०. **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, २.१९ ।
११. **महाभाष्य**, पृ० ३३६; **पाणिनि**, २.२.१५ ।
१२. **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, २.१९ ।
१३. प्रभुदयाल अग्निहोत्री—**पंतजलि कालीन भारत**, पृ० ६३३ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चार कुड़व अनाज जिसमें आवे उसे प्रस्थ कहा जाता था।[1] पाणिनि ने दस कुम्भ अनाज को मापने के लिए उष्ट्रिका पात्र क उल्लेख किया है जिसे घट कहा गया है।[2] पत्रिका और पात्रिका भी एक प्रकार का माप पात्र[3] था। पतंजलि के अनुसार एक कुलुज के बराबर का कुलीजिका नामक पात्र होता था, और सस्तक एक विशेष मात्रा का पात्र होता था जिससे सद्भाग मापा जाता था।[4] बीस द्रोण अनाज के बराबर कुम्भ होता था जिसे महाभाण्ड कहते थे। पतंजलि और मनु दोनों विद्वानों ने कुम्भ को माप पात्र कहा[5] है। पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त पात्रों का इनसे समीकरण अभी नहीं हो पाया है क्योंकि इनके ठीक ठीक आकार की जानकारी नहीं है। इस दिशा में कार्य करना उचित होगा।

धार्मिक पात्र

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य धार्मिक अनुष्ठानों से परिपूर्ण है। लगभग सभी पात्रों का उल्लेख किसी न किसी धार्मिक कार्य के निमित्त किया गया है। कुम्भ, कलश, घट आदि का प्रयोग तो सभी यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों में पड़ा ही करता है। कुछ विशेष प्रकार के धार्मिक क्रियाकलापों में विशेष प्रकार के पात्रों का प्रयोग होता था और अभी भी होताहै। प्रयोगानुसार उन्हीं पात्रों के नामों में कुछ विशेषण भी लग जाते रहे है जैसे—वन्दनकलश आदि।

ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन साधु सन्यासियों के लिए केवल कुछ विशेष प्रकार के पात्रों का प्रयोग ही स्वीकृत था। ये लकड़ी, मिट्टी या विशेष प्रकार के फलों से बने पात्रों का ही प्रयोग कर सकते थे। उनके द्वारा प्रयोग किए जाने वाले विशेष प्रकार के मुख्य पात्र का नाम कमण्डल था। जैन साहित्य में साधु सम्प्रदाय में प्रयुक्त पात्र को "पतिगह" कहा गया है। जैन साधुओं को और भी दूसरे अनेक प्रकार के पात्रों के प्रयोग करनेका विधान किया गया है जिसके नाम तत्पराग, तत्परा, तपङ्ग है। इनका आकार प्रकार क्या था कहना यह कठिन है क्योकि इससम्बन्ध में साहित्य कोई निश्चित निर्देश नहीं करता। खटङ्ग एक विशेष प्रकार का भिक्षा माँगने की कटोरी होती थी जो जैन साधु भिक्षा हेतु प्रयोग करता था।[6] मेरा अपना अनुमान है कि बाद में यही खटङ्ग = खप्पर (खर्परक से) खप्पर बना जिसे वाम मर्गियों ने अपना प्रमुख भिक्षा पात्र बना लिया। मनुस्मृति में स्पष्ट निर्देश है कि गृहत्यागियों को धातु के या सुन्दर बहुमूल्य पात्रों का प्रयोग वर्जित है।[7]

उत्खनन स्थलों से प्राप्त पात्रों में कौन सा पात्र धार्मिक था और कौन सा नहीं, यह कहना कठिन है और न तो कोई इस प्रकार का वर्गीकरण ही किया जा सकता है। कुछ विद्वानों ने नार्दन ब्लैक पालिश्ड वेयर के पात्र को बौद्ध भिक्षु-पात्र कहा है। पर यह तर्क उचित नहीं लगता क्योंकि जितने अधिक मात्रा में नार्दर्न पालिश्ड वेयर उत्खन्नों से उपलब्ध हुये हैं यदि वे बौद्ध-भिक्षुओं के उपयोग के पात्र थे तो सारा भारत ही बौद्ध भिक्षु हो गया लगेगा, जो असम्भव है। यह एक बात अवश्य है कि कुछ छोटे-छोटे पात्र उपलब्ध हुए हैं जिसका प्रयोग पूजा के अतिरिक्त और कहीं सम्भव नहीं है। अस्तु धार्मिक कृत्यों के लिए जिन पात्रों का प्रयोग होता था वे ही पात्र न्यूनाधिक आकार प्रकार परिवर्तित करके नित्योपयोगी पात्रों के रूप में भी प्रयुक्त होते थे। इन पात्रों में पृथ्वी के गर्भ से प्राप्त सभी रंगों के पात्र सम्मिलित है।

पुष्प पात्र

मानव की सबसे उत्तम रुचि में पुष्प आते हैं। वर्तमान काल भी इससे अछूता नहीं है। वैदिक साहित्य में पुष्प पात्रों

---

१. **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, २।१९।
२. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, **पंतजलि कालीन भारत** पृ० ३४३।
३. **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, २।१९।
४. **वही**, पृ० ३२५, **पाणिनि** ५।१।५५, **कौटिल्य अर्थशास्त्र**, २।१९।
५. **वही**, पृ० २२ **पाणिनि**, ४।१।३, **मनुस्मृति**, ८।३२०।
६. एस० वी० देव—**पाट्स एण्ड यूटेन्सिल्स फ्राम जैन लिटरेचर**, पृ० ४१।
७. **मनुस्मृति**, ६।१५३–१५४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के उदाहरण तो नहीं मिलते पर समकालीन जैन साहित्य में अवश्य उपलब्ध होते हैं।

प्रो० देव ने अपने लेख में इसका विवेचन किया है। उसके मतानुसार पिण्डलग और पुष्पछज्जिया नामक पात्रों को पुष्प सजाने के कार्य में प्रयुक्त किया जाता था। सिंगिया[1] या स्रिगिका नामक एक पात्र था जिसके द्वारा पुष्पों पर पानी छिड़का जाता था। सम्भवतः उसी को उत्खननों से प्राप्त स्प्रिंकलर की संज्ञा दी गई है। उसके विवरण में कहा गया है कि उसमें बहुत पतला छिद्र होता था जिसके द्वारा फूलों पर पानी छिड़का जाता था। मन्दिरों एवं तोरणो पर जो कलश और घट बने हैं वे पुष्प पात्र के रूप में ही दिखाए गये है। क्योंकि उनके मुख चौड़े हैं तथा पेंदी भी बहुत चौड़ी है। तोरणों पर सीधे कमल और उलटे कमल के आकार बने मिलते हैं। इस प्रकार पुष्प सजाने के लिए भी पात्रों का प्रयोग किया जाता था यह प्रमाणित होता है।

---

१. एस० बी० देव, **पूर्वोक्त** पृ० ३८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूरियों की माप : योजन, ली, कोस, और फरसंग

ईश्वर शरण विश्वकर्मा*

साक्ष्य स्वरूप प्राचीन ग्रंथों के अनुशीलन से विदित होता है कि प्राचीन काल में लम्बाई एवं दूरी-मापन हेतु विविध प्रकार के मापक व्यवहार में प्रचलित थे। विशेष रूप से बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य, महाकाव्य, पुराण एवं चीनी यात्रियों द्वारा, साथ ही मुस्लिम इतिहासकारों द्वारा तत्कालीन व्यवहार में प्रचलित दूरी मापक शब्दों का प्रयोग किया गया है। माप की सबसे छोटी इकाई को "अंगुल" तथा सबसे बड़ी इकाई को 'योजन' की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। 'अंगुल' मापक का प्रयोग अद्यावधि ग्रामीण अञ्चलों में छोटी लम्बाई नापने हेतु व्यवहृत होता है, किन्तु योजन का स्थान मील एवं किलोमीटर ने ले लिया है।

योजन, ली, कोस आदि मापदण्डों के वास्तविक मान निर्धारण के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि उन सभी छोटी इकाईयों का परिज्ञान करें, जिनके सम्मिलित रूप से इनका निर्माण हुआ। यह विदित है कि बुद्ध काल में लम्बाई एवं दूरी की माप अंगुल, यट्ठि, विदट्ठि, कुक्कु, हत्थ, उसभ धनु, गावुत एवं योजन के रूप में की जाती थी। 'अंगुल' सबसे छोटी इकाई थी जो भारत में एक इंच के तीन चौथाई भाग से छोटी है। 'अंगुल' के वास्तविक मान निर्धारण के लिए कनिंघम[1] ने अनेक स्थानों के व्यक्तियों के अंगुलियों की माप ली जो वस्तुतः एक इंच के तीन चौथाई भाग से कम थी। इसके साथ ही कनिंघम ने अंगुल के मान निर्धारण में सिकन्दर लोदी की उन ४२ ताम्र मुद्राओं का उल्लेख किया है, जो अंगुल के चौड़ाई के आधार पर बनायी गयी थीं, जिनके अंगुल की माप १ इंच के .७२१७६ वें भाग के बराबर अर्थात् .७२९७६" थी। इन्हीं आधारों पर कनिंघम ने भारतीय अंगुल की (मध्यम आकार) वास्तविक लम्बाई .७२६३२ इंच स्वीकार की है, जो उचित प्रतीत होता है। इस के आधार पर २४ अंगुल का एक हाथ १७.४३१६८" के बराबर होगा और ९६ अंगुल का एक 'धनु' ५.८१ फुट के बरावर होगा।

फ्लीट[2] ने प्राचीन भारतीय हस्त का औसत मान १८" स्वीकार किया है। कनिंघम[3] ने प्राचीन भारतीय हस्त का वास्तविक मूल्य १८.१५८ ईंच स्वीकार करते हुए यह भी कहा है कि यह मान भारतीय बाजार में प्रचलित हस्त के दर से काफी कम है और हस्त के इस मूल्य के बड़े माप इस प्रकार होंगे :–

४ हस्त अथवा १०० अंगुल = ६.०५२ फुट = एक धनु
४०० हस्त अथवा १०० धनु = ६०५.२ फुठ = एक नलवा
४००० हस्त अथवा १०० नलवा = ६०५२ फुट = एक क्रोस

श्री राहुल सांकृत्यायन[4] ने "अभिधानप्पदीपिका" एवं

---

*. विजयगढ़ हाउस, अस्सी, वाराणसी–२२१००५

१. Cunningham, A, *Ancient Geography of India*, p. 487 (Appendix B).

२. Fleet, J. F., rojan and Li, *Journal of Royal Asiatic Society*, 1906, pp. 1011 ff.

३. Cunningham, A, *op. cit.*

४. सांकृत्यायन राहुल, **पुरातत्व निबन्धावलि**, पृ० २२–२३ :

"अंगुद्विच्छ विदत्थि, ता दुवे सियुं।
रतनं; तानि सत्तेव, पट्ठि, ता वीशतूसभं।
गावूतमुसाभासीति, योजनं चतुगावुतं।" (अभिधानप्पदीपिका)

"चतुर्विंशतिरंगुल्यो हस्तो, हस्तचतुष्टयम।
धनुः पञ्चशतान्येषा क्रोशो, तेऽष्टौ योजनमित्याहुः।" (अभिधर्मकोश ३।८८-८)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"अभिधर्मकोश" में प्राप्त पालि साहित्य के योजन के मानों को इस प्रकार दिया है :–

(१) १२ अंगुल = विदत्थि (४ गीरह)
　२ विदत्थि = रतन (हाथ)
　८ रतन = पट्ठि (लट्ठा) = $३\frac{१}{२}$ गज
　२० पट्ठि = १ उसभ (ऋसभ) = (७० गज)
　८० उसभ = १ गावुत (गव्यूति) = ५६०० गज = ३.१८ मील)
　४ गावुत = १ योजन ($१२\frac{८}{११}$ मील)

(२) २४ अंगुल = १ हस्त
　४ हस्त = १ धनु (= २ गज)
　५०० धनु = १ कोश (१००० गज)
　८ कोश = १ योजन (४.४५ मील)

श्रावस्ती से प्राप्त विभिन्न स्थानों की दूरियों को मानचित्र पर परीक्षण करके पं० राहुल सांकृत्यायन ने १ योजन का मान ८ मील निकाला है ।

किन्तु इन दूरियों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से या निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है । इन दूरियों से पालि परम्परा का प्रतिनिधित्व नहीं होता, क्योंकि एक यट्ठि को साढ़े दस फुट मानकर गणना करने पर एक उसभ = २१० फुट, एक गावुत = १६,८०० फुट एवं इस प्रकार एक योजन = २२, ४०० गज़ का या १२ मील से कुछ अधिक होता है । इस मापक पर दूरियाँ ठीक से नहो बैठती हैं ।

पालि साहित्य के 'गावुत' को बुद्धकाल में दूरी नापने के लिये प्रयुक्त किया जाता था । ए० पी० बुद्धरत्त महाथेर[1] के अनुसार 'गावुत' आजकल के दो मील से कुछ कम होता था । निबन्ध-ग्रन्थों एवं ब्रह्मवैवर्त्तपुराण[2] में 'गव्यूति' का उल्लेख मिलता है, जो पालि 'गावुत' का संस्कृत रूप है । काशीक्षेत्र के विस्तार के प्रसंग में इसका उल्लेख किया गया है । पं० कुबेर नाथ सुकुल[3] ने महाभारत को उद्धृत करते हुए इसका मान लगभग एक कोश या दो कोश स्वीकार कर क्षेत्र का विवेचन किया है । डॉ० विमलाचरण लाहा[4] ने महाथेर के 'गावुत' को दो मील से अधिक माना है । पं० कुबेरनाथ सुकुल का क्षेत्र विवेचन अन्ततः एक कोश वाले मान से ठीक बैठता है । त्रिस्थलीसेतु के रचनाकार नारायणभट्ट[5] ने गव्यूति को दो कोश वाला माना है । मित्र मिश्र ने वीरमित्रोदय[6] में इसका मान एक कोश स्वीकारा है । दोनों ही निबन्धकारों ने कोश को एक योजन के बराबर माना है । इस प्रकार त्रिस्थलीसेतु के अनुसार :

१ गव्यूति = २ कोश = २ योजन

वीरमित्रोदय के अनुसार;

१ गव्यूति = १ कोश = १ योजन

इस प्रकार योजन और कोश को समानार्थी स्वीकार कर क्षेत्र का विवेचन किया गया है । पं० कुबेरनाथ सुकुल[7] ने पाँच योजन या पाँच कोश लम्बे काशी-क्षेत्र का मान $११\frac{१}{२}$ मील बताया है । इस प्रकार १ योजन या कोश लगभग $२\frac{१}{४}$ मील पड़ता है । यही मान एक गव्यूति का पड़ता है । गव्यूति का यह मान पालि 'गावुत' के विमलाचरण लाहा के मान के लगभग तुल्य है । इसके विपरीत पुराणों के योजन एवं कोश के मापदण्ड एवं पालि साहित्य के योजन के मापदण्ड में बहुत अन्तर दृष्टिगत होता है ।

---

१. *Concise Pali English Dictionary*, p. 91.
२. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, उद्धृत **त्रिस्थलीसेतु**, पृ० १०१; **वीरमित्रोदय**, पृ० १७६ । "अत्रयोजनं कोशः"
३. सुकुल, कुबेरनाथ, **वाराणसी वैभव**, पृ० ४५ ।
४. Law, B. C., *Indological Studies*, vol. II, p. 333, F. N. 31.
५. **त्रिस्थली सेतु**, पृ० १०१ ।
६. **वीरमित्रोदय**, पृ० १७६ ।
७. सुकुल, कुबेरनाथ, **वाराणसी वैभव**, पृ० ४५ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन साहित्य में प्राप्त योजन (जोअण) को चार कोश के बराबर स्वीकारा जाता है, जो ८ मील के बराबर था।[१] डॉ० हरिप्रसाद शास्त्री ने रामायण में प्राप्त योजन के मान को ४ या ५ मील स्वीकारा है।[२] कौटिल्य के अनुसार २००० धनु (६६ २/३ निवर्त्तन) = १ गोरूत (कोश), एवं ४ कोश = १ योजन होता था।[३] कौटिल्य का योजन सम्बन्धी मान पौराणिक ग्रंथों[४] में प्राप्त योजन के मान से तुल्य है जहाँ २००० धणु = १ गव्यूति एवं ८००० धनु = १ योजन बताया गया है। टामस[५] के अनुसार भी ४ कोश = १ योजन होता है जहाँ एक कोश का मान २००० दण्ड है।

'योजन' के वास्तविक मान के सम्बन्ध में अनेकशः विचार दृष्टिगत होते हैं। फ्लीट[६] ने कुल तीन प्रकार के योजनों की परिचर्चा की है, जिनमें प्रथम दो विशिष्ट योजन तथा तृतीय को सामान्य योजन की संज्ञा से अभिहित किया गया है। योजन के मानों के लिये भारतीय हस्त का मान १८ ईंच स्वीकार किया गया है।

१. भारतीय योजन, ३२,००० हस्त का होता था; इस प्रकार १ योजन (३२,००० हस्त) = १६,००० गज = ९ १/११ या ९. ०९ मील।

२. मागध योजन, १६,००० हस्त का होता था। इसका प्रयोग केवल मगध देश तक ही सीमित नहीं था, वरन् इसे बौद्ध योजन भी कहा जा सकता है, जो ग्रन्थों में सदैव भारत में दूरी बताने हेतु प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार,

१ योजन (१६,००० हस्त) = ८००० गज
= ४ ६/११ अथवा ४.५४ मील

३. तृतीय योजन के सम्बन्ध में फ्लीट का कहना है कि यही वास्तविक योजन था, जिसका अभिप्राय जुते हुए बैलों द्वारा पूर्णरूपेण लदी हुई गाड़ी खींच सकने वाली दूरी से था। संक्षेप में यह दिन भर में चली हुई मानक दूरी थी, जिससे व्यापारियों, यात्रियों का सामान पहुँचाने हेतु अनुबन्ध लिया जाता था। यह योजन प्रथम प्रकार के योजन का १ १/३ था। इस प्रकार,

१६०००+ १६,०००/३ = २१,३३३.३ गज

भारतीय दिन की यात्रा = २१,३३३.३ गज
= १२ ४/३३ अथवा १२.१२ मील

डॉ० टी० डब्ल्यू० राइस् डेविड्स एवं श्रीमती राइस् डेविड्स ने भी पालि के योजन को ७ और ८ मील के बीच की दूरी माना है।[७] ध्यातव्य है कि चीनी तीर्थयात्री दूरियों की माप में भारतीय 'योजन' और चीनी 'ली' का प्रयोग करते हैं। प्रसिद्ध चीनीयात्री फाह्यान ने दूरियों की माप में 'योजन' का प्रयोग किया है, जब कि पश्चात्तवर्ती चीनीयात्री सुंग-युन तथा ह्वेनसांग ने द्वितीय मापक अर्थात् 'ली' का प्रयोग प्रचुरता से किया है। कनिंघम ने उपर्युक्त चीनी यात्रियों द्वारा वर्णित मापों (योजन, ली) के वास्तविक मान निर्धारण

---

१. सेठ हरगोविन्ददास त्रिकमचंद, **पाइअ सद्द महण्णवो**, पृ० ३७२।

२. Shastri, H. P., *The Ramayana of Valmiki* (English Translation).

३. **अर्थशास्त्र,** प्रकरण २६, अध्याय २०।

४. **ब्रह्माण्डपुराण,** २।७।१००–१०१; **वायुपुराण,** ८।१०७, ५१।३७, १०१।११३, १२६,

"चतुर्हस्तो धर्नुदण्डो नालिका युगमेव च।
धनुः सहस्रे द्वे तत्र गव्यूतिस्तैः कृता तदा॥
अष्टौ धनुः सहस्राणि योजनं तैर्विभावितम्।
एतेन योजन नेह सन्निवेशास्ततः कृताः॥

५. Thomas, E. G., *Ancient Indian Weights*, p. 32.

६. Fleet, J. F., *op. cit.*

७. *Buddhist Birth Stories, the story of the lineage.* p. 19, f. n. 1

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिये काफी प्रयास किया है। कनिंघम[1] की गणना के अनुसार फाह्यान का एक योजन ६.७१ मील के बराबर था। एक दूसरी गणना के अनुसार कनिंघम ने प्रथानुसार प्रचालित भारतीय माप (योजन) के आधार पर फाह्यान के एक योजन को ह्वेनसांग के ४० ली के बराबर स्वीकार किया है। इस प्रकार कनिंघम ने चीनी यात्रियों द्वारा प्रतिपादित दूरियों के खण्डन-मण्डन के पश्चात् यह विचार व्यक्त किया कि "फाहियान द्वारा वर्णित दूरियों से पता चलता है कि मार्ग दूरियों में एक योजन प्रायः ६¾ मील के समान था और चुँकि एक गाँव से दूसरे गाँव के बैल गाड़ियों के प्राचीन मार्ग टेढ़े-मेढ़े हुआ करते थे, अतः योजन की वास्तविक दूरी ७½ अथवा ८ मील के समान स्वीकार की जा सकती है।"[2]

योजन के वास्तविक मूल्य निर्धारण हेतु मैंने भी बौद्ध साहित्य में प्राप्त विभिन्न स्थानों की पारस्परिक दूरियाँ, जिनका विवरण योजन में प्राप्त होता हैं, एकत्रित कीं हैं। योजन के सही मान के लिए बौद्ध साहित्य में प्राप्त उन स्थानों को वर्तमान स्थानों से समीकृत कर, उनकी पारस्परिक औसत दूरी[3] मील एवं कि० मी० में निकाली गई है (विवरण देखिए, **तालिका**)। औसत दूरी से तात्पर्य दो प्रकार की दूरियों के योग के मध्यमान से है—स्थल मार्ग एवं हवाई। स्थानों की सूक्ष्मतम दूरी के लिए श्री नन्दलाल डे[4] की पुस्तक से सहायता ली गयी है, जिसमें विभिन्न विद्वानों द्वारा स्थानों के वर्तमान समीकरण एकत्रित किए गए हैं। 'योजन' के वास्तविक मूल्य निर्धारण के प्रयास में 'योजन' के तीन मानों के लिए तीन श्रेणियाँ प्राप्त हुई हैं। सभी का मूल्य एक दूसरे से पृथक है। एक विस्तृत दूरी दर्शक तालिका भी संलग्न है, जिसमें प्राचीन काशी से सम्बद्ध दूरियाँ दी गई हैं एवं वर्तमान दूरियाँ भी दी गई हैं तालिका का आधार योजन में प्राप्त विभिन्न स्थानों की दूरियों का कि० मी० प्रतियोजन है, जिसमें ०-१०, १०-२० तथा १०-३० कि० मी० प्रतियोजन वाले मानों को लिया गया हैं। इस प्रकार से प्रथम श्रेणी ०-१० कि० मी० प्रतियोजन तथा श्रेणी नं० २, १०-२० कि० मी० प्रतियोजन तथा श्रेणी नं० ३, २०-३० कि० मी० प्रतियोजन के मानों वाली दूरियों की अभिव्यक्ति है। योजन के मूल्य निर्वारण की तीन श्रेणियाँ निम्मलिखित हैं :

श्रेणी नं० १

क्रमांक	स्थान	योजन	औसत दूरी (लगभग) मील	कि० मी०
१	चम्पा-मिथिला	६०	१२८.२५	२०५.२५
२	श्रावस्ती-तक्षशिला	१९२	७५९.३७	१२१५
३	वाराणसी-कौशाम्बी	३०	१०१.२५	१६२
४	वैशाली-कुशीनारा	२५	१०५.६२	१६९
५	राजगृह-कपिलवस्तु	६०	२७७.००	४३३.३५
	योग	३६७	१३७१.४९	२१९४.५०
	औसत	१ =	३.७४	या ५.९८

श्रेणी नं० २

क्रमांक	स्थान	योजन	औसत दूरी (लगभग) मील	कि० मी०
१	कुसीनारा-राजगृह	२५	१५८.७५	२५४
२	उरुवेला-इसिपतन	१८	१४५.४६	२३२.७५
३	राजगृह-श्रावस्ती	४५	३२६.५६	५२२.५
४	वाराणसी-गया	१५	१४०.७८	२२५.२५

---

१. Cunningham, A., *Ancient Geography of India*, p. 484, 1.

२. Cunningham, A., *Ancient Geography of India*, p. 484.

३. स्थानों की बर्तमान दूरियाँ Road map of India, 1962 (Sec. ed.) से ली गई है। जिसका पैमाना १ सेमी० = २५ कि०मी० या १" = ३९.४६ मील है। कुछ दूरियां "Uttar Pradesh" मानचित्र से जो कि १ सेमी० = १० किमी० या ।" = १५.७८ मील के पैमाने से तैयार की गई है। ये समस्त दूरियाँ भारतीय सर्वेक्षण विभाग से प्रकाशित होने के कारण प्रामाणिक हैं।

४. Day, N. L., *Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India.*

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

५	राजगृह-नालंदा	१	९.४७	१४
६	श्रावस्ती-साकेत	६	५७.१७	९१.५
७	श्रावस्ती-संकाश्य	३०	२४१.२५	३८६
८	श्रावस्ती-सुप्पारक	१२०	७९९.६८	१२७९.५०
९	श्रावस्ती-आलवी	३०	२०५.७८	३२९.२५
१०	वाराणसी-तक्षशिला	१२०	९१५.९३	१४६५.५०
११	विदिशा—पाटलिपुत्र	५०	५१५.३१	८२४.५
	कुल योग	४६०	३५१६.१४	५६२४.६५
	औसत	१ =	७.६४ या	१२.२३

श्रेणी नं० ३

		औसत दूरी		लगभग
क्रमांक	स्थान	योजन	मील	कि० मी०
१	राजगृह-श्रावस्ती	१५	३२६.५६	५२२.५०
२	साकेत-कन्नौज	१३	१५९.६८	२५५.५०
	कुल योग	२८	४८६.२४	७७८
	औसत	१ =	१७.३६ या	२७.७८

उपरोक्त तीनों तालिकाओं से प्राप्त योजन के तीन मानों (१) ३.७४ मील, (२) ७.६४ मील, (३) १७.३६ मील से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय मान अर्थात् एक योजन = ७.६४ मील ही वास्तविक मान था। क्रमशः शेष दोनों मानों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि या तो दूरी बताने में गलती की गई है अथवा उन स्थानों तक पहुँचने वाले यात्री ने बहुत चक्करदार मार्ग का अवलम्बन किया था। इस प्रकार योजन का वास्तविक मान ७½ और ८ मील के मध्य ही मानना चाहिए। इन विचारों का समर्थन कनिंघम द्वारा प्रस्तुत योजन के वास्तविक मान से भी होता है। भरतसिंह उपाध्याय[1] ने भी पालि त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओं में दी गयी विभिन्न स्थानों की दूरियों को ७ या ८ मील प्रतियोजन माना है। यह मा मार्गों के सीधेन या चक्करदार रूप को समझते हुए उन स्थानों की आधुनिक स्थिति के सम्बन्ध में ठीक बैठ जाता है। ए. पी. बुद्धरत्न-महाथेर ने भी एक योजन को ७ मील के बराबर माना है।[2] इस प्रकार कनिंघम, महाथेर, डेविड्स आदि सभी विद्वानों द्वारा प्रयुक्त योजन के मान ७ या उसके आस-पास ८ मील के बीच में बैठते हैं।[3] जो कुछ भी हो योजन का सही मान ७½ मील एवं ८ मील के अन्दर ही था। यही वास्तविक योजन कहा जा सकता हैं। किन्तु यह ध्यान देने की बात यह है कि योजन का यह मान मात्र पालि एवं उसकी अट्ठकथाओं की परम्परा से लिए गये हैं। पुराणों का योजन एवं चीनी यात्री फाहियान का योजन इससे भिन्न था। इस सम्बन्ध में हम पहले ही विचार कर चुके हैं। भारतीय परम्परा में एक योजन ४ कोश स्वीकार किया जाता है।

ध्यातव्य है कि पालि ग्रंथों में प्राप्त काशी (वाराणसी) एवं अन्य जनपदों के विस्तार सम्बन्धी कथानक इससे सम्बन्धित हैं। इनमें काशी का विस्तार ३०० योजन = २,२९२ मील तथा वाराणसी का विस्तार १२ योजन = ९१.६८ मील ज्ञात होता है। मगध का विस्तार भी ३०० योजन बताया गया है। इस प्रकार काशी और मगध का सम्मिलित विस्तार ६०० योजन होता है। दूसरी ओर अशोक के त्रयोदश शिलालेख[4] में यवनराजा अंतियोक की राजधानी ६०० योजन दूरी बताई गई है। सम्प्रति यह दूरी धरातल पर लेने से पटना से डेमास्कस तक ३०७३.१० मील पड़ती है। काशी एवं मगध के विस्तार को उसका क्षेत्रफल मानने पर भी यह कभी सम्भव नहीं है कि उसका विस्तार इतना अधिक रहा होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त विस्तार सम्बन्धी कथानक अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण हैं।

---

१. उपाध्याय, भरतसिंह, **बुद्धकालीन भारतीय भूगोल।**
२. *Concise Pali English Dictionary*, p. 205.
३. यहाँ यह ध्यातव्य है कि मलालशेखर ने *"Dictionary of Pali Pioper Names"* में योजन को अंग्रेजी 'लीग' बताया है जिसे उचित नहीं माना जा सकता है। कॉवेल ने भी **जातक** अंग्रेजी अनुवाद में योजन का अंग्रेजी 'लीग' बताया है, जबकि महाथेर ने अपनी पुस्तक में 'गावुत' के लिए अंग्रेजी अनुवाद 'लीग' किया है।
४. *Corpus Inscriptionam Indicarum*, vol. I, p. 66.
"अ षपु पि योजन शतेपु यत्र आंतियोको नम योनरज"।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ली

'ली' का प्रयोग दूरी नापने के लिए ह्वेनसांग, सुंगयुन आदि चीनी यात्रियों ने अपने यात्रा विवरणों में किया है। 'ली' के मान के सम्बन्ध में फ्लीट[1] का कहना है ह्वेनसांग एवं अन्य चीनी यात्रियों ने या तो एक दिन की वास्तविक यात्रा अथवा इस यात्रा में लगे हुए समय को १०० ली कहा है, इसप्रकार,

१०० ली० (साधारणतः भारत में) = २१,३३३·३ गज

= १२–$\frac{४}{३३}$ अथवा

१२·१२ मील

यही १०० ली का मानक मान था। भारत की सीमा में यात्रा करने हेतु और भारत के बाहर वहाँ के लिए जहाँ भारतीय प्रथाएँ प्रचलित थीं। इस प्रकार फ्लीट के उपरोक्त मानक के अनुसार लगभग ८.२७ ली = १ मील पड़ता है। कनिंघम ने ह्वेनसांग के 'ली' का मान एक मील के ५वें एवं ६वें भाग के मध्य निर्धारित किया है। उन्होंने ली के वास्तविक मान निर्धारण का प्रयास किया है। ली के वास्तविक मान निर्धारण के लिए निम्न तालिका प्रस्तुत की है—

क्रमांक	स्थान	'ली'	मील (ब्रिटिश)
१	भदावर–गोविस्न	४००	६६
२	कौशम्बी–कुसपुर	७००	११४
३	श्रावस्ती–कपिला	५००	८५
४	कुशीनगर–बनारस	७००	१२०
५	बनारस–गाजीपुर	३००	४८
६	गाजीपुर–वैशाली	५८०	१०३
	योग	३१८०	५३६
	औसत =	५.९३ या	१

इस तालिका के अनुसार एक मील में ५.९३३ ली होते हैं। भरत सिंह उपाध्याय[2] ने एक मील में ६ ली मानकर स्थानों को दूरियाँ स्पष्ट की हैं मेरे मतानुसार भी यही मान उचित बैठता है। यह स्पष्ट की है कि ७वीं शती में चीनी 'ली' का वास्तविक मूल्य ब्रिटिश मील के छठवें भाग से अधिक नहीं था। इसका मूल्य १०७९.१२ फुट अथवा ब्रिटिश मील के पाँचवें भाग से कुछ अधिक था।

कोस

प्राचीन भारतीय दूरी मापक लम्बे मापकों में कोस (संस्कृत = क्रोश) का भी प्रयोग किया जाता था। भारतीय धर्मग्रंथों, यथा महाभारत, पुराणादि एवं बाद के मुस्लिम शासकों आदि ने दूरी-मापनार्थ 'कोस' का ही प्रयोग किया गया है।

सम्प्रति ग्रामीण क्षेत्रों में जनसामान्य स्थानों की पारस्परिक दूरियों को 'कोस' में ही उच्चारित करते हैं। जैनग्रन्थों में प्रयुक्त कोस (क्रोश) का मान २ मील बताया गया है।[3] टामस[4] ने २००० दण्ड = १ कोस उद्धृत किया है। इसी प्रकार का मान कौटिल्य[5] ने भी दिया है। तदनुसार २००० धनु = १ गोरुत (क्रोश) होता है। महाभारत के अनुसार कोश ८००० हाथ अर्थात् ४००० गज लम्बा होता है। इस प्रकार,

१ कोश (८००० हस्त का) = ४००० गज

$$= \frac{२–३}{११} \text{ अथवा } २·२६ \text{ मील}$$

पुराणों में भी कोश को इसी मान के रूप में प्रयोग किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में सामान्यतः एक कोश को २ मील समझकर व्यवहृत किया जाता है। कनिंघम[6] ने सम्प्रति

१. Fleet, Yojan and Li, *JRAS*, 1906, pp. 1013 ff.
२. उपाध्याय, भरतसिंह, **बुद्धकालीन भारतीय भूगोल**, पृ० २४७।
३. सेठ हरगोविन्द त्रिकमचंद, **पाइअ सद्द महण्णवो**, पृ० २६५।
४. Thomas, *Ancient Indian Weights*, p. 32.
५. **अर्थशास्त्र**, प्रकरण २६, अध्याय २०।
६. Cunningham, A., *Ancient Geography of India*, p. 486.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तरी भारत में प्रचलित तीन प्रकार के योजनों की परिचर्चा की हैं, जो इस प्रकार है—

(क) छोटा कोस जिसे सामान्यतः बादशाही अथवा पंजाबी कोस कहा जाता है। यह उत्तरी-पश्चिमी भारत तथा पंजाब में प्रचलित है और प्रायः १$\frac{१}{४}$ मील लम्बा है।

(ख) गंगा घाटी के प्रदेशों का कोस जो नदी के दोनों तटों के जिलों में प्रचलित है, २$\frac{१}{४}$ मील लम्बा था, परन्तु सुविधानुसार अब इसे सामान्यतः दो ब्रिटिश मील के समान स्वीकार किया जाता है।

(ग) बुन्देल कोस,जो बुन्देलखण्ड तथा यमुना नदी के दक्षिण में एवं अन्य प्रान्तों में प्रचलित है, प्रायः ४ मील लम्बा है। यही कोस दक्षिण भारत में मैसूर राज्य में भी प्रचलित है।

छोटे कोश के सम्बन्ध में कनिंघम का कहना है कि यह सम्भवतः मेगस्थनीज के समय में मगध में प्रचलित रहा होगा। क्योंकि उसने लिखा है कि राजकीय मार्ग पर दूरी बताने के उद्देश्य से प्रत्येक १० स्टेडिया की दूरी पर स्तम्भ लगाये गये थे। १० स्टेडिया ६६६६·७२ फुट अथवा प्रायः ४००० हाथ के समान है, जो ललित विस्तर के अनुसार मगध के कोस का वास्तविक मान था। ८००० हस्त के लम्बे कोस का उल्लेख भाष्कर की 'लीलावती' में तथा अन्य स्थानीय विद्वानों द्वारा किया गया है।[१]

फरसंग

ग्यारहवीं शती के मुस्लिम इतिहासकार अलबरूनी ने भारत भ्रमण के लिये प्रतिपादित षोडश मार्ग वृत्तान्तों के विवरण में दूरियों की नाप के लिये फरसंग शब्द व्यवहृत किया है। इलियट एवं डाउसन[२] ने अलबरूनी के फरसंग का वास्तविक मान प्रति फरसंग ४ मील के बराबर माना है। किन्तु शोधकर्त्ता ने सही मान के लिये अलबरूनी[३] द्वारा निर्दिष्ट षोडश मार्ग वृत्तान्तों में बारी (कन्नौज) से गंगा नदी के किनारे-किनारे एवं उसके उत्तर-पूर्व को ओर जाने वाले मार्गों का अवलम्बन कर उनके बीच पड़ने वाले स्थानों की कुल ६ दूरियाँ एकत्रित कर फरसंग का मान निकाला है, जिसमें १ फरसंग का मान ४·७२ मील प्राप्त हुआ। तालिका इस प्रकार है :

			औसत दूरी (लगभग)	
क्रमांक	स्थान	फरसंग	मील	कि० मी०
१	बारी (कन्नौज)-अजोदह	२५	१५९·६८	२५५·५
२	अजोदह–बनारसी	२०	११७·१८	१८७·५
३	बनारसी–सरुवार	३५	११५·९५	१८५·५
४	सरुवार–पाटलिपुत्र	२०	१७१·२५	२७४
५	पाटलिपुत्र–मुद्‌गगिरि	१५	८६·५६	१३८·५
६	मुद्‌गगिरि–चम्पा	३०	३४·३७	५५
	कुल योग	१४५	६८४·९८	१०९६
	औसत	१	= ४·७२	या ७·५६

उपरोक्त तालिका में प्रदर्शित स्थान नामों का समीकरण किया जा चुका है—वारी = आधुनिक कन्नौज, अजोदह = अयोध्या, बनारसी = वाराणसी, सरुवार = गोरखपुर, पाटलिपुत्र = पटना, मुद्‌गगिरि = मुंगेर (बिहार), एवं चम्पा = आधुनिक भागलपुर (बिहार)। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अलबरूनीका एक फरसंग ४ मील या उससे कुछ अधिक था, किन्तु ५ मील से ऊपर नहीं था, यह मान वास्तविक रूप से ४-५ मील के भीतर ही था।

---

१. Cunningham, A., *op, cit.*

२. Elliat & Dowson, *History of India*, vol. I, p. 56.

३. Sachau, *Alberuni's India*, vol. I, p. 200.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तालिका

क्रमांक	कहाँ से – कहाँ तक	आधुनिक स्थिति	योजन	ली	फरसंग	मील	किमी० स्थल मार्ग	किमी० हवाई मार्ग	किमी० प्रति (स्थल)	किमी० प्रति (हवाई)	साक्ष्य
			दूरियाँ (लगभग)								
1	चम्पा–मिथिला	भागलपुर (बिहार)–दरभंगा (बिहार)	60				273	137·5	4.5	2·5	जातक, I, 32,
2	राजगृह–कपिलवस्तु	राजगृह–कपिलवस्तु	60				549	337·5	9	5·5	पपञ्चसूदनी, II, 152.
3	राजगृह–कुसीनारा	राजगृह–(बिहार)–कसया (देवरिया)	25				320	188	12	7·5	सुमंगलविलासिनी
4	राजगृह–श्रावस्ती	राजगृह–ससेत-महेत (गोंडा)	15				620	425	41·5	28·5	पपञ्चसूदनी, II, 152.
5	उरुवेला–इसिपतन	गया के पास–सारनाथ (वाराणसी)	18				253	212·5	14	12	जातकट्ठकथा
6	राजगृह–श्रावस्ती	राजगृह–सहेत महेत (गोंडा)	45				620	425	14	9·5	सारत्यप्पकासिनी, I, पृ० 243.
7	वाराणसी–गया	वाराणसी–गया (बिहार)	15				238	212·5	16	14·5	पपञ्चसूदनी, I, 387.
8[a]	राजगृह–नालन्दा	राजगृह–नालन्दा (बिहार)	1			9·45[b]	14				सुमंगलविलासिनी, I, 35, III, 873.
9	श्रावस्ती–तक्षशिला	सहेतमहेत–तक्षशिला	192				1343	1087	7	6	मज्झिम निकाय अट्ठकथा, 3.4.10.
10	श्रावस्ती–साकेत	सहेतमहेत–साकेत (अयोध्या)	6				103	80	17	13·5	महावग्ग, पृ० 287, विनयपिटक, 1253.
11	श्रावस्ती–संकाश्य	सहेतमहेत–संकाश्य (संकिशा, एटा)	30				497	275	17	9	जातक, 4, 256 (फाँसबल)
12	श्रावस्ती–सुप्पारक	सहेतमहेत–सूरत	120				1421	1138	12	9·5	धम्मपदट्ठकथा 8/2, उदान अट्ठ० 1/10
13	श्रावस्ती–आलवी	सहेतमहेत–इटावा के पास	30				446	212·3	15	7	धम्मपद० 13/7, 15/5,
14	श्रावस्ती–मच्छिकासण्ड	सहेतमहेत–मछलीशहर (जौनपुर)	30								धम्मपद०, 2/50.
15	श्रावस्ती–कुक्कुटवती	सहेतमहेत–	120								
16	श्रावस्ती–कुररधर	सहेतमहेत–	120								धम्मपद०, 25/7
17	श्रावस्ती–कन्नौज	सहेतमहेत–कन्नौज	13				286	225	22	17	*Travels of Fa-Hian*, p. 54.
18	वाराणसी–कौशाम्बी	वाराणसी–कोसम (इलाहाबाद)	30				167	157	5·5	5·2	
19	विदिशा–पाटलिपुत्र	विदिशा–पटना	50				899	750	18	15	महाबोधिवंश,
20	कुसीनारा–पावा	कसया–पड़रौना (देवरिया)	3 गावुत			6					
21	वैशाली–कुसीनारा	वैशाली–कसया	25				200	138	8	5·5	
22	वाराणसी–तक्षशिला	वाराणसी–तक्षशिला	129/2000				1606	1325	13·5	11	जातक, I, 96, II, 163.
23	वाराणसी–चान्चू	वाराणसी–गाजीपुर		300			69	62·5	4·5	5 ली = 1मील	Watters, *On Yuanchuang Travels*, II 59.
24	वाराणसी–श्रावस्ती	वाराणसी–सहेत–महेत					288	250			
25	वाराणसी–चम्पा	वाराणसी–भागलपुर					478	388			
26	वाराणसी–उज्जयिनी	वाराणसी–उज्जैन					941	750			
27	वाराणसी–कपिलवस्तु	वाराणसी–कपिलवस्तु (पिपाहवा)					278	188			
28	वाराणसी–ताम्रलिप्ति	वाराणसी–तामलुक (पं० बंगाल)					703	587			
29	वाराणसी–सरुवार	वाराणसी–गोरखपुर			35		206	163	6	4·6	Sachau, *Alberuni's India*, I, p. 200.
30	वाराणसी–साकेत	वाराणसी–अयोध्या					195	180			
31[c]	वाराणसी–पाटलिपुत्र	वाराणसी–पटना			55		270	212	5	4	Sachau, *Alberuni's India*, I, p. 200
32	वाराणसी–प्रयाग	वाराणसी–इलहाबाद					122	112			
33[d]	प्रयाग–कौशाम्बी	इलहाबाद–कोसम		500		30	45		16·8	11 = 1किमी	Watters, *On Yuan-Chuang Travels* I, 565.
34	वारो–बनारसी	कन्नौज–वाराणसी			20						Sachau, *Alberuni's India*, I, p. 200
35	कुसीनारा–वाराणसी	कसया–वाराणसी		500			283	180	2·2	2·6	Watters, II, p. 46.
39	वाराणसी–इसिपतन	वाराणसी–सारनाथ		10			6				*Travels of Fa-Hian*, p. 60.

a. Day, N. L., *Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India*, p. 136. में राजगृह और नालन्दा के बीच की दूरी ७ मील बताई गई हैं।

b. *India Tourism, Tourist Atlas of India*, plate, 6, Calcutta, 1974, scale 1″ = 94.70

c. Sachau, *Alberuni's India*, p. 200 में यह मार्ग वाराणसी पटना बतलाया गया है, जिसके आधार पर तालिका में उसे जोड़ा गया है।

d. Day N. L., *Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India*, p. 96, में प्रयाग और कौशाम्बी की दूरी लगभग ३० मील बताई गई है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहित्यिक साक्ष्यों के आलोक में प्रयाग का तीर्थराजत्व

अतुल कुमार सिनहा

गंगा, यमुना और (विलुप्त) सरस्वती नदियों के संगम पर स्थित प्रयाग अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारतीय सांस्कृतिक चेतना के नैरन्तर्य और अविच्छिन्नता का जीवन्त प्रतीक रहा है। राजनीतिक अथवा आर्थिक क्रिया-कलापों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी 'तीर्थराज' के महिमाण्डित रूप में भारतीय संस्कृति की विविधताओं में एकता का प्रतिपादन करता हुआ, यह नगर अद्यावधि भारतीय जनमानस की चेतना के साथ जुड़ा हुआ है। भारतीय संस्कृति के दीर्घकालीन इतिहास में प्रयाग का यह महत्व क्या प्रारम्भ से ही प्राप्त था अथवा कुछ क्रमिक स्थितियाँ पार करने के बाद उसकी इतनी महत्ता बढ़ी, यह विचार का विषय है और प्रस्तुत लेख में मुख्यरूप से इसे ही अपने विवेचन का आधार बनाया गया है किन्तु इसके साथ ही साथ इसमें प्रयाग के तीर्थराजत्व का भी एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

प्रयाग के नामकरण का औचित्य स्थापित करने के लिए इस शब्द की व्युत्पत्ति को आधार बनाया गया है। 'प्रयाग' को प्र + याग के रूप में विच्छेदित कर 'प्र' तथा 'याग' शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ प्रस्तुत कर इस तीर्थ के 'प्रयाग' नाम को पुष्ट करने की चेष्टा की गयी है। महाभारत के वनपर्व में बताया गया है कि 'समस्त प्राणियों की आत्मा ब्रह्मा ने प्राचीनकाल में जहाँ यज्ञ किया था, वह स्थान 'प्रयाग' कहा जाता है।'[1] 'याग' शब्द की व्युत्पत्ति 'यज्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है यज्ञ करना। अतः स्पष्ट है कि प्रयाग के सन्दर्भ में 'याग' शब्द उस पूर्वकालीन यज्ञ की ओर संकेत करता है जिसकी, ब्रह्मा द्वारा सम्पादित होने के कारण, प्रकृष्टता 'प्र' उपसर्ग के संयोग से इङ्गित की गयी है। प्रयाग की यही व्युत्पत्ति स्कन्दपुराण में प्राप्त होती है जिसके अनुसार सभी यज्ञों से प्रकृष्ट होने के कारण इसे प्रयाग कहा गया है; 'प्रकृष्ट सर्वयागेभ्यः प्रयागमिति गीयते।'[2] उसका कथन है कि दक्षिणा आदि से पुष्ट इस यज्ञ की प्रकृष्टता को देखकर हरि और हर (शिव) आदि देवों ने इसे 'प्रयाग' नाम दिया।[3] मत्स्यपुराण ने 'प्र' उपसर्ग पर बल देते हुए इसे अन्य तीर्थों से अधिक प्रभावशाली बताया गया है।[4] ब्रह्मपुराण ने इसे "अपनी प्रकृष्टता के कारण प्रयाग और प्रधानता के कारण 'राज' शब्द से युक्त माना है।"[5] प्रयाग के नामकरण का औचित्य स्थापित करने वाले इन सभी प्रयासों में समान रूप से प्रयाग को 'प्र' तथा 'याग' से युक्त माना गया है जिसमें 'प्र' का प्रयोग प्रकृष्टता का द्योतन कराने के लिए किया हुआ समझा गया है। इन दोनों शब्दों अर्थात् 'प्र' तथा 'याग' को उनके सामान्य

---

१. **वनपर्व,** (गीता प्रेस सं०), ८७.१९।

२. **स्कन्दपुराण** (काशी खंड), ७.४९; काणे, पी० वी०, **हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र** (हि० अनु०), भाग-३, लखनऊ, १९७५, पृ०, १३२७, पादटिप्पणी, २४।

३. 'दृष्ट्वा प्रकृष्टयागेभ्यः पुष्टेभ्यो दक्षिणादिभिः।
प्रयागमिति तन्नाम कृतं हरिहरादिभिः॥' **त्रिस्थलीसेतु,** पृ० १३।

४. **मत्स्यपुराण,** ११०.११, राय, उदय नारायण, **प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन,** इलाहाबाद, १९६५ पृ० ९९।

५. 'प्रकृष्टत्वात्प्रयागोसौ प्राधान्याद् राजशब्दवान', **ब्रह्मपुराण,** अध्याय-२८, राय, यू० एन०, **पूर्वोद्धृत,** पृ० ९९; पादटिप्पणी-३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थों में ग्रहण करते हुए भी 'प्रयाग' शब्द के दो अर्थ समझे जा सकते हैं। प्रथम यदि 'प्रकृष्टो यागो यत्र' अर्थात् 'जहाँ उत्कृष्ट यज्ञ हों' के रूप में समझा जा सकता है तो द्वितीय 'यागेभ्यः प्रकृष्टः' अर्थात् 'जो यज्ञों से बढ़कर हो' के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।[१] और यदि यज्ञ प्रधान वैदिक धर्म के प्राचीनतम सूत्र से प्रारम्भ कर ब्राह्मण धर्म के परवर्ती स्वरूप का एक विहङ्गम दृश्यावलोकन करें तो 'प्रयाग' शब्द के ये दोनों ही अर्थ क्रमशः इस तीर्थ के नाम को भावात्मक आधार प्रदान करते हैं और इस आधार पर प्रयाग की प्राचीनता के कुछ संकेत ढूंढे जा सकते हैं।

ऋग्वेद के एक परवर्ती सूक्त[२] में 'सित' तथा 'असित' नदियों के संगम के उल्लेख को कुछ विद्वानों ने प्रयाग का संकेत माना है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण[३] में भरतों के राजाओं द्वारा दिये जाने वाले दान के सम्बन्ध में गंगा-यमुना नदियों के संगम का उल्लेख किया गया है और इन दोनों उल्लेखों के आधार प्रयाग की प्राचीनता कम से कम उत्तर वैदिक काल तक ढूंढ़ने की चेष्टा की गयी है। प्रयाग की 'प्रकृष्टयाग' के रूप में प्रदत्त व्याख्या के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया गया है कि यह वह स्थान था जहाँ वैदिक यज्ञ बहुतायत से किये जाते थे।[४] और यज्ञों की बहुतायता का स्थल बताकर प्रच्छन्न रूप से प्रयाग को ऋग्वैदिक काल के अन्तिम चरण अथवा उत्तरवैदिक काल के प्रारम्भिक चरण से सम्बन्धित करने की चेष्टा की गयी है जब कि वैदिक धर्म में यज्ञों का बोलबाला था।[५]

किन्तु इस बात को स्वीकार कर लेने पर इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता कि यदि इतने प्राचीनकाल में प्रयाग का अस्तित्व था और यज्ञों की बहुलता के कारण यह यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था तो शतपथ ब्राह्मण से लेकर रामायण की रचनाकाल तक के बीच के एक बड़े अन्तराल में इसका स्पष्ट और नामतः उल्लेख क्यों नहीं किया गया। ऋग्वेद में नदियों के संगम और पर्वतों की गुफायें आदि स्थान पवित्र माने गये हैं।[६] नदी सूक्त में गंगा और यमुना के उल्लेख[७] से इन नदियों से तत्कालीन लोगों के परिचय की भी जानकारी होती है। ऐसी स्थिति में यदि प्रयाग का महत्व वैदिक काल में था तो शतपथ ब्राह्मण के बाद और रामायण के पूर्व इसका स्पष्ट उल्लेख क्यों नहीं किया गया, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसका ठीक-ठीक उत्तर पाने के लिए शतपथ ब्राह्मण और रामायण के रचनाकालों के बीच के अन्तराल में हुए सामाजिक धार्मिक परिवर्तनों को दृष्टिपथ में रखना आवश्यक होगा क्योंकि हम जानते हैं कि प्रयाग का महत्व राजनीतिक और आर्थिक दृष्टियों से न होकर धार्मिक दृष्टि से ही अधिक था और अत्यन्त प्राचीनकाल से उसकी ख्याति तीर्थ के रूप में ही चली आ रही थी, नगर अथवा राजनीतिक सत्ताकेन्द्र के रूप में नहीं।

जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है गंगा और यमुना नदी के संगम पर स्थित प्रयाग वैदिक यज्ञों का एक केन्द्र होने के कारण उत्तर वैदिक काल में ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। किन्तु कालान्तर में आरण्यकों और उपनिषदों

१. तु०, काणे, पी० वी०, **पूर्वोद्धृत**।
२. **ऋग्वेद,** १०.७५; पाण्डेय, राजबली, **हिन्दू धर्मकोश,** लखनऊ, १९७८, पृ० ४२३; राय, यू० एन०, **स्टडीज इन एन्शिएन्ट इन्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर**, इलाहाबाद, १९६९, पृ० १७४।
३. शर्मा, जी० आर० तथा अन्य (सं०) **इलाहाबाद थ्रू द एजेज**, इलाहाबाद १९६५, पृ० १; राय, यू० एन०, **स्टडीज इन एन्शिएन्ट इन्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर**, पृ० १७४।
४. **शब्दकल्पद्रुम**, पृ० २८७; राय, यू० एन०, **प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन**, पृ० ९९ पर उद्धृत।
५. राय, यू० एन०, **पूर्वोक्त**, पृ० १७४।
६. **ऋग्वेद**, ८.६.२८।
७. **ऋग्वेद**, १०.७५.५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की ज्ञानमार्गीय विचारधारा के कारण जनमानस में यज्ञों और कर्मकाण्डों का प्रभाव कम होने लगा जिसमें और भी तीव्रता आयी। इतरवैदिक धर्मों के उदय से जिनमें बौद्ध और जैन धर्म प्रमुख थे उपनिषदों की ज्ञानमीमांसा के साथ जाने-अनजाने इन धर्मों की निवृत्तिपरक विचारधारा ने जुड़कर वैदिक कर्मकाण्ड और यज्ञ के प्रति जेहाद सा छेड़ दिया और इतिहास हमें बताता है कि कम से कम अशोक के काल तक यह निवृत्तिमार्गी विचारधारा हावी रही जिसके परिणामस्वरूप यज्ञों और कर्मकाण्डों का महत्व अत्यन्त कम हो गया। ऐसी स्थिति में यज्ञों के सम्पादन से सम्बन्धित स्थल भी उपेक्षा और अवहेलना के पात्र बन गये होंगे।[1] शतपथ ब्राह्मण से लेकर रामायण के रचनाकाल के बीच के इतने लम्बे अन्तराल में प्रयाग के अनुल्लेख का भी सम्भवतः यही कारण रहा होगा।

इतरवैदिक निवृत्तिमार्गी धर्मों की एक बहुत बड़ी विशेषता थी उनका बुद्ध और महावीर जैसी ऐतिहासिक विभूतियों से सम्पन्न होना। और यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि दुरूह और गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों को समझने में सक्षम विद्वानों और चिन्तकों की बात छोड़ दी जाय तो जनसाधारण की आस्था और श्रद्धा अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी निर्गुण, अशरीरी और निराकार सत्ता के बजाय सगुण, सशरीरी और साकार आश्रय की अपेक्षा रखती है और विश्व के प्रत्येक धर्म में ईश्वर, फरिश्ता अथवा देवदूत की कल्पना इसी तथ्य को प्रमाणित करती है। वैदिक धर्म में निर्गुण ब्रह्म के साथ-साथ सगुण ब्रह्म की भी परिकल्पना सम्भवतः इसी आवश्यकता का परिणाम थी जिसकी तीव्रता शायद बुद्ध और महावीर की केन्द्रीयता से युक्त बौद्ध एवं जैन धर्मों के बढ़ते हुए प्रभावों के कारण महसूस की गयी होगी। फलतः परवर्ती विचारधारा में तीन सर्वोच्च देवों-ब्रह्मा, विष्णु और शिव, की कल्पना की गयी जो वस्तुतः अखिल ब्रह्माण्ड की सर्वोच्च सत्ता-ब्रह्म के तीन गुणों-सृष्टि, पालन और प्रलय के अलग-अलग प्रतीक थे। कालान्तर में विष्णु एवं शिव को सर्वोच्च सत्ता अथवा ईश्वर का रूप देकर क्रमशः वैष्णव और शैव धर्मों का उदय हुआ और इसके साथ ही साथ हिन्दू धर्म में वैदिक धर्म की सैद्धान्तिक अमूर्त्तता से व्यावहारिक स्तर पर लोक मानस को प्रभावित करने वाले प्रचलित विधि-विधानों का अवतरण हुआ। ईश्वर, धर्माचार्यों और धर्मप्रवर्तकों द्वारा सेवित स्थानों को पवित्र मानने की परम्परा अशोक के काल में प्रारम्भ हुई जब कि अशोक ने बुद्ध से सम्बन्धित स्थानों की यात्रायें कीं जिनसे परम्परागत वैदिक धर्म, जिसे अब ब्राह्मण धर्म के नाम से पुकारना अधिक उचित होगा, में धार्मिक स्थलों को पवित्र मानकर उसकी यात्रा करने की परम्परा का सूत्रपात हुआ और आगे चलकर दान और व्रत के साथ-साथ तीर्थयात्रा हिन्दू धर्म का एक प्रमुख अङ्ग बन गयी। गङ्गा, यमुना और सरस्वती नदियों के संगम के रूप में प्रयाग का महत्व था जो प्राचीनकाल में ही स्थापित हो गया, किन्तु बीच के लम्बे अन्तराल में जिसका प्रभाव कुछ कम सा हो गया था, अब फिर बढ़ने लगा क्योंकि विष्णु के एक अवतार राम अपनी वनयात्रा के दौरान इधर से होकर गुजरे थे। रामायण[2] में प्रयाग का उल्लेख सिर्फ इसी सन्दर्भ में हुआ है और वह भी अत्यन्त साधारण ढंग से जिससे सिर्फ इतना पता चलाता है कि रामायणकाल में प्रयाग गंगा-यमुना के संगम पर स्थित एक तपोभूमि था जहाँ भारद्वाज ऋषि निवास करते थे।[3] वैष्णव धर्म के अपने अध्ययन के प्रसङ्ग में सुवीरा जायसवाल ने यह दिखाया है कि राम को अवतार पुरुष मानकर पूजने की प्रथा द्वितीय शताब्दी

---

१. यद्यपि **त्रिस्थलीसेतु**, (पृ० ८) में गंगा, यमुना और सरस्वती नदियों के संगम को ब्रह्म के प्रतीक 'ओउम्' शब्द से सम्बन्धित बताया गया है और 'ओउम्' के आकार, उकार एवं मकार को क्रमशः सरस्वती, यमुना एवं गंगा का प्रतीक माना है तथा इस प्रकार उत्तरवैदिक ज्ञानमार्ग के प्रभावकाल में भी शायद प्रयाग की प्रतिष्ठा स्थापित करने का अप्रत्यक्ष प्रयास किया गया है किन्तु **त्रिस्थलीसेतु** के मध्यकाल का ग्रन्थ होने के कारण उसके आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा।

२. **रामायण**, २.५४.६।

३. श्रीवास्तव, शालिग्राम, **प्रयाग-प्रदीप**, इलाहाबाद, १९३७, पृ० १८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ई० के पहले नहीं थी।[१] अतः रामायण में प्राप्त प्रयाग का साधारण सा उल्लेख द्वितीय शताब्दी ई० के बाद अत्यन्त महत्वपूर्ण हो उठा होगा क्योंकि इस समय तक राम ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे, अतः उनकी यात्रा का पथ होने और एक रात उनके विश्राम का स्थल होने के कारण प्रयाग का महत्व और भी अधिक बढ़ गया होगा जिसने तीर्थ के रूप में प्रयाग की प्रतिष्ठा स्थापित करने में एक अहम भूमिका निभाई होगी। तीर्थ के रूप में प्रयाग का महत्व इसके बाद ही बढ़ा होगा जिसका पूर्ण विस्तार महाभारत और पुराणों के विशाल साहित्य में प्राप्त होता।[२] इनमें प्रयाग को 'तीर्थराज' की उपाधि से विभूषित किया गया है।[३] शायद इसे मात्र संयोग कहना उचित नहीं होगा कि तीर्थ के रूप में प्रयाग की इस प्रतिष्ठा को स्थापित करने वाले सभी स्रोतों की तिथि तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ई० से पूर्व नहीं रखी जा सकती। इतिहास के अध्ययन से हम जानते हैं कि लगभग इसी समय महान गुप्त साम्राज्य का अभ्युदय हुआ था तथा वायुपुराण तथा विष्णुपुराण में कथित 'अनुगङ्गा प्रयागं च·····' के अनुसार प्रयाग को थोड़ी राजनीतिक महत्ता भी प्राप्त हो चुकी थी। परम भागवत गुप्त राजाओं के संरक्षण में हिन्दू धर्म, जिसने अब पौराणिक कलेवर धारण कर लिया था, ने दान, व्रत और तीर्थ के त्रिकोणीय स्वरूप में अभूतपूर्व उन्नति की। तीर्थों की यात्रा इस काल में यज्ञ सम्पादन की अपेक्षा अधिक पुण्यदायी मानी जाने लगी।[४] तीर्थराज प्रयाग जो पूर्वकाल में 'प्रकृष्टोः यागो यत्र' का प्रतीक बन कर चला आ रहा था, इस काल में 'यागेभ्यः प्रकृष्टः' का द्योतक बन गया। यही कारण है कि महाभारत के वनपर्व में राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के करने से प्राप्त होने वाले पुण्य को यहाँ के संगम में स्नान करने मात्र से प्राप्य बताया गया है।[५] वनपर्व में ही एक अन्य स्थान पर गंगा-यमुना के मध्म सङ्गम में स्नान करने वाले को दश अश्वमेध यज्ञ का फल मिलने और उसके कुल का उद्धार होने की चर्चा की गयी है।[६] 'साठ करोड़ दस हजार तीर्थों के आश्रय' इस तीर्थराज में आकर गंगा-यमुना के सङ्गम पर स्नान करने वाले को वही पुण्य प्राप्त होता है जो चारो विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करने वाले और सत्यवादी को मिलता है।[७] गङ्गा और यमुना के बीच के इस भाग को पृथ्वी का जघन माना गया है[८] जहाँ ब्रह्मा आदि देवता, दिशा, दिक्पाल, लोकपाल, लोक सम्मानित पितर, सनत्कुमार आदि महर्षि, अङ्गिरा आदि निर्मल महर्षि, नाग, सुपर्ण, सिद्ध, सूर्य, नदी, समुद्र, गंधर्व, अप्सरा तथा प्रजापति सहित विष्णु निवास करते हैं।[९] महाभारत के आदिपर्व में प्रयाग को सोम, वरूण और प्रजापति का जन्म स्थान बताया गया है।[१०] वहाँ पर स्थित तीन अग्निकुंडों के बीच से सभी तीर्थों से सम्पन्न गङ्गा

---

१. जायसवाल, सुवीरा, **ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट आव वैष्णविज्म** (हि० अनु०), दिल्ली, १९७६, पृ० १५।

२. वास्तव में न केवल प्रयाग बल्कि तीर्थों को ही सूत्रों तथा मनु और याज्ञवल्क्य जैसी प्राचीन स्मृतियों में कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है किन्तु महाभारत और पुराणों में उनकी महिमा गाई गयी है और उन्हें यज्ञों से बढ़कर माना गया है। तु० काणे, पी० वी०, **वही**, पृ० १३०६।

३. **मत्स्यपुराण**, १०९.१५।

४. 'तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते', **वनपर्व**, ८२.१७।

५. **वनपर्व**, ८४.३५, ८५.८१।

६. **वनपर्व**, ८४.३५।

७. **वनपर्व**, ८५.८४-८५।

८. **वनपर्व**, ८५.७५।

९. **वनपर्व**, ८५.७०-७३।

१०. **आदिपर्व**, अध्याय-५५; **प्रयाग-प्रदीप**, पृ० १८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अत्यन्त वेगपूर्वक प्रवाहित होती है।[१] प्रतिष्ठानपुर सहित प्रयाग कम्बल और अश्वतर नाग तथा भोगवती तीर्थ प्रजापति की वेदी है जहाँ वेद और यज्ञ मूर्तिमान होकर रहते हैं और प्रजापति की उपासना करते हैं। तीनों लोकों में प्रयाग को सब तीर्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं पुण्यतम माना गया है जहाँ आने अथवा जिसका नाम लेने मात्र से मनुष्य मृत्युकाल के भय से तथा पाप से मुक्त हो जाता है।[२] महाभारत में उल्लिखित प्रयाग के इस माहात्म्य का वर्णन पुराणों में और विस्तार से प्राप्त होता है। मत्स्यपुराण के अनुसार प्रयाग में स्नान करने वाला मनुष्य दिवलोक को जाता है और जिसकी यहाँ मृत्यु हो जाती है उसका पुनंजन्म नहीं होता।[३] इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु तथा शूलपाणि शिव आदि सभी देवता प्रयाग की रक्षा करते हैं। इस महान तीर्थ के दर्शन, उसके नाम के संकीर्तन अथवा उसकी मिट्टी के स्पर्श मात्र से भी मनुष्य पापमुक्त हो जाता है।[४] मत्स्यपुराण ने इसे तीनों लोकों में विश्रुत प्रजापति का क्षेत्र बताया है।[५] प्रयाग की पवित्रता और उसके तीर्थराजत्व पर लगभग इसी तरह के वर्णन अन्य पुराणों में भी प्राप्त होते हैं। न केवल प्रयाग की यात्रा और सङ्गम में स्नान और वहाँ दान करने और व्रत आदि के पालन को ही पुण्यदायी बताया गया है बल्कि वहाँ आत्महत्या, जिसे सभी कालों और सभी धर्मों में घोर पाप माना गया है, को भी पुण्यकर बताया गया है।[६] ऐतिहासिक स्रोतों से हमें इस बात की स्पष्ट जानकारी होती है कि धङ्ग, गाङ्गेयदेव, रामपाल, चालुक्य नरेश आहवमल्ल तथा कुमारगुप्त ने यहाँ अपने प्राणोत्सर्ग किये थे।[७] इसके अतिरिक्त ह्वेनसाङ्ग तथा अलबीरूनी जैसे विदेशी यात्रियों के विवरण भी प्रयाग में धार्मिक आत्महत्या के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। ह्वेनसाङ्ग के विवरण से ज्ञात होता है कि कम से कम सातवीं शताब्दी ईस्वी तक, जब उसने प्रयाग की यात्रा की थी, प्रयाग का अस्तित्व एक महत्त्वपूर्ण तीर्थ के रूप में ही था। उसका नगर के रूप में विकास इस काल तक नहीं हो सका था।[८] पुराणों में प्राप्त सात मोक्षदायिका पुरियों की सूची में भी इसके नाम का अनुल्लेख इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। यद्यपि नगर के रूप में प्रयाग के विकास का श्रेय अकबर को दिया जाता है तथापि यह कहना शायद बहुत अनुचित न होगा कि सातवीं शताब्दी में हर्ष द्वारा प्रति पाँचवें वर्ष माघ के महीने में यहाँ आकर दान देने से प्रयाग की धार्मिकता को कुछ राजनीतिक महत्व भी प्राप्त हुआ होगा जिसने इसके कालान्तर में होने वाले नगरीय विकास के बीज बाये होंगे।

---

१. **वनपर्व**, ८५.७३; देखिए, वेत्तम मनि (सं०) **पुराणिक इनसाइक्लोपीडिया**, दिल्ली, १९७५, पृ० ६०६।
२. **वनपर्व**, ८५.७६-८०; वेत्तम मनि, पूर्वोद्धृत।
३. **मत्स्यपुराण**, ४९.५; **कूर्मपुराण**, १.३४.२०।
४. **मत्स्यपुराण**, ४९.८-९, ११; १११.४-१०; **कूर्मपुराण**, १.३४.२४.२५.२७।
५. **मत्स्यपुराण**, ४९.४।
६. **वनपर्व**, ८५.८३; **कूर्मपुराण**, १.३७.१४।
७. काणे, पी० वी०, **पूर्वोद्धृत**, पृ० १३३२; यू० एन० राय, **प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन**, पृ० १०६।
८. देखिये, राय, यू० एन०, **स्टडीज**......., पृ० १७२; यद्यपि ह्वेनसांग के विवरण के अनुसार यह केवल ब्राह्मण धर्म से ही सम्बन्धित नहीं था बल्कि बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कम से कम दो विहार यहाँ थे जिनमें हीनयान शाखा के अनुयायी रहा करते थे। देखिये, वाटर्स, टामस, **आन युवान च्वाङ्गस ट्रैवेल्स इन इण्डिया**, जिल्द-१, दिल्ली, १९६१, पृ० ३६१, **विनयपिटक** बुद्ध के यहाँ से होकर गुजरने का उल्लेख करता है और इस आधार पर ऐसा समझा जा सकता है कि प्रयाग का बौद्ध धर्मानुयायियों के लिए भी महत्व कम नहीं रहा होगा। देखिये, **उत्तर प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर : इलाहाबाद**, इलाहाबाद १९६८, पृ० २२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट है कि राजनीतिक और आर्थिक गतिविधियों का केन्द्र न होते हुए भी मात्र अपनी धार्मिकता एवं पवित्रता के बल पर वैदिक काल में ही प्रयाग को जो महत्व मिला उसकी निरन्तरता हमारी चेतना में आज तक बनी हुई है, यद्यपि इस विशाल कालक्रम में कभी-कभी कुछ व्यवधान भो आये किन्तु उनसे इस निरन्तरता को कोई विशेष क्षति नहीं पहुँची और 'तीर्थराज' के रूप में प्रयाग की उल्लेखनीय महत्ता आज भी सुप्रतिष्ठित है तथा माघ के महीने में देश के कोने-कोने से यहाँ आ जुटने वाला अतिविशाल जनसमुदाय इसका साक्षी है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जौनपुर की धार्मिक परम्परा

वीरेन्द्र बहादुर राय*

जौनपुर जनपद प्रारम्भ में एक वन्य क्षेत्र था जिसकी नीरवता एवं शीतल समीर ने अनेक धर्माचार्यों को अपनी ओर आकृष्ट किया। ब्राह्मणधर्म पुरातन आप्त पुरुषों के आदर्शों से गौरवान्वित हैं। उन्हीं आप्त पुरुषों में महर्षि यमदग्नि थे जो राम के काल से भी पूर्व धर्म एवं दर्शन की गहनता में निमग्न थे। यमदग्नि को सामान्यतः उत्तर वैदिक युग से सम्बद्ध किया गया है। ये वह आर्य पुरुष थे जिन्होंने आर्य संस्कृत को प्राची दिशा में लोकप्रिय बनाया। शान्ति एवं सौम्य वातावरण को ढूढते हुए अपने शिष्यों के साथ इन्होंने जौनपुर को ही अपनी तपोभूमि के रूप में कृतकृत्य किया तथा आज हम उन्हीं के शिष्यों द्वारा स्थापित इस स्थल को जौनपुर के नाम से अभिहित करते हैं। उसी युग में यह क्षेत्र ब्राह्मण धर्म के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। छठी शताब्दी ई० पू० में बौद्ध धर्म ने इस क्षेत्र को प्रभावित तो अवश्य किया किन्तु ब्राह्मण धर्म की ग्रहणशीलता एवं उदारता से शनैः शनैः बौद्ध धर्म भी ब्राह्मण धर्म में ही विलीन हो गया।

यद्यपि जौनपुर का प्राक्मुस्लिम इतिहास अस्पष्ट एवं अन्धकारमय है किन्तु इस क्षेत्र में मन्दिरों का आधिक्य हमें इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है कि पौराणिक युग में जौनपुर ने ब्राह्मण धर्म के उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया होगा। आज भी प्रातः गोमती तट मन्दिर घाट-निनाद से गुञ्जरित रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कभी जौनपुर नगर के मध्य में गोमती के उभय तट पावन-देवालय-हार से अलंकृत थे। अधिकांश मन्दिर तो गोमती के अङ्क में समाहित हो गये, कुछ अभी भी जीर्ण अवस्था में विद्यमान हैं जो नरकंकाल की भाँति रेत-मध्य त्रिशंकुवत लटके हैं तथा कुछ सम्प्रति हिन्दुओं की प्रगाढ़ आस्था के केन्द्र हैं।

इन मन्दिरों में वैष्णव, शैव तथा शाक्त मन्दिरों का प्राधान्य है। इसमें कुछ मन्दिर अवश्य ही राजपूत युग के तान्त्रिक धर्म की देन है।

वैष्णव सम्प्रदाय के केन्द्र के रूप में जौनपुर राजपूत युग से ही प्रख्यात है। विष्णु के अवतारों में वराह अवतार की मूर्तियाँ तो दक्षिणापथ से बहु संख्यक रूप में प्राप्त होती हैं किन्तु उत्तर भारत में उनकी संख्या अत्यल्प है। जौनपुर में चन्दवक के समीप रामनगर ग्राम से एक विशाल वराह मूर्ति एक लघु मन्दिर में स्थापित है जो क्षेत्रीय भक्तगणों के लिए विशिष्ट पूज्य है। यह मूर्ति मूलतः गोमती नदी में थी जिसे निकाल कर वहीं तट पर स्थापित कर दिया गया है। यह मूर्ति निश्चय ही रचना शैली एवं पाषाण से राजपूत युगीन प्रतीत होती है। जफराबाद तथा जौनपुर के बीच गोमती तट पर यमदग्नि ऋषि का एक लघु मन्दिर है जिन्हें एक देवता के रूप में ही मान्यता प्राप्त है। इसके समीप ही परमहंस जी का एक समाधि मन्दिर है। जौनपुर नगर के गूलर घाट मुहल्ले में गोमती के तट पर श्रीकृष्ण का एक पुरातन मन्दिर है जो तटक्षरण के कारण झुक गया है। इस मन्दिर की विचित्रता यह है कि इसमें जानकी एवं हनुमान जी की भी मूर्तियाँ हैं। इसमें वैष्णव धर्म के विविध रूपों में तादात्म्य का संकेत प्राप्त होता है। रासमण्डल मुहल्ले में भगवान जगन्नाथ का मन्दिर यद्यपि अधिक पुरातन नहीं है, फिर भी जौनपुर जनपद में हमें वैष्णव धर्म का वह रूप भी दृष्टिगत होता है जो मूलतः दक्षिण में लोकप्रिय है। परशुराम-पुर नामक ग्राम में परशुराम का मन्दिर भी इसी तथ्य का बोधक है। परशुराम जितना कृष्णा नदी के दक्षिण में लोकप्रिय हैं उतना उत्तर में नहीं। केरल को तो परशुराम भूमि ही कहा गया है। रासमण्डल मुहल्ले में भी दाऊ जी (बलराम)

* तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का मन्दिर विद्यमान है। वैष्णव धर्म से सम्बद्ध ये मन्दिर निश्चय ही हिन्दू धर्म कोष में एक अध्याय हैं।

शैव धर्म भी जौनपुर में किंचित असाधारण एवं विशिष्ट रूप में प्राप्त होता है। मुसलमानों के आने के पूर्व यहाँ अनेक शिवालय थे। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में बड़े ही मनोरम रूप में जौनपुर के शिवालयों से उत्पन्न घन्ट-निनाद का वर्णन किया है। जौनपुर लोकधर्मों का प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। जौनपुर दुर्ग के समीप करारबीर का एक प्राचीनतम मन्दिर है। मौलवी फसीहुद्दीन करारबीर को भर शासक मानते हैं (शर्की मान्युमेन्ट)। जौनपुर गजेटियर (अध्याय ५, पृ० १४६) के अनुसार करारबीर की हत्या राम ने जौनपुर में की थी। इसी करारबीर का मन्दिर गाहडवाल शासक जयचन्द्र द्वारा बनवाया गया था। आज भी यह करारबीर निम्न जातियों द्वारा विशेष उपास्य है। जौनपुर में भर जाति यहाँ की मूल निवासिनी प्रतीत होती है। शिव एक ऐसे विचित्र एवं लोपोकारी देवता हैं जो उच्च तथा निम्न दोनों वर्गों में उपास्य थे। शिव यद्यपि संहार के देवता हैं फिर भी उनकी संहार प्रवृति मात्र आततायियों के लिये थी। अन्य वर्गों के लिए तो वे सरलता से प्रसन्न होने वाले उदार देवता हैं। यद्यपि अधिकांश पुरातन शिव मन्दिर विनष्ट हो गये हैं किन्तु नदी के तटपर कुछ जीर्ण मन्दिर अभी भी शैव धर्म की लोकप्रियता का प्रशस्तिगान कर रहे हैं। जौनपुर के शाही सेतु के स्तम्भ में एक पुरातन शिव लिंग है जो सम्भवतः मुसलमानों द्वारा तुच्छ स्तम्भ समझ कर सेतु के नीचे लगा दिया गया है। भक्तगण आज भी इस शिव लिंग को उपासना करते हैं। सेतु के ऊपर जो मस्जिद है वह भी सम्भवतः कोई शिव मन्दिर था जो अब मस्जिद के रूप में विद्यमान है। यह भी धारणा व्यक्त की गई है कि उसके सामने गजशावकाक्रान्तसिंह शाक्त धर्म के रक्षक शिव का प्रतीक है (आर०पी० यादव, भारतीय इतिहास संकलन समिति पत्रिका, अंक २)।

तान्त्रिक युग का नाथ सम्प्रदाय भी शैव धर्म का ही एक अङ्ग है। गोरखनाथ के शिष्य बाबा बारीनाथ का यह सिद्ध पीठ था। जौनपुर के प्राचीनतम मुहल्ला उर्दू बाजार में बाबा बारीनाथ का एक भव्य मन्दिर है जिसमें महात्माजी की सङ्गमरमर की समाधि बनी है। उस समाधि गृह के दक्षिण कोण में शिव तथा उत्तर-पश्चिम कोण में भैरव की मूर्तियाँ बनी हैं।

अन्य जो भी शिव मन्दिर उपलब्ध हैं उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी की कृति कह सकते हैं। पुरानी बाजार का पंचायतन शिवालय इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं। इन मन्दिरों से इतना तो सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि राजपूत-युग के पूर्व एवं पश्चात भी जौनपुर शैव धर्म का एक अविस्मरणीय केन्द्र रहा।

शक्ति-पीठ के रूप में जौनपुर को विन्ध्याचल के पश्चात् द्वितीय स्थान दिया जा सकता है। वाराणसी तन्त्र-साधना का सिद्ध पीठ थी। वाराणसी यदि शैव केन्द्र हैं तो जौनपुर शक्ति केन्द्र के रूप में उसका पूरक है। जौनपुर इस क्षेत्र में भी विचित्रता का प्रतीक है। यहाँ ऐसी शक्तियाँ पूज्य थीं जिनका उल्लेख तन्त्र साहित्य में भी नहीं उपलब्ध होता। जौनपुर की स्थानीय दन्त कथाएं तथा अनेक मुस्लिम इतिहासकारों (मौलवी खैरुद्दीन, मौलवी नूरुद्दीन जैदी, खान बहादुर मौलवी फसीहुद्दीन) की यह धारणा है कि आज को अटाला मस्जिद प्रारम्भ में अटाला देवी का मन्दिर था। अटला देवी कोई स्थानीय शक्ति थी जो शर्की काल के पूर्व विशेष जागृत थीं। देवीमाहात्म्य या किसी पुराण में इस नाम की देवी का कोई उल्लेख नहीं है। इस आधार पर सैय्यद एकबाल अहमद इस मन्दिर के अस्तित्व में अविश्वास करते हैं किन्तु उन्हें यह भी विदित होना चाहिए कि अनेक शक्तियाँ स्थान विशेष के नाम पूज्य है। इन सभी देवियों का शास्त्रों में उल्लेख सम्भव भी नहीं है। जौनपुर की इस देवी का भी यदि पुराणों में उल्लेख नहीं है तो इसमें अविश्वास व्यक्त नहीं किया जा सकता है। शक्ति उपासना का प्रबल प्रमाण रुहट्टा मुहल्ले की एक अष्टभुजा देवी की मूर्ति से प्राप्त होता है। यह मूर्ति डा० केदार नाथ सिंह को भवन निर्माण के समय नींव खोदते समय प्राप्त हुई थी। भूगर्भ में समाहित इस मूर्ति को कम से कम राजपूत युग तक प्राचीन मान सकते हैं। डा० केदारनाथ सिंह की धारणा है कि यह दुर्गवंशीय ठाकुरों की आराध्य देवी हैं।

मुहल्ला रौजा जमालखां में एक अचला देवी का मन्दिर है। इस मन्दिर में अचला देवी की मूर्ति के साथ भैरव, गणेश एवं सरस्वती की मूर्तियाँ तथा शिवलिंग भी प्राप्त होते हैं। यह मन्दिर पूर्णतः तान्त्रिक अनुष्ठान के लिए निर्मित प्रतीत होता है। यह मन्दिर भी राजपूत युग का प्रतीत होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसी मन्दिर के एक कक्ष में शीतला की मूर्ति पाँच रूपों में प्राप्त होती है। सभी रूपों में देवी अश्वारूढ़ है। पाँचों रूपों में उसके हाथों में क्रमशः त्रिशूल, पुष्प, तलवार, बाण तथा शिशु है। इससे देवी संहारकर्मी, रक्षिका एवं पालिका रूप में चित्रित प्रमाणित होती है।

जौनपुर शीतला देवी का प्राचीनतम पीठ है। आज भी विन्ध्याचल की विन्ध्यवासिनी देवी की उपासना के पूर्व शीतला देवी की उपासना का प्राविधान है। जौनपुर नगर के दक्षिण-पूर्व लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर चौकिया एक स्थान है जहाँ शीतला देवी का मन्दिर शक्ति मन्दिरों में पवित्रतम माना जाता है। यह मन्दिर तो परिवर्तित एवं परिवर्द्धित होता रहा किन्तु मूर्ति लगभग उतनी ही प्राचीन है जितना जौनपुर नगर। शीतला का वर्णन हमें देवीमहात्म्य तथा अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होता है। मूर्ति के निर्माण शैली से यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि जिस समय विन्ध्याचल में देवी मूर्ति की स्थापना हुई होगी, उसी के लगभग यहाँ शीतला देवी की मूर्ति स्थापित हुई होगी। विन्ध्यवासिनी देवी के उल्लेख निश्चित रूपेण सातवीं शताब्दी से उपलब्ध होने लगते हैं। अतः शीतला देवी की मूर्ति को भी सातवीं शताब्दी तक प्राचीन माना जा सकता है। आज जौनपुर का कोई ऐसा शैव या वैष्णव मन्दिर नहीं है जिसमें देवी की कोई मूर्ति न हो। यहाँ तक कि हनुमानघाट एवं रासमण्डल के हनुमान मन्दिर, जो मूलतः मुसलमानों के आगमन के पूर्व ही बने थे, देवी मूर्तियों से युक्त हैं। हनुमान घाट के हनुमान मन्दिर के ठीक सामने ही दुर्गा का मन्दिर है।

इस प्रकार जौनपुर में शैव, वैष्णव तथा शाक्त मन्दिरों का निर्माण उस युग में हुआ जब इन सम्प्रदायों में धार्मिक सामंजस्य स्थापित था। राजपूतयुगीन तान्त्रिक सम्प्रदायों का यह स्वर्णिम युग दृष्टिगत होता है। इसी युग में जौनपुर में भी धार्मिक समन्वय का सुमधुर वातावरण उत्पन्न हुआ। अनेक सिद्धों तथा तान्त्रिकों ने इसे अपनी योग साधना का केन्द्र बनाया तथा अपनी आराध्य देवी की मूर्तियों को स्थापित किया। जौनपूर के इस धार्मिक सहिष्णुता का दूरगामी प्रभाव आज के इस क्षेत्रीय समाज पर स्पष्टतः झलकता है। यहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों एक दूसरे के उत्सवों में सम्मिलित होकर इस पावन भूमि की परम्परागत धार्मिक उदारता का परिचय देते है। यही कारण है कि जौनपुर सदैव साम्प्रदायिक सङ्घर्षों से विरत रहा हैं जब कि यहाँ अनेक सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं। इसे न केवल हिन्दू धर्म वरन समस्त भारतीय समाज को जौनपुर का अद्भुत योगदान कह सकते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दास-जीवन एवं परिवर्तन प्रक्रिया

(७०० से १२०० ई० तक)

देवी प्रसाद सिंह*

दास-प्रथा का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। विश्व की अधिकांश प्रारम्भिक सभ्यताओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सभ्यता के उदय के साथ ही मानवीय श्रम के शोषण की प्रक्रिया भी तीव्र हो गयी थी। मिस्र एवं मेसोपोटामिया की सभ्यताओं में दासों की संख्या बहुत अधिक थी।[1] ये दास समाज के उच्च वर्गों के सुख-सुविधा के साधन तो थे ही इन्होंने मिस्र के पिरामिडों तथा मेसोपोटामिया के जिगुरतों के निर्माण में भी अपना खून और पसीना लगाया।[2] मिस्र एवं मेसोपोटामिया के सभ्यताओं के विकास काल में ही भारत की सैन्धव संस्कृति का भी विकास हो रहा था। सैन्धव संस्कृति में भी दासों का एक विशाल समूह था जिसने निश्चय ही सैन्धव नगरों के निर्माण में योगदान दिया।[3] वैदिक समाज में दासों का उल्लेख पूर्ववैदिक काल से ही मिलने लगता है।[4] ऋग्वेद में ऐसे अनेक राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने अपने पुरोहितों को बहुसंख्यक दासों एवं दासियों का दान दिया था।[5]

यद्यपि इनमें अधिकांश विजित शत्रु थे किन्तु आर्थिक जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं एवं कठिनाइयों के कारण भी दासत्व स्वीकार करने वाले व्यक्ति कम न थे। बुद्ध के काल में द्वितीय नागर-क्रान्ति के साथ भारत में दासों की माँग और अधिक बढ़ गई।[6] धर्मशास्त्रों में विभिन्न प्रकार के दासों के कर्तव्य एवं आचार के सम्बन्ध में विस्तृत नियम मिलते हैं जिनसे उनकी हीन स्थिति का आभास होता है। मौर्य सम्राट अशोक के अभिलेख दासों के प्रति सद्व्यवहार का निर्देश करते हैं तथापि उनकी दशा में विशेष सुधार नहीं हुआ। गुप्त-युग तक सामन्तवाद के उदय के कारण कृषि दासों की संख्या में वृद्धि हुई।[7] इस काल के साहित्य में पन्द्रह प्रकार के दासों का उल्लेख मिलता है। गुप्तोत्तर युग में सामन्तवाद के विकास के कारण जब श्रम की अवमानना हुई तब दास-प्रथा को और अधिक प्रोत्साहन मिला।

दासों की संख्या में वृद्धि के कारण

विवेच्य युग में स्थानीय राजवंशों के पारस्परिक युद्धों से उत्पन्न अशान्ति एवं असुरक्षा, मुस्लिम आक्रमणों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न आर्थिक एवं धार्मिक सङ्कट तथा सामन्तवाद के विकास एवं विस्तार से उत्पन्न सामाजिक आर्थिक विषमता एवं कठिनाइयों के कारण दासों की संख्या में वृद्धि तथा

---

* प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, श्रीगाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मालटारी, आजमगढ़।

१. **एन इन्ट्रोडक्शन टु आर्कियालाजी,** दीक्षित, पृ० २२४।

२. **तदैव।**

३. **स्लेवरी इन एन्शियेन्ट इण्डिया,** चेवराज चानना, पृ० १६-१८।

४. **ऋग्वेद,** ८/१६, १३-५।

५. **ऋग्वेद,** ८/५६, ३;
"शतं मे गर्दभानां शतम् उर्णावतीनां।
शतं दासां अतिस्रजः।"

६. देखिये, वरलिंगम, **बुद्धिस्ट लीजेण्डस,** हारवर्ड ओरियण्टल सिरीज, २१, खण्ड-२, पृ० ६७, थेरिगाथा, ५५।

७. विस्तृत विवरण के लिए देखिये, यादव, बी० एन० एस०, **सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया,** पृ० १४२ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनकी स्थिति में ह्रासोन्मुख परिवर्तन दिखाई देता है। इस काल की विषम राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियों ने बहुसंख्यक जनों के समक्ष जीवन-रक्षा का प्रश्न खड़ा कर दिया था जिससे विवश होकर उन्हें दासत्व स्वीकार करना पड़ा।

वह युग राजनीतिक अशान्ति तथा युद्धों का काल था। परिणामतः युद्धबन्दी दासों की संख्या में विशेष रूप से वृद्धि हुई।[1] भारतीय शासक जब एक दूसरे के राज्यक्षेत्र पर आक्रमण करते तो न केवल सम्पत्ति लूटते थे वरन युद्धबन्दियों को दास भी बनाते थे। मनु ने "ध्वजाहृत" दासों का उल्लेख किया है जिस पर टीका करते हुंए मेधातिथि ने लिखा है कि "ध्वजाहृत" दास युद्ध बन्दी व्यक्ति होते थे।[2] "ध्वजाहृत" दासों में विजित सैनिकों के अतिरिक्त सामान्य स्त्री-पुरुष भी सम्मिलित होते थे। युद्धबन्दी पुरुषों एवं स्त्रियों को दास-दासी के रूप में बाजार में बेचा जाता था। कभी-कभी तो शत्रु राजपुत्रियों तथा राजपत्नियों को भी दासता के लिए बाध्य किया जाता था। आठवीं सदी की एक कृति गौडवहो[3] के अनुसार जब यशोवर्मा मगध के एक राजा को पराजित कर लौट रहा था तब उसमें शत्रुओं की विधवा रानियों का उल्लेख किया है कि शत्रुपक्ष की बन्दिनी स्त्रियों को सामन्तगण पानी ढोने का कार्य करने के लिए विवश करते थे।

कुछ ध्वजाहृत दास सैनिक सेवा में भी लगाये जाते थे। मानसोल्लास[4] में कहा गया है कि शत्रु के पराभूत सैनिकों को पहले दास बनाना चाहिए और इसके बाद उन्हें सेना में सम्मिलित करना चाहिए। यह भी कहा गया है कि विजेता को इस प्रकार के सैनिकों पर पूर्ण विश्वास नहीं करना चाहिये तथा उन्हें सदैव सेना की अग्र पंक्ति में रखना चाहिए। सैनिक सेवा में वे ही दास नियुक्त होते रहे होंगे जो शरीर से बलिष्ठ एवं युद्धकला में प्रवीण होते होंगे।

मुसलमान शासकों में दास रखने की प्रथा सम्भवतः और अधिक लोकप्रिय थी। उल्लेखनीय है कि भारत पर शासन करने वाला पहला मुसलमान वंश ही गुलाम-वंश था। मुस्लिम आक्रमणकारियों को भारतीय राजाओं पर जब निर्णायक विजय प्राप्त हुई तो बहुसंख्यक हिन्दू गुलाम बनाये गये। महमूद ने भारतीय अभियानों में लगभग ५५ हजार हिन्दूओं को दास बनाया था।[5] ११९२ ई० में मुहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज के पराजित होने पर अजमेर के बहुसंख्यक असहाय नागरिकों का बन्दी बनाकर बेंच दिया गया था।[6] मुहम्मद गोरी द्वारा गुजरात के भीम द्वितीय के पराजय के पश्चात तुर्क आक्रांता के पास दासों की संख्या इतनी अधिक हो गई थी कि वे बहुत कम मूल्य पर खरीदे व बेंचे गये थे।[7] कहा जाता है कि कालंजर के पतन के पश्चात कुतुबुद्दीन ने ५० हजार हिन्दूओं को दास बनाया था।[8]

---

१. देखिये, लल्लनजी गोपाल, **दि इकानामिक लाइफ इन नार्दन इण्डिया**, पृ० ७१-७२।
२. **तदैव**।
३. **गौडवहो**, ६७९, पृ० १९१,
   एयाण-फुरिय-सेवा-चामर-पन्ह-पडिमेसु दीसन्ति।
   अन्तो भयणीया ओव्व-बाह-धारा कवोलेसु॥
४. **मानसोल्लास**, २८ गायकवाड ओरियण्टल सिरीज, २, ६, ५६०-६१, पृ० ८०।
५. **पउमचरिय**, भाग ५, ८२, पृ० ९, मड्डलयेप्पिणु सयल महि कियदासिवपेषण गारी; **उत्तरपुराण**, ६८, ३३५, पृ० ३०१,
   न चेदसि विभाग्यत्वादद्यैव घटदासिका।
   अतिथिर्वा भव प्रेतनाथावासनिवासिनाम्॥
६. देखिये, **उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास**, भूमिका।
७. स्मिथ, **अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया**, पृ० ४०३।
८. **इलि० हिस्ट्री**०, २, पृ० ३९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुस्लिम आक्रमण परोक्षरूप से भी दासों की संख्या वृद्धि में सहायक हुआ। भारत के सीमान्त क्षेत्र पर मुस्लिम आक्रमणकारियों ने हत्या, लूट व बलात धर्मपरिवर्तन का जो दृश्य उपस्थित किया,[१] उसके कारण बहुसंख्यक नर-नारी इन सीमान्त क्षेत्रों को छोड़कर शरणार्थियों के रूप में देश के आन्तरिक भागों में जाकर बसने के लिए विवश हुए।[२] आर्थिक विपन्नता तथा जीविका के साधनों के अभाव में इनमें से बहुत लोग भूमिपतियों की भूमि पर कृषि दास के रूप में कार्य करने लगे और बहुतों ने सम्भ्रान्त कुलों में सेवा का कार्य प्रारम्भ कर दिया।

युद्ध के अतिरिक्त दरिद्रता एवं आर्थिक शोषण के कारण अनेक व्यक्तियों के दास बन जाने के उदाहरण इस काल में मिलते हैं। समकालीन साहित्य में अनेकत्र इस बात के संकेत हैं कि प्राकृतिक विपत्तियों के कारण प्रायः दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। बाढ़ और सूखे के कारण फसल नष्ट हो जाती थी। कल्हण[३] ने इस बात का उल्लेख किया है कि कश्मीर में अवन्तिवर्मा के शासन काल में बाढ़ से खरीफ की फसल इस तरह नष्ट हुई थी कि हजारों लोग भूख से मर गये थे।[४] अकाल की इस स्थिति में बहुत से लोग उदरपूर्ति के लिए दासत्व स्वीकार कर लेते थे। प्रबोध चन्द्रोदय[५] नाटक में बिना मूल्य के प्राप्त दासों का उल्लेख है। लेखपद्धति में एक ऐसी क्षत्रिय बालिका का उल्लेख है कि जो क्षुधा-पीड़ित थी। भिक्षाटन में असमर्थ होने के कारण उसने एक व्यापारी के यहाँ दासी-वृत्ति ग्रहण करने के लिए प्रार्थना किया।[६] अकाल की स्थिति में बहुत से किसान ऋणग्रस्त हो जाते थे। महाजनों का व्याज बढ़ता जाता था। बढ़ते हुए ऋणों के कारण न केवल किसानों का भूमि-भवन बिक जाते थे वरन् स्वयं को भी बेच देना पड़ता था। राजतरंगिणी[७] में ऋण चुकाने के लिए स्वयं को बेचने वाले दासों का उल्लेख है।

सामाजिक कुरीतियों का भी दासत्व के विस्तार में कम योगदान नहीं था। द्यूत-क्रीड़ा में पत्नी को दांव पर लगाने की प्रथा तो वैदिक काल से ही प्रचलित दिखाई देती है। ऐसे लोग भी अज्ञात न थे जो जुए में स्वयं को दाव लगा देते थे और हारने पर दासत्व स्वीकार कर लेते थे।[८] विवेच्य-युग के साहित्य में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जो इस प्रकार के दासों के अस्तित्व को सूचित करती हैं। "वसुदेव हिण्डी"[९] में दो अभिजात्य परिवारों के दो ऐसे युवकों का वर्णन है जो इस शर्त पर विदेश जाते हैं कि बारह वर्ष तक बिना किसी की सहायता के धनोपार्जन करके लौटने पर जिनके पास अधिक धन होगा वह कम धन वाले को उसके मित्रों सहित अपना दास बना लेगा। कथासरित्सागर में

---

१. स्मिथ, **पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ० ४०९।

२. देखिये हबीब, पृ० ७९; **अलबोरूनीज इण्डिया**, १, पृ० २२ तथा बैजनाथपुरी, **दि हिस्ट्री आफ दि गुर्जर प्रतिहाराज**, पृ० ११६।

३. **राजतरंगिणी**, ५, ७१, पृ० १३१।
दीनाराणां दशश्वो पन्वाशत्यधिका भवत् ।
वान्यखारी क्रये हेतुर्दशे दुर्भिक्षविक्षते ।।

४. **राजतरंगिणी**, २७०-७१, पृ० १४५।

५. **प्रबोध चन्द्रोदय**, पृ० १२५ अमूल्क्रीतं दासद्वयं लब्धम्।

६. **लेखपद्धति**, पृ० ५४, राजपुत्री जगडसुता दशवर्षीया संपुरी नाम्नी दुर्भिक्षवश।दथ म्लेच्छे व्यापादिता; उदरपुर्णाप्रान्विवशादव्यन्तकृषावणिक् चाहडपादयोर्लगित्वा हस्तो च संयोज्य स्व्यमागत्यात्मनं दासि कर्माणि नियोजितवती।

७. **राजतरंगिणी**, ५, १८४, पृ० १३९।

८. **कथासरित्सागर**, ७४, १८०-८१, पृ० ४०१।

९. वसुदेवहिण्डी, जे० सी० द्वारा **"प्राकृत जैन कथा-साहित्य"**, पृ० ३८ पर उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐसे चतुर शय्या-व्यापारी की कथा है जिसने अपने ग्राहक को इस शर्त पर एक कहानी सुनाई कि यदि वह कहानी का महत्व समझकर उसकी व्याख्या कर देगा तो उसे वह शय्या निर्मूल्य मिल जायेगी अन्यथा उसे उसका (व्यापारी का) दास बनना पड़ेगा। बाजार की भीड़ के सामने ग्राहक ने बाजी स्वीकार कर ली। परन्तु वह हार गया। अतएव उसे व्यापारी का दास बनना पड़ा।[1] एक अन्य आख्यान में शिवदत्त नामक एक ब्राह्मण ने पाँच लोगों से यह शर्त लगाकर जुआ खेला कि जो भी जीतेगा शेष सबको दास बना लेगा। वह (शिवदत्त) जीत गया और पाँचों को दास बनना पड़ा।[2] इस कथा में "सत्कुलोत्पन्नेः" शब्द से यह संकेत प्राप्त होता है कि दास बनाए गये व्यक्ति अभिजात्य एवं समादृत परिवारों के थे।[3]

पारिवारिक जीवन में पुरुषों की स्वेच्छाचारिता, स्त्रियों के प्रति उनकी क्रूरता तथा बहुपत्नीकता के कारण भी अनेक स्त्रियाँ परिवार का परित्याग कर दासी के रूप में जीवन-यापन के लिये विवश होती थीं। पति द्वारा प्रताड़ित महिलाओं के दासी बनने के उदाहरण भी समकालीन साहित्य में प्राप्त होते हैं। सोमदेव भट्ट ने अशोकमाला में एक ऐसी महिला का उल्लेख किया है जो अपने पति द्वारा मृत्यु की धमकी से भयभीत होकर एक शक्तिशाली क्षत्रिय की स्वयमेव दासी बन गयी।

दासों को उपहार में देने की प्राचीन प्रथा का उद्वहन भी इस काल में दृष्टिगत होता हैं। सोमदेव भट्ट ने राज्यवर नामक एक व्यक्ति की चर्चा की है जो अपने अग्रज प्राणधर (जिसके पास कोई दासी नहीं थी) को दास कन्यायें भेंट करता है।[4] कथासरित्सागर में कहा गया है कि जो व्यक्ति किसी ख्याति-नाम ब्राह्मण को दासी प्रदान करेगा वह अप्सरा लोक का अधिवासी हो सकेगा।[5] इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि जो व्यक्ति मन्दिर के लिए दास-दासी भेंट करेगा वह सौभाग्य, धन, आयु आदि प्राप्त करेगा और मृत्योपरान्त स्वर्ग प्राप्त करेगा। उपहार स्वरूप प्रदत्त दासों को वापस लेना सोने की चोरी के समान पाप समझा जाता था। मानसोल्लास दास को उपहार देने की प्रथा का समर्थन करते हुए उसे गृह, ग्राम, भूमि, दासी, कन्या, अन्न-पान, तिल और औषधि जैसी उपहार योग्य वस्तुओं की श्रेणी में रखता है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि आचार-व्यवहार में दास-दासियों को अतिथियों, अधिकारियों एवं मन्दिरों में भेंट स्वरूप देने की मान्यता थी।

दासों के प्रकार

सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में बढ़ती हुई जटिलता के कारण क्रमशः दासों का प्रकार भेद भी बढ़ता गया। कौटिल्य ने केवल पाँच प्रकार के दासों का उल्लेख अर्थशास्त्र

---

१. **कथासरित्सागर**, १२४, श्लोक २२५, २३०-२३१, पृ० ५९५।

२. **कथासरित्सागर**, १२४, पृ० ५९५।

३. **तदैव**, ७४, पृ० ४०१।
एतेःसमं च द्यूतेनतत्र क्रीडितवानहम्
दासः स्याद्विजितो जेतुरिति बद्धामिथः पणम्।
ततो द्यूतेन विजिता मम दास्यमिमे गताः॥

४. **तदैव**, पृ० ४०१।

५. **कथासरित्सागर**, पृ० २५५।

६. देखिये, **मानसोल्लास** १, अ० २, ६२, पृ० ७,
गृहं ग्रामस्तथाभमिर्दासीकन्याविभूषणम्।
अन्नंपानं तिलौषध्यौ भीतस्याभयमुत्तमम्॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में किया है। मनुस्मृति में ७ प्रकार के दासों का उल्लेख है।[1] किन्तु नारद एवं कात्यायन के काल तक (४००—७०० ई०) दासों का प्रकार भेद और अधिक बढ़ जाता है। नारद ने १५ प्रकार के दास बताए हैं।[2] विज्ञानेश्वर ने भी १५ प्रकार के दासों का उल्लेख किया है, जो क्रमशः गृहजात, क्रीत, लवध, दायादुपागत, अनाकालभूत, आहित, ऋणदास, युद्धप्राप्त, पणजित्, उपागत, प्रव्रज्यावसित, कृत, भक्तदास, बड़वाहृत तथा आत्म-विक्रेता कहे गये हैं। किन्तु मुस्लिम समाज में केवल चार ही प्रकार के दास ज्ञात थे जिन्हें क्रीत, लवध, युद्धप्राप्त और आत्मविक्रेता कहा जा सकता है।[3] नारद-स्मृति एवं मिताक्षरा में दासों के प्रकार की जो विस्तृत सूची मिलती है उसका विवेचन समकालीन साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में करने पर यह स्पष्ट होता है कि दासता के उपर्युक्त सभी प्रकार सुप्रचलित नहीं थे। अधिकांशतः इस काल में युद्धबन्दी दास, ऋणग्रस्त दास, उपहार में प्राप्त दास बाजी में हारे हुए दास तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण बने हुए दास ही ज्ञात थे।

दासों के प्रति व्यवहार

दासों के रहन-सहन का स्तर एवं उनके प्रति व्यवहार मुख्यतः उनके स्वामी की प्रकृति पर निर्भर था। सामाजिक आचार संहिता के अनुसार पत्नी, पुत्र, पशु, धन एवं विद्या के समान दास भी अनुपेक्षणीय थे।[4] दास-दासी और भृत्यों का पालन करना अनिवार्य कर्त्तव्य समझा जाता था।[5] विश्वसनीय पत्नी, गुणवान सन्तान, लाभप्रद विद्या, ईमानदारी से अर्जित धन, अच्छा मित्र, अच्छे दास-दासी, सुन्दर शरीर, सुन्दर घर और योग्य राजा—इन १० की प्राप्ति भाग्य की बात मानी जाती थी। उदार लोग दास-दासियों के प्रति सहृदय होते थे। तिलोथा अभिलेख में उत्कीर्ण मूर्ति के पैरों के पास राजा प्रतापधवल की पाँच दासियों के नाम खुदे हैं जो उनके प्रति उनके स्वामी की उदारता के सूचक हैं। मानसोल्लास में कहा गया है कि स्वामी को दासों का पालन-पोषण एवं रक्षण तो करना ही चाहिए साथ ही उन्हें दान एवं सम्मान से सन्तुष्ट भी करना चाहिये।[6] दोषी दासों के लिए प्रायः उसी प्रकार के कोमल दण्ड की व्यवस्था की गई जो पत्नी, पुत्र, भगिनि, शिष्य, बन्धु और अनुज को दिया जाता था। उन्हें केवल पीठ पर रस्सी अथवा छड़ी से मारने का निर्देश है। सिर पर प्रहार वर्जित था। अतएव ऐसा करने वाला व्यक्ति राजा द्वारा दण्डनीय समझा जाता था।[7] दासों के प्रति क्रूरता का व्यवहार करने वाले को चोर के समान दण्डनीय माना गया है।[8] अग्निपुराण के अनुसार दासी के गर्भ का विनाश करने वाले पर सौ पणों का अर्थदण्ड लगाना चाहिए।[9] विल्हण ने राजकुमारियों को दासियों के साथ क्रीड़ा करते हुए वर्णित किया है। हर्षचरित, नैषधचरित आदि समकालीन ग्रन्थों में राजकुमारियों की परिचारिकाएं उनकी विश्वस्त एवं प्रिय सखियों जैसी लगती हैं। इन संदर्भ

---

१. **मनुस्मृति,** ८।४१५।
२. **नारद,** अशश्रुषा, ३८-३९।
३. **विज्ञानेश्वर मिताक्षरा।**
४. **शुक्रनीतिसार,** ३, ४३, पृ० १३२
   नोपेक्षेत् स्त्रियं बालं रोगं दासं पशुं धनम्। विद्याभ्यासं क्षणमपि सत्सेवां बुद्धिमान्नरः॥
५. **तदैव,** ३, १२५, पृ० १४६।
६. **मानसोल्लास,** ३, २९३-९४, पृ० १७४।
७. **ए० इं०,** २०, पृ० २४९।
८. **मानसोल्लास** १, ३०३-०४, पृ० २८।
९. **अग्निपुराण,** २२५, ४५-४६, पृ० ३३२,
   भार्या पुत्रश्च दासाश्च शिष्यो भ्राता च सोदरः।
   कृतापराधास्ताड्याः स्युः रज्ज्वा वेणुदलेन वा॥
   पृष्ठे न मस्तके हन्याच्चौरस्याप्नोति किल्विषम्॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में यह संकेत मिलता है कि सहृदय स्वामी एवं स्वामिनी दास-दासियों के साथ उदार व्यवहार करते थे[1]।

ऐसा प्रतीत होता है कि दासों के सम्बन्ध में वैधानिक विधि-निषेधों एवं सामाजिक आदर्शों का पालन कुछ विशिष्ट जनों द्वारा ही किया जाता था। समकालीन साहित्य से प्राप्त अधिकांश प्रमाण दास-दासियों के प्रति क्रूर व्यवहार के ही परिचायक हैं[2]। लेखपद्धति के अनुसार यदि कोई दासी अपने स्वामी के घर कार्य करते समय अपने पिता, भ्राता, पति, पुत्र अथवा किसी अन्य सम्बन्धी द्वारा कार्य करने से रोकी जाती थी या भागने का प्रयत्न करती थी या सामान चुराती थी अथवा अपने स्वामी के विषय में अफवाहें फैलाती थी तो उसका स्वामी उसे इन अपराधों की सजा देने के लिए उसे घसीट कर, बाल खीचकर, बाँधकर, धक्के मारकर, पीट कर शपथ-पत्र पर लिखी शर्तों के अनुसार कार्य करने पर बाध्य कर सकता था। यदि दासी कार्य के प्रति अनिच्छुक हो तो उसका स्वामी उसे पैर से धक्के मार सकता था तथा छड़ी से पीट सकता था। इस स्थिति में उसकी आकस्मिक मृत्यु भी हो सकती थी। किन्तु स्वामी किसी प्रकार के पाप का दोषी नहीं माना जाता था।[3]

हेमचन्द्र ने प्रभावती नामक एक धार्मिक प्रवृत्ति की रानी के विषय में लिखा है जिसने अपनी निरपराध दासी की दर्पण से हत्या कर दी थी। कभी-कभी कुलीन परिवारों की स्त्रियाँ रूपवती दासियों के प्रति ईर्ष्यालु हो उठती थीं तथा उन्हें भीषण यातनायें देती थीं। हेमचन्द्र के त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित में राजकुमारी वसुमती की दासता का मार्मिक वर्णन है। वसुमती को जिस धनाढ्य व्यक्ति ने खरीदा था वह तो सचमुच दयालु था पर उसकी पत्नी मुला को अपने पति एवं दासी के बीच अनैतिक सम्बन्ध होने का सन्देह हो गया। एक बार जब उसका पति बाहर गया था, उसने चन्दना का सिर मुड़वाकर जंजीरों में जड़कर बुरी तरह पीटा उसे भूख प्यास से मार डालने के विचार से एकान्त में कोने के कमरे में बन्द कर दिया। दुष्टा मुला ने घर के अन्य प्राणियों से कहा कि अगर उसके पति से यह सब कुछ बताया गया तो उसे भी गम्भीर परिणाम भुगतने होंगे। सोमदेवभट्ट ने राजकुमारी मलयवती की कथा का उल्लेख किया है जो अपनी दासी द्वारा नींद से जगा दिए जाने के कारण कुपित हो गई थी कि उसका आनन्ददायक स्वप्न भङ्ग हो गया था। इसके दण्ड स्वरूप उसने उस दासी को देश से निष्कासित कर दिया।[4] लेखपद्धति से ज्ञात होता है कि जब दासियाँ अतिशय प्रताड़नाओं से टूट जाती थीं तो तालाब या कुएं में कूदकर आत्महत्या कर लेती थीं।

दासों की स्थिति दासियों से भी अधिक शोचनीय थी। दासों के प्रति व्यवहार की प्रचलित स्थित का उल्लेख करते हुए हेमचन्द्र ने कहा है कि उन्हें खच्चरों की तरह पीटा जाता था, उन पर भार लादा जाता था तथा उन्हें भूखा प्यासा रहने के लिए बाध्य किया जाता था।[5] जिस प्रकार पत्नियों की इर्ष्या के कारण रूपवती दासियों की दुर्दशा होती थी उसी प्रकार कभी-कभी स्वामिनि का कृपा पात्र होने के कारण दास भी प्रताड़ित होता था। "समराइच्चकहा" में एक ऐसी

---

१. **शुक्रनीतिसार**, ४, सुहृत्प्रकरण, ८९-९०, पृ० १९६।

२. **तदैव**, २५८; ३१-३२, पृ० ३७७।
दासीर्गो विनाशकृत।
शतदण्डभाक्।

३. **लेखपद्धति**, पृ० ४६।
पादप्रहारैर्यष्टिप्रहारैश्च यदृच्छया व्यापाद्यमाना म्रियें ततो मम स्वामी........निर्दोषः।

४. **त्रिशष्टिशलाकापुरूषचरित**, १५-१८, पृ० १५०।

५. **त्रिशष्टिशलाकापुरूषचरित**, वर्ग ४, ५५२-५६, पृ० ६०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्त्री का वर्णन है जो अपने दास अर्जुन के साथ प्रेम करती थी। जब उसके पति को इसका ज्ञान हुआ तब उसने गुप्त रीति से अर्जुन का वध करवा दिया जिसका आभास उसकी पत्नि को नहीं हो सका।

उच्च कुल के पुरुषों अथवा स्वामियों द्वारा उत्पन्न दासी की सन्तानें भी हेय दृष्टि से देखी जाती थीं। स्वामी एवं दासी के बीच यौन सम्बन्ध के कारण जो सन्तानें होती थीं उन्हें न तो पिता की सम्पत्ति में वैधानिक रूप से भाग ही मिलता था और न पिता के अनुरूप सामाजिक सम्मान ही। धर्मशास्त्रों में विभिन्न प्रकार के पुत्रों के सन्दर्भ में दासीपुत्र का उल्लेख नहीं है। इससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।[1] "दासी-पुत्र" शब्द गाली और अवमानना का सूचक था।[2] गुणभद्र ने धरणिजट नामक एक ब्राह्मण की कहानी लिखी है जिसके तीन पुत्र थे। इनमें से दो उसे अपनी पत्नियों से तथा तीसरा, जिसका नाम कपिल था, उसकी दासी से उत्पन्न हुआ था। ब्राह्मण ने अपने दोनों पुत्रों को वेद की शिक्षा दी पर कपिल को उससे वञ्चित रखा। सामाजिक पूर्वाग्रहों के कारण वह अपने ही पुत्र से घृणा करने लगा था। किन्तु कपिल इतना कुशाग्र बुद्धि का था कि उसने अपने भाइयों को दी गई शिक्षा को मात्र श्रवण करके वेदों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह ज्ञात होते ही उसके पिता ने क्रोधित होकर उसे घर से निष्कासित कर दिया। कपिल रत्नपुर चला गया जहाँ उसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर एक ब्राह्मण ने अपनी पुत्री से उसका विवाह कर दिया। धर्मग्रन्थों पर उसके प्रवचन अद्वितीय हुआ करते थे। परिणामतः उसे राजा द्वारा भी सम्मान प्राप्त हुआ। किन्तु जब राजा को उसकी निम्नकुल की उत्पत्ति का ज्ञान हुआ तो उसे राज्य से निष्कासित कर दिया गया।[3]

मुसलमानों द्वारा बन्दी बनाये गये हिन्दू दासों की स्थिति तो और भी अधिक दयनीय थी। उन्हें विजेता अपने देश में ले जाकर बेच देते थे। यदि वे किसी प्रकार भागकर लौट भी आतेथे तो हिन्दु-समाज में उन्हें अतिशय तिरस्कार मिलता था। उन्हें पहले तो प्रचलित सामाजिक पूर्वाग्रहों के अनुरूप कष्ट साध्य अग्नि परीक्षा देनी पड़ती थी। यदि किसी प्रकार वे पुर्नप्रविष्टहो भी जाते तब भी समाज में उन्हें अपना पूर्व स्थान नहीं मिलता था। अलबीरूनी ने इसका बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है। इसके अनुसार जो हिन्दू अपने देश और अपने धर्म में लौटते थे उन्हें प्रायश्चित स्वरूप व्रत रखना पड़ता था। तत्पश्चात् हिन्दू लोग उन्हें गोमूत्र, गोबर और दूध में गाड़ देते थे और जब वे किण्वन-अवस्था (सड़ने की अवस्था) तक पहुँच जाते थे तब उनको उस गन्दगी से बाहर निकालते थे। किन्तु अलबीरूनी ने यह भी लिखा है कि अनेक ब्राह्मणों ने उसे यह बताया कि इस प्रकार के विधर्मियों की शुद्धि के लिये कोई भी प्रायश्चित सम्भव नहीं था।

विचित्र बात यह है कि कतिपय व्यवस्थाकारों की दृष्टि शोषण की प्रवृत्ति से इतनी अधिक ग्रस्त थी कि उन्होंने दासों को नाना प्रताड़नाओं को मौनरूप से सहन करने का ही उपदेश किया है। लेखपद्धति में कहा गया है कि यदि दासी अत्याचारों और प्रताड़नाओ से ऊब कर किसी प्रकार आत्महत्या करने का प्रयास करेगी (यथा—कूप में कूदकर) तो वह अगले जन्म में गर्दभी, कुतिया अथवा चाण्डाली की योनि में उत्पन्न होगी जब कि प्रताड़नाओं के अपराध से स्वामी को मुक्ति केवल गङ्गा-स्नान से ही हो सकती थी। लेखपद्धति से ही यह भी ज्ञात होता है कि दास बनते समय व्यक्ति को निर्धारित शपथ ऊँची आवाज में जनता के समक्ष दुहराना पड़ता था। यह शपथ दासों की दीन-हीन स्थिति को प्रकट करने वाला एक उद्धरणीय दस्तावेज है। दासत्व ग्रहण करने वाली एक कन्या सम्पूरी शपथपूर्वक घोषणा करती है कि "यदि मैं, जीवन पर्यन्त आपके घर अथवा और कहीं आपकी दासी रहते हुए चोरी करती हूँ, घर में एकान्त हो जाने पर कोई

---

१. **कथासरित्सागर**, १२२, ८१, ८३, ८५, पृ० ५९७।

२. **त्रिशष्टिशलाकापुरूषचरित**, १, ५८२, पृ० २१,

मूल्यक्रीताश्च ताड्यन्ते केचिदश्वतरा इव।
अतिभारं च वाह्यन्ते साह्यन्ते च तृषादिकम्॥

३. देखिए, वेदालंकार, हरिदत्त, **हिन्दू परिवार मीमांसा**।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वस्तु ग्रहण कर लेती हूँ। भिक्षाटन सरल प्रतीत होने पर यदि अन्यत्र कहीं पलायन करती हूँ, युवावस्था में किसी के प्रलोभन से कहीं चली जाती हूँ, आपके शत्रुओं से मिलकर कूट, कपट, बंचना, द्रोह आदि करती हूँ, तब इन कार्यों के करने के कारण आप मेरे बाल पकड़ सकते हैं और पुनः दासी के कार्यों में लगा सकते हैं। मैं सदैव, अहर्निशि आपके समस्त कुटुम्ब के आदेशों का पालन करूँगी। यदि कुटिलतावश में सभा-आदेशित दासी-कर्म सम्पन्न नहीं करती हूँ तो आप पाद-प्रहार और दण्ड प्रहार से प्रताड़ित कर सकते हैं अथवा मेरी हत्या कर सकते हैं। आप एकदम निर्दोष होंगे जैसे आप वहाँ (मृत्यु के समय) अनुपस्थित रहे हों। मैं सबके समक्ष घोषित करती हूँ कि अगर मैं उपर्युक्त विधियों से मरूँ तो मैं अपनी ही त्रुटियों से मरी समझी जाऊँ। मेरे स्वामी आप पुत्र, पौत्र पत्नी आदि परिवारजनों सहित गङ्गा-स्नान करने से ही मेरी हत्या के पाप से मुक्त हो जायेंगे। यदि मैं कभी कुएं में कूद कर अथवा गर्भाधान के कारण विष खाकर आत्महत्या करती हूँ तो मेरे स्वामी निर्दोष होंगे।"[१] अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का यह बलिदान निश्चय ही अत्यन्त कारूणिक है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि दासत्व स्वीकार करने वाले बहुत से लोगों के समक्ष अपने जीवन की रक्षा की एक समस्या थी जिसके लिए वे अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए विवश होते थे। इस प्रकार बनाया गया एक दास केवल अपने स्वामी का ही नहीं अपितु उसके वंशजों की भी आजीवन सेवा करता था तथा वंशानुगत रूप से दासत्व में जकड़ जाता था। "अहर्निश और दिवारात्रौ" शब्दों की बारम्बार पुनरावृत्ति से यह स्पष्ट है कि दासों को चौबीसों घण्टे बिना विश्राम किये कार्य करना पड़ता था।[२] जब अत्याचारों की सीमा पार हो जाती थी, प्रताड़ना असह्य हो जाती थी, तब यदा कदा दासगण व्रत करके, कुएं में कूदकर अथवा विष खाकर प्राण दे देते थे।

आश्चर्य का विषय यह है कि दासों के कर्त्तव्य के विषय में लिखते समय उनके अधिकारों एवं हितों की रक्षा हेतु एक भी प्राविधान नहीं बनाये गये। अपने द्वारा किए गये कठिन श्रम के बदले वे नाममात्र का वेतन अथवा मजदूरी पाते थे। इस काल के विधिशास्त्रों के अनुसार दास को मात्र निर्वहन मूल्य का अधिकार था।[३] मेधातिथि इस मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि दास को मात्र भोजन और वस्त्र की आवश्यकता होती है।[४] लेखपद्धति के एक सन्दर्भ में तो और आगे बढ़कर यह कहा गया है कि दास के लिए वस्त्र और भोजन की व्यवस्था भी स्वामी की क्षमता के अनुकूल होनी चाहिए। दासों को स्वामी की सम्पत्ति माना जाता था।

दास-कर्म

दासों एवं दासियों को बहुविधि कार्य सम्पादित करने पड़ते थे। उनके कर्तव्यों में उनके स्वामियों के पेशे एवं स्तर के अनुकूल अन्तर आता था। तत्कालीन सामन्तों एवं भू-स्वामियों को अपनी भू-सम्पत्ति के प्रचुर स्वायत्त अधिकार प्राप्त थे अतएव वे अपने दासों से कृषि कार्य करवाते थे।[५] हेमचन्द्र ने कृषि कार्य में संलग्न दासों का उल्लेख किया

---

१. **कर्पूरमंजरी**, पृ० २२, ३१, १५६,
आ; १, दासीए धुए,
आ; १, दासीए पुत्ति,
आ; १, दासीए उत्त,
देखिए, **राजतरंगिणी**, ८०, पृ० १३०— "मूर्खेण येन कायस्था दास्याः पुत्राः प्रवर्तिताः।"
"दास्याः पुत्रैरूत्पलाद्यैर्विलुप्तं नप्तुर्रनिकैः।"

२. **उत्तरपुराण**, ६२, ३२६-४७, पृ० १६०-६१।

३. **उत्तरपुराण**, पृ० ४५।

४. **मेधातिथि आन मनु**, १, १४३ गुरूमण्डलग्रन्थमाला, कलकत्ता द्वारा सम्पादित, १९७१, पृ० ९३१,
"भक्ताच्छादनेन पोष्यमाणा दास्यो भवन्ति"

५. **उत्तरपुराण**, पृ० ४६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है।[१] लेखपद्धति के अनुसार दासियों को घरेलू कार्य करने पड़ते थे और खेत पर काम करने वाले दासों के लिए मट्ठा ले जाना पड़ता था। वे कृषि कार्य में बुवाई, कटाई एवं मड़ाई के समय सहायता करती थीं। वे खेतों से लौटते समय चारा लाती थीं और पशुपालन करती थीं।[२] स्वामी के रसोई घर में सब्जी काटना, मसाले पीसना, फर्श की गोबर से सफाई करना, पानी तथा ईंधन की व्यवस्था करना, गाय, भैंस, बकरी आदि का दुग्ध-दोहन करके दही बनाकर उसे मथना, तथा रात्रि में शौचालय की सफाई करना आदि उनका कार्य था।[३] लेखपद्धति के, "मूत्रपुरीषोत्सर्गादिक" शब्द के प्रयोग से दासों की गिरती हुई अवस्था का प्रमाण प्राप्त होता है। कौटिल्य के काल का कोई भी स्वामी अपने दास अथवा दासी से ऐसे कार्य नहीं करवा सकता था जबकि मध्यकाल में उन्हें मल-मूत्र हटाने का गन्दा एवं जुगुप्सापूर्ण कार्य भी करना पड़ता था।[४] लेखपद्धति के विवरणानुसार ही एक दासी को अपने स्वामी का हाथ-पैर धोने के अतिरिक्त हल-जोतने, मछली मारने एवं नाली तथा जल भण्डार इत्यादि की स्वच्छता जैसे पुरुषोचित कार्य भी करने पड़ते थे।[५] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में हेमचन्द्र ने भी ऐसे ही कार्यों का उल्लेख किया है।[६] राजकुलों एवं सामन्त परिवारों की दासियां स्वामी के विलास की व्यवस्था करती थीं। राजशेखर के अनुसार दासियां वसन्त-ऋतु में स्वामी की शय्या की सजावट करती थीं।[७] कथासरित्सागर में अतिथियों का सत्कार करती हुई तथा वस्त्र एवं प्रसाधन धारण करने में उनकी सहायता करती हुई दासियों का उल्लेख मिलता है।[८] वे वस्त्र आभूषण धारण करने में सहायता करती थीं तथा ताम्बुल वाहिनी का कार्य करती थीं।[९] आवश्यकतानुसार दासियों को आवश्यक वस्तुएँ खरीदने बाजार भी जाना पड़ता था।[१०] आश्रमों में ब्राह्मण लोग अतिथियों के पाद-प्रक्षालन करवाने के लिए दास-दासियां रखते थे।[११] एक जैन मन्दिर में जुड़वा दासों द्वारा अभ्यागतों की सेवा का वर्णन कर्पूरमंजरी में किया

---

१. **व्यवहारमयूख** द्वारा उद्धृत कात्यायन, पृ० २११, पी० वी० काणे द्वारा।
२. **लेखपद्धति,** पृ० ४५।
३. जैन, पी० सी०, **पूर्वनिर्दिष्ट,** पृ० ४५।
४. पल्लव ग्राण्ट आफ शिवस्कन्धवर्मन, **ए० इ०** प० पृ० ४९; विस्तृत देखिये, बुद्ध प्रकाश, **आसपेक्ट्स आफ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन,** पृ० २२५।
५. **लेखपद्धति,** पृ० ४५, ४७।
क्षेत्रखलके तक्रानयन चारिआ नयनादिकं निन्दनकर्तनादिकं क्षेत्रकर्म।
कृषिकर्म क्षेत्रखलकादिसर्वकर्म········करिष्ये।
६. **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित,** ९, ११-१२, पृ० १६४।
७. **तदैव,** पृ० ४५।
८. **कथासरित्सागर,** १०८, ५०, पृ० ५११,
इत्युक्त्वा क्षिप्रमाविश्य दासी: स्नानविलेपनैः।
वस्त्रैराहारपानश्च हृष्टं सा मामुपाचरत्॥
९. **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित,** ९, १५२, पृ० १७२,
वस्त्रभूषणताम्बुलद्दासी तावदायर्यौ।
१०. लल्लनजी गोपाल, **पूर्वनिर्दिष्ट,** पृ० ७८; **राजतरंगिणी,** ७, २५०, पृ० २०४,
"दासीकृत्यं तया पुत्रमहिष्यः कारिताः सदा।
गृहोपलेपने यावन्न वैमुख्यमदर्शयन्॥
११. पी० सी० जैन, **लेबर इन एन्शियेण्ट इण्डिया,** पृ० १५३ पर उद्धृत।
"कृषणहस्तपादप्रक्षालनखालकुण्डिकोलुंचन—इत्यादि"।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गया है।[१] 'कुम्भदासी' एवं 'घटदासी' की विशेष चर्चाओं एवं सन्दर्भों से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ दासियां विशेष रूप से पानी भरने का ही कार्य करती थीं। लेखपद्धति में एक दासी द्वारा पानी ढोने हेतु विशेषरूप से शपथ लेने की चर्चा है।

राजाओं के अन्तःपुर में बहुत बड़ी संख्या में दासियों की उपस्थिति समकालीन ग्रन्थों से प्रमाणित होती है। बारहवीं शताब्दी की रचना मानसार के अनुसार 'अष्टग्राहिन' राजा अपनी दासियों में से चुन करके ५०० परिचारिकायें रख सकता था। राजा जालोक ने अपने अन्तःपुर की एक सौ दासियों को भगवान ज्येष्ठरूद्र के मन्दिर में नृत्य करने का आदेश दिया था। इन उद्धरणों से स्पष्ट हैं कि राजाओं के साथ बड़ी संख्या में परिचारिकाएं होती थी। साहसी और बहादुर दासियां अन्तःपुर की रक्षक नियुक्त की जाती थीं। चामरधारिणयां एवं पान की पेटिका ढोने वाली अनेक दासियां भी हुआ करती थीं। भाला, बरछी एवं तलवार लेकर राजकन्याओं के निवासों के रक्षणार्थ नियुक्त दासियों की चर्चा राजशेखर ने भी की है। महलों में महिला रक्षक के रूप में दासियों की नियुक्ति की परम्परा बुद्ध के काल से ही मिलती है। राजा बिम्बिसार ने एक श्रेष्ठी के महल में नियुक्त दासी कन्यायें देखा था। प्रथानुसार जब इन कन्याओं ने राजा से हाथ मिलाने के लिए अपने हाथ आगे बढ़ाये तो शील एवं संकोचवश राजा उनको स्पर्श करने में हिचकिचा गये क्योंकि उन्होने भ्रमवश उन्हें उस श्रेष्ठी की पत्नियां समझा। राजपरिवारों की कुछ दासियाँ अपने स्वामी के लिए दौत्य-कर्म भी करती थीं।

यौन-सुख के लिए दासियों का उपयोग

दास-दासियों पर प्रभुत्व के कारण स्वामी स्वेच्छानुसार उनका उपयोग करता था। ऐसी स्थिति में रूपवती एवं तरूणी दासियां अपने स्वेच्छाचारी स्वामियों के वासना का शिकार हो जाती थीं। स्वामी एवं दासी के प्रणय-सम्बन्धों की चर्चा समकालीन साहित्य में अनेकत्र मिलती हैं। स्वामी को मदिरापान कराने वाली एवं नशे की स्थिति में उन्हें उत्तेजित करने वाली दासियों का भी उल्लेख समकालीन साहित्य में मिलता है। यशस्तिलकचम्पू के एक सन्दर्भ से संकेत मिलता है कि घरेलू दासियों के साथ सहवास असामान्य बात नहीं थी। सुन्दर दासियों को उपपत्नी (रखेल) के रूप में रखने का प्रचलन था। स्वामीगण दासियों को उपपत्नी के रूप में रखकर उनका उपभोग करने के अधिकारी तो माने जाते थे किन्तु वे उनसे किसी प्रकार का वेश्यावृत्ति करवाकर धन नहीं कमा सकते थे। जो दासियां अपने स्वामी के विलास का साधन बनती थीं वे अपने आपको सौभाग्वती समझती थीं। उन्हें दैनिक प्रताड़नाओं से मुक्ति मिल जाती थी। उनको अच्छा भोजन वस्त्र तो मिलता ही था साथ ही स्वामी से बहुमूल्य उपहार भी मिलते रहते थे। अन्य दास-दासियों की तुलना में उन्हें विशिष्ट सुविधाएं भी प्राप्त होती थीं। अतः वे समानधर्मियों द्वारा ईर्ष्या-द्वेष की दृष्टि से देखी जाती थीं। दासियों के साथ यौन-सम्बन्ध का पारिवारिक जीवन पर अनिवार्य दुष्प्रभाव भी पड़ता था। इसके कारण प्रायः दाम्पत्य जीवन में दरारें पड़ जाती थीं तथा कभी-कभी दास-दासियों को अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता था।

दासों के अधिकार

प्राचीन भारत में दासों का वैधानिक रूप से अपनी शरीर पर भी कोई अधिकार नहीं था। उन्हें गाय-बैल, सोना-चाँदी, वस्त्र-आभूषण आदि की भाँति ही अपने स्वामी की सम्पत्ति समझा जाता था। मनु ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि पत्नी, पुत्र और दास का किसी प्रकार की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है। वे जो कुछ भी धन अर्जित करते हैं वह उनका ही हो जाता है जिससे उनका सम्बन्ध है। सामान्यतया समकालीन विधिशास्त्रीय ग्रन्थों में भी यही स्वर उभरता है। मेधातिथि का कहना है कि एक दास को केवल वस्त्र और भोजन मिलना ही पर्याप्त है। लेखपद्धति के एक विवरण के अनुसार दासियों को केवल उनके स्वामी की क्षमतानुकूल ही निर्वहन मिलना चाहिए। इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि एक दास

---

१. **कर्पूरमंजरी**, १, ३६, पृ० ५४,
'पल्लंका किंकरीहि रुदुसमअसुहा पित्थरिज्जंतिझत्ति'।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मात्र भोजन और वस्त्र ही मांग सकता है वह भी समय, काल, प्रथा एवं अपने स्वामी की क्षमता के अनुसार ।

दास-व्यापार

प्रचुर मात्रा में प्राप्त साहित्यिक साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि दासों का नियमित व्यापार भी चलता था । लेखपद्धति के एक विवरणानुसार दासों का एक स्वामी उसे कम अथवा अधिक मूल्य लेकर बेच सकने का अधिकारी था । यह बात उस पर निर्भर थी कि वह दास-दासी के बदले नकद मुद्रा चाहता है या कि कोई वस्तु । ऐसे डाकुओं के गाँव भी थे जो निर्दोष यात्रियों को पकड़ कर दास बना लेते थे और उन्हें बेच देते थे । किसी जाति समुदाय पर बार-बार आक्रमण करने का उद्देश्य कभी-कभी लोगों को पकड़ कर बेचना भी होता था ।

भारतीय दासों को विदेश भेजने की प्रथा भी प्रचलित थी । प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार गुजरात से दासों का निर्यात इतनी अधिक मात्रा में हो रहा था कि वीरधवल के जैन मन्त्री तेजपाल को बन्दी बनाकर विदेशों में ले जाकर दास बेचने की प्रथा पर प्रनिषेध लगाने हेतु एक आज्ञापत्र जारी करना पड़ा । उपमितिभवप्रपंचकथा में डाकुओं की एक कहानी का उल्लेख है जिसमें डाकू एक दास को स्वस्थ एवं सुन्दर बनाने के लिए ख़ूब खिलाते-पिलाते हैं ताकि उसे विदेश भेजने पर अच्छा-खासा धन मिल सके । राजतरंगिणी में भी भारतीय दासों को म्लेच्छों के हाथ बेचने की चर्चा मिलती है । बहुत से ऐसे व्यापारी थे, जो विदेशों से दास-दासियों का आयात करते थे । सुन्दर एवं गौरांग दासी-कन्याओं की भारत में फैले हुए उनके स्वायत्त-शासी राज्यों में बड़ी मांग थी । संस्कृत साहित्य में उल्लिखित राजाओं की यवन परिचारिकायें विदेशी दासियों के प्रति आकर्षण को सूचित करती हैं । तुर्किस्तान तथा अन्य कई देशों से एकत्र करके सुन्दर दासियों को भारत में आयात करने वाले बुल्ली नामक व्यापारी की चर्चा राजतरंगिणी में है । कश्मीर के राजा कैलाश के पास लाकर उसने इतनी सुन्दर दासियों को बेचा कि राजा ने उन्हें अन्तःपुर में अन्य रानियों के साथ रहने के लिए भेज दिया । इस प्रकार हम देखते हैं कि विवेच्ययुग में दास-दासियों का व्यापार विधिवत् प्रचलित था जो अत्यन्त लाभप्रद था ।

दासों की मुक्ति

दासों की मुक्ति के सम्बन्ध में समकालीन साहित्य एवं अभिलेख प्रायः मौन हैं । दासों की मुक्ति के समर्थन में साक्ष्य अत्यन्त विरल हैं । अग्निपुराण में यह कहा गया है कि "अपने स्वामी की रक्षा करने वाला दास यदि बलान्नयन द्वारा अथवा चोरों द्वारा बेचने के कारण दास बना है, तो बिना किसी औपचारिक निष्क्रति राशि के भुगतान के उसकी मुक्ति की जायेगी ।" कथासरित्सागर में कतिपय ऐसे व्यापारियों का उल्लेख आया है जिन्होंने देवस्मिता नामक एक भद्र महिला को चार दासों की मुक्ति हेतु बहुत सारा धन दिया । कभी-कभी स्वामीगण भी प्रसन्न होकर या दया के कारण उन्हें मुक्त कर देते थे । किन्तु अधिकांशतः दासों की मुक्ति लगभग असम्भव थी । लेखपद्धति के एक विवरण के अनुसार "अपने स्वामी को बेची गयी दासी आमरण सेवा हेतु बाध्य थी ।" 'स्वजीवितान्त', 'जन्मरणान्त' और 'जन्मग्राहक' जैसे शब्दों से स्पष्ट होता है कि दासों को आजीवन मुक्ति का कोई अवसर नहीं था । उल्लेखनीय है कि स्मृतियों में स्वामी द्वारा गर्भ धारण करने वाली दासी की मुक्ति का विधान मिलता है किन्तु इस काल के साहित्य में इसका भी स्पष्ट समर्थन नहीं मिलता ।

समकालीन दास प्रथा के सम्बन्ध में कुछ बातें विशेषरूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं जिनका संकेत आवश्यक है । प्रथम तो यह कि इस काल में अनवरत युद्धों, समाज के निम्न वर्गों की आर्थिक विपन्नता, सामंतवादी प्रवृत्तियों के विकास तथा ब्राह्मण भू-स्वामियों की संख्या में वृद्धि के कारण दासों की संख्या में अतिशय वृद्धि होती है । जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, उच्च एवं सम्पन्न वर्गों में श्रम का अनादर बढ़ता जा रहा था तथा अधिक दास-दासियों से युक्त होना आभिजात्य का सूचक समझा जाता था । अतः सम्भ्रान्त परिवारों में दासों की संख्या बढ़ी । ब्राह्मण भू-स्वामी एवं सामन्त स्वयं खेती नहीं करते थे । इसलिए कृषिदासों की संख्या में भी वृद्धि होती है । यह भी उल्लेखनीय है कि नारद, याज्ञवल्क्य, कात्यायन आदि

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्मृतिकारों ने यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि प्रतिलोमक्रम में दास न स्वीकार किये जायँ। किन्तु विवेच्ययुग के सन्दर्भो में इसका स्पष्टतः उल्लङ्घन दिखायी देता है। दासियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार का वैधानिक संकट या नैतिक संकोच भी इस काल में नहीं दिखाई देता है। स्मृतियों के काल में दास-दासियों को अशुचि कार्यों में नहीं लगाया जाता था किन्तु इस काल में हम दास-दासियों को मल-मूत्र निस्तारण आदि में लगा हुआ पाते हैं। साथ ही दास-दासियों का खुला व्यापार तथा मानवीय स्तर पर उनके प्रति समवेदना का सर्वथा अभाव भी विवेच्ययुग में उनकी दयनीय स्थिति की ओर ही संकेत करता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घोड़मंगर शैलाश्रय का गैंडे का आखेट दृश्य : मिर्जापुर

राकेश तिवारी*

(फलक ३ एवं ४)

भारत में शैल-चित्रों की खोज का इतिहास ई० सन् १८८० में उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जनपद के चित्रित शैलाश्रयों को खोज के साथ प्रारम्भ हुआ । इनकी खोज कॉकबर्न[1] और कार्लाइल[2] द्वारा अलग-अलग की गयी थी । तदुपरान्त १९३१ ई० में के० एन० दीक्षित,[3] १९३२ ई० में मनोरंजन घोष,[4] १९५६-५७, ६२-६४, ७०-७१ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय,[5] १९६२-६३ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,[6] १९७४-७६ ई० में हेमराज,[7] तथा १९५७-७९ ई० में इस लेख के लेखक[8] द्वारा यहाँ अनेकानेक चित्रित शैलाश्रय प्रकाश में लाये जाते रहे हैं । अब मिर्जापुर के ज्ञात चित्रित शैलाश्रयों की संख्या लगभग २०० हो गयी है । इनके बहुपक्षीय अध्ययन से भारतीय इतिहास और प्रागैतिहास की अनेक समस्याएँ सुलझ सकती हैं । उदाहरण के लिए जब प्रारम्भ में ताम्र-उपकरण-निधान (कॉपर होर्ड) मिले तो उसके एक प्रमुख उपकरण हारपून को कुछ लोगों ने विदेश, विशेषकर पश्चिम एशिया, से आयातित माना और कुछ, यथा बृजवासी लाल

---

*. उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन, रौशनुद्दौला कोठी, कैसरबाग, **लखनऊ।**

१. काकबर्न, जे०, आन दि रीसेन्ट एक्जिसटेन्स ऑफ राइनोसॉरस इण्डिकस इन दि नार्थ वेस्ट प्राविन्स एण्ड ए डिस्क्रिप्शन ऑफ आरकाइक रॉक पेण्टिंग्स फ्राम मिर्जापुर, पिप्रजेण्टिग दि हण्टिग ऑफ दि एनिमल, **जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी**, १८७३ एल० II, नं०—१; ए शार्ट एकाउण्ट ऑफ दि पेट्रोग्राफ्स इन दि केव्स एण्ड रॉक शेल्टर्स ऑफ दि कैमूर रेञ्ज इन मिर्जापुर, **प्रोसीडिंग्स ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल** १८८३ ।

२. कार्लाइल, ए० सी० एल०, नोट्स ऑन लेटली डिसकवर्ड सेफलचरल माउण्डस, कैनर्स, केव पेण्टिग्स एण्ड स्टोन इम्पलीमेण्ट्स, **प्रोसीडिंग्स ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल** १८८३ ।

३. घोष, मनोरंजन, रॉक पेण्टिग्स एण्ड अदर ऐण्टीक्विटीज़ ऑफ प्रीहिस्टारिक एण्ड लेटर टाइम्स, **मेम्वाएर ऑफ दि आर्कलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया** १९३२; नं०—२४, पृ० १५ ।

४. **तदैव**, पृ० १५—२० ।

५. **इण्डियन आर्कलॉजी ए रिव्यू**, १९५६—५७; १९५९—६०; १९६२—६३—६३; १९७०—७१ ।

६. नारायण ए० के० एण्ड पन्त पी० सी, १९६४—६५, ए समरी एकाउन्ट ऑफ आर्किओलॉजिकल एक्सप्लोरेशन इन ईस्ट यू० पी०, **भारती**, बुलेटिन ऑफ दि कॉलेज ऑफ इण्डोलाजी, १९६२-६३, काशी, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, नं० ८, पार्ट १ ।

७. **इण्डियन आर्कलॉजी ए रिव्यू**, १९६५—७८ ।

८. **तदैव**, १९७८-७९-८०; तिवारी राकेश—१९८२ ''अ'', **थिरकते शैलचित्र**, युवा परिभ्रमण एवं सांस्कृतिक समिति, लखनऊ; १९८२ ''ब'', मिर्जापुर के शैलाश्रयों में चित्रित मानवों में साज-सज्जा की प्रकृति, **संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका**, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, अंक २९-३०, पृ० १—१६ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदि, ने इनकी स्थानीय व्युत्पत्ति का मत प्रस्तुत किया।[1] लाल ने घोड़मंगर शैलाश्रय के प्रसिद्ध आखेट दृश्य में निरुपित हारपून से इनकी तुलना करते हुए इनके हारपून विकास की प्रारम्भिक स्थिति से सम्बन्धित होने की सम्भावना व्यक्त की। इसी प्रकार शैल-चित्रों में प्रदर्शित मानव आकृतियों की सिरोभूषा के अध्ययन के समय यह देखा गया कि जो सज्जाएँ एक लम्बे समय से रोम से आयातित मानी जा रही हैं, वे इन चित्रों में प्रागैतिहासिक काल से ही निरुपित की जा रही हैं।[2]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मिर्जापुर जनपद में शैल-चित्रों के अध्ययन के लिए प्रभूत स्रोत-सामग्री उपलब्ध है। किन्तु बावजूद इसके कि भारत में सबसे पहले शैलचित्र यहीं से प्रकाश में आए हैं इनके अध्ययन और प्रकाशन के सन्दर्भ में किया गया कार्य हाल के दशकों में मध्य प्रदेश के भीम बेटका, पंचमढ़ी और अन्याय स्थलों के शैल चित्रों के प्रकाशन-अध्ययन की तुलना में दशमांश भी नहीं है। जिन चित्रों के बारे में कुछ लिखा-पढ़ा भी गया है वह अब पर्याप्त नहीं लगता है। प्रायः पहली बार प्रकाश में आ जाने के बाद पुनः स्थल पर जाकर उनके अध्ययन का कोई यत्न नहीं किया गया है। इसके कारण चित्रों का वास्तविक महत्व नहीं पता चल पाता है। अतः इनमें रह गयी त्रुटियों के विषय में सम्बन्वित विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट कराने और इनके विस्तृत किन्तु सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता से अवगत कराने के लिए प्रस्तुत शोध पत्र में मिर्जापुर के विख्यात घोड़मंगर शैलाश्रय में चित्रित गैंडे के आखेट-दृश्य का तुलनात्मक पुर्नमूल्यांकन प्रस्तुत किया जा रहा है।

घोड़मंगर शैलाश्रय मिर्जापुर जनपद की राबर्टसगंज तहसील में चुर्क से २२ कि० मी० दक्षिण, मऊ ग्राम से १२ कि० मी० की दूरी पर गहन वनांचल में स्थित है। इलाहाबाद से रेल तथा वाराणसी और मिर्जापुर से बस अथवा अन्य वाहनों से राबर्टसगंज पहुँचना सहज है। राबर्टसगंज से चुर्क तक बस अथवा टैक्सी सुलभ हैं। चुर्क से आगे लगभग १९ कि० मी० वन मार्ग है और अन्तिम तीन कि० मी० पैदल चलना पड़ता है।

१८८० ई० में जे० काकबर्न द्वारा प्रकाश में लाया गया घोड़मंगर शैलाश्रय का गैंडे के आखेट का दृश्य (**फलक ३**) न केवल स्थानीय वरन् अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर चर्चित रहा है। उल्टे ढाल जैसे शैलाश्रय की भीतरी सतह पर चित्रित यह अद्वितीय आखेट दृश्य भारत[3] और अफ्रीका[4] के शैल चित्रों में प्रदर्शित गैंडे के अन्य आखेट दृश्यों में सबसे अधिक स्वाभाविक और दुर्लभ है। हल्के गेरुए रंग से चित्रित इस दृश्य में निरूपित आकृतियों की वाह्य रेखाएँ गाढ़ी बनायी गयी हैं। इसकी कुल लम्बाई ९३ से० मी० और कुल चौड़ाई ६० से० मी० है। इसमें एक दौड़ते हुए गेंडे को ११ आखेटकों द्वारा घेर कर मारने का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण किया गया है। (**फलक ४**)। एक सींगवाले घायल गैंडे की पीठ में तीन, पुट्ठे में एक और अगले पैर के घुटने के नीचे एक, कुल ५ हारपून घुसे हुए हैं। क्रोध और घावों की पीड़ा से व्याकुल मुँह खोलकर आक्रामक मुद्रा में दौड़ते हुए गैंडे ने एक आखेटक को अपनी नोकीली सींग के जोरदार आघात से हवा में उछाल दिया है। उसके सामने से दो, बायीं ओर से दो, पीछे से एक और दायीं ओर से एक आखेटक हारपून और भाले से वार कर रहे हैं। पीछे से वार कर रहे आखेटक का शस्त्र गैंडे के पुट्ठे में धँसा हुआ है। यह शस्त्र भाला है अथवा हारपून इसका निर्धारण कर पाना सम्भव नहीं है क्योंकि उसका अंग्राश गैंडे के शरीर में धँसा होने के कारण उसकी बनावट का स्पष्ट पता नहीं चल पाता है। अन्य आखेटकों द्वारा गैंडे पर चलाये जा रहे लम्बे-लम्बे हारपूनों को देख कर ऐसा लगता है कि पिछले आखेटक का शस्त्र भी हारपून होना चाहिए। इनके अतिरिक्त गैंडे के सामने से आक्रमणरत आखे-

---

१. लाल, बी० बी०, फर्दर कॉपर होर्डस् फ्रॉम दि गंगेटिक वेसिन एण्ड ए रिव्यू ऑफ दि प्राब्लम, **ऐन्शिएन्ट इण्डिया** नं० ७, १९५१, नई दिल्ली पृ० ३४–३५।

२. तिवारी, **तदैव** १९८२–"ब" पृष्ठ ५।

३. न्यूमाएर, एर्विन, **प्रीहिस्टॉरिक इण्डियन रॉकपेन्टिंग्स**, चित्र २७, ३६, १६७, पृ० ६९, ७९, १४८।

४. लोम्मेल, आन्द्रे, १९७६ **प्रीहिस्टॉरिक एण्ड प्रीमिटिव मैन**, हैमलिन, पृ० १५०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टकों के कुछ पीछे से एक धनुर्धारी और एक हारपूनधारी आखेटक को गैंडे की ओर बढ़ते दर्शाया गया है। गैंडे के पिछले पार्श्व में सबसे दायें भाग में ऊपर और सबसे बायें भाग में नीचे क्रमशः हाथ उठाए हुए एक-एक निःशस्त्र आखेटक भी प्रदर्शित हैं। आखेटकों की सिरोभूषाएँ, उनकी चुस्ती और उनके आक्रामक भावों के निरूपण की स्वाभाविकता आदिम चितेरों की कलागत चेतना, चित्रण शैली की उत्कृष्टता और चित्रों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति की क्षमता की जीवंत साक्षी है। यही विशिष्टताएँ गैंडे के निरूपण में भी देखी जा सकती हैं।

घोड़मंगर शैलाश्रय के इस दृश्य को देख कर ऐसा लगता है कि एक बार काकबर्न द्वारा इस दृश्य का आँख से देख कर बनाया गया चित्र प्रकाशित हो जाने के बाद अन्य विद्वानों[1] ने कदाचित् स्थल पर जा कर इस दृश्य का निरीक्षण किये बिना ही इसे पूर्वानुसार प्रकाशित किया है और यदि वे वहाँ गये भी तो इस दृश्य का सूक्ष्म निरीक्षण नहीं कर सके, क्योंकि उनके द्वारा इसके प्रकाशित चित्रों (**फलक ३**) में अनेक त्रुटियाँ रह गयी हैं। इस सन्दर्भ में इस दृश्य के पूर्व प्रकाशित चित्रों और उक्त दृश्य पर रख कर की गई ट्रेसिंग (**फलक ४**) तुलनीय हैं। स्पष्टतः इनमें निम्न अन्तर दिखलाई पड़ते हैं :

१. इस दृश्य में वस्तुतः गैंडे को घेरे हुए ११ आखेटक चित्रित हैं जबकि पूर्व प्रकाशित चित्र में केवल ६ आखेटक ही दिखलाये गये हैं। इनमें गैंडे के सामने प्रदर्शित क्रमशः एक-एक धनुर्धारी और हारपून धारी, दाएँ पार्श्व में खड़े भाला-धारी, उसके पीछे हाथ उठाए निःशस्त्र तथा बायी ओर सबसे पीछे खड़े आदमी अनुपस्थित हैं।

२. गैंडे के पीछे से भाला मारते हुए आखेटक की गतिशील आक्रामक मुद्रा और उसकी विशिष्ट शिरोभूषा पूर्व प्रकाशित चित्र में नहीं दिखती है।

३. दाएँ से बाएँ के क्रम में प्रदर्शित आखेटकों की शिरोभूषाएँ स्पष्टतः भिन्न हैं।

४. पूर्व प्रकाशित चित्र के आखेटकों के हाथ के भाले अधिक नोकीले दर्शाये गये हैं और धातु के बने लगते हैं जबकि मूलचित्र के हारपूनों की बनावट इनसे सर्वथा भिन्न है। इनके शीर्ष और कटि कम नोकीले और अनगढ़ हैं। ऐसा लगता है कि ये लकड़ी एवं हड्डी अथवा प्रस्तुर उपकरणों और लकड़ी से निर्मित हारपूनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके काटों की संख्या में भी अन्तर है।

५. दृश्य के बीचोबीच चित्रित गैंडे की मुद्रा और आकार भी तुलनीय हैं। पूर्व प्रकाशित चित्र में उसकी सींग अत्यन्त नोकीली और मुँह कम खुला हुआ दर्शाया गया है जब कि मूल चित्र में प्रदर्शित गोल सींग और अधिक खुले हुए मुँह द्रष्टव्य है।

६. मूल चित्र में गैंडे की पीठ पर अनेक हारपून धंसे हुए दर्शाये गये हैं। उसके अगले बाएं पैर के घुटने के नीचे भी एक हारपून धंसा हुआ है। पूर्व प्रकाशित चित्र में इनमें से एक भी हारपून नहीं दर्शाया गया है।

७. गतिशीलता और स्वाभाविकता का जो भावनिरूपण मूल चित्र में परिलक्षित होता है उसका भान पूर्व प्रकाशित चित्र से नहीं होता।

---

१. काकबर्न, **तदैव**, लाल, बी० बी०, **तदैव**, गुप्त, जगदीश, १९६७ **प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, आ० दृ० फलक IV, चित्र १; मठपाल, १९८१, प्रीहिस्टॉरिक आर्ट आफ इण्डिया, **दि ईस्टर्न ऐन्थ्रोपोलाजिस्ट**, वॉ० ३४, अंक १. पृ० २२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

TOYING WITH INDIAN HISTORY & CULTURE

K. D. Bajpai

Indian politicians, when in power, occasionally behave as if they were a bundle of opposites. They cry hoarse from housetops about their faith in the political and cultural unity of their country. At the same time, they do not seem to miss any opportunity to play with the national integrity in order to achieve their selfish ends.

During recent times it has become a fashion with our politicians in power to encourage a certain class of writers—both foreign and Indian—to play with the history and culture of this country. The writers are employed to write regional histories, biographies and travelogues about India and about their present patrons to amuse them.

The main targets of attack in such publications are the glorious achievements of Indians in the past, the Hindus and the Indian way of life.

For obvious reasons, the present authors of such books find themselves in much better position than their predecessors of the 18th and 19th centuries, some of whom distorted our history and tried to malign India in all possible ways.

At the same time we cannot forget those foreign savants who tried to portray the correct picture of this country and highlighted India's real achievements in various fields of life and thought during the ancient and medieval periods. We feel extremely grateful to those writers.

In the second half of the present century, free India has made considerable progress in several spheres. This advancement is not palatable to a class of persons. They are in search of opportunities to enable them not only to belittle the recent progress made by India, but also to besmear the past image of this country. In their own subtle way they try to strike at the very root of Indian synthetic culture by unduly highlighting the elements of diversity and disintegration in Indian Society.

One of the media for achieving this aim in the present times is the 'light pleasantry' in the form of novels, short stories, biographies and travelogues. Their number is on the increase day by day. For these publications, their writers are not to blame so much as their political patrons, who are indiscriminately wasting public money on the production of such books.

One such recent publication pertains to Madhya Pradesh.[1] The writer of this publication is the one who, sometime back, wrote the account of another state, viz. Karnataka. The two States of M. P. and Karnataka owe a public explanation as to the necessity of the

1. *Answered by Flutes : Reflections from Madhya Pradesh* By Dom Moraes, Asia Publishing House, 1983, Department of Information & Publicity, Govt. of Madhya Pradesh, Price Rs. 250/–

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

production of these controversial books and the reason as to why no Indian writer could be available to write accounts of the two States.

For the preparation of the book on Madhya Pradesh its writer Dom Moraes is said to have enjoyed unprecedented facilities provided by the State Government. Even then the State has been grossly misrepresented in regard to its history and culture. The book is silent about the real builders of the State, its freedom fighters, academicians and others.

The interesting travelogue, giving a good number of coloured illustrations, alongwith the so-called enchanting account of the culture, history and geography of Madhya Pradesh, has been brought out to mark the Silver Jubilee celebration of the present state. The exorbitant amount of money spent on this publication by the State Government would have stunned not only Muhammad Bin Tughlaq but even the richest culture-conscious Maharaja or Nawab! The text of the book runs into 214 pages. There is no Index in the book.

The author of the above-mentioned publication delineates his concept of 'culture' and the allied problems at several places of the book. In chapter IX (page 122), while defending the State Department of Culture, he writes: *There is a small but powerful body of opinion in Madhya Pradesh, both retrogressive and obscurantist, to use two words favoured in totalitarian countries, which has its own ideas about what Government should be, and does not know what culture is. The two words, linked, take on a new significance. Government culture is actually what these people want, and will accept : the emphasis is on a Hindu Government culture. Militant Hindu political parties have always found favour with the vested interests in the state, and calture by itself, applied in a nontraditional sense, affronts them.* The Department of Culture has therefore come under continual and sustained attack from the factions."

For obvious reasons, the author had to defend the 'civilized approach' of the officials of the State Department of Culture as against the 'uncivilized approach' of others.

About the Sikhs in Madhya Pradesh, the author comments : "A fair number of Sikhs have imported their beards and turbans into the State from the north." (p. 18).

Regarding his sense of history, the author is replete with queer notions. On page 6 he says "*By 600 B. C. northern India was a cockpit of warlords and princes in continual combat. The overspill of blood from the north found its way into the forests of what is now called Madhya Pradesh.*"

It is interesting to note what the author says about Gautama Buddha : "Some princes sickened on this bloody surfeit. Blades clashed and widows keened all over the country : this terrible harmony drove the Buddha from his paternal palace into the forests." (page 6).

Dom Moraes enjoyed the State hospitality for quite a long time in and outside Madhya Pradesh. He is proud of his geographical sense, having toured the State from one end to the other. About the well-known ancient town of Vidisha he says that "it (Vidisha) is some thirty miles south of modern Bhopal." (page 7).

The worthy historian puts the date of the death of Shuja-at-Khan, the Governor of Mandu, in 1954, (p. 106).

To top all this, *the author fulfils in the book his apparent mission of segregation of the Tribal people of the State from the Indian culture-stream.* He tries

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

to prove, without giving any cogent reasons to support his theory, that the ancestors of the Tribals of Madhya Pradesh were rock-shelter-dwellers and were constantly troubled by the people of the plains. The author dislikes the idea that the Tribals should sing the so-called Indian songs, which, according to him have no relationship with the Tribal traditions. He abhors the idea of the tribals taking inspiration from Indian heroes and heritage.

The author of the book, under discussion, regards *Indian culture as alien to the tribs. He vehemently pleads for creating a pride among the tribals that they belong to a separate race.* His following statement may be referred to in this connection : "For the legends, which make up a cloudy kind of history, will be lost as the tribes advance into an alien culture. They are worth preservation, not least of all to create a pride of race among the tribals. At the moment such tribal children as attend school are taught Indian history, which concerns people whose activities had nothing to do with them." (page 119).

His auguish towards the M. P. State and more so, against Indian Government can be gleaned from the following quotation. Therein *he not only indicates his appreciation of the Khalistan movement, but also makes his pleasant prophecy towards the Jharkhand movement : "The movement towards Khalistan, an independent Sikh state, seems to be, at the time I write this, important; but the Jharkhand movement is probably, in the long run, going to be more important in terms of results.* The pity of this is because the exploitation of the tribals by the state has been caused by the exploitation of the state by the Centre." (page 84).

The State involvement in a free and healthy development of literature and fine arts can be appreciated. But a pre-conceived notion about history and culture and an encouraging attitude towards a particular section of writers and artists, due to any reason whatsoever can but be detrimental to the advancement of literature and arts. I do not know of any other free country in the world where activities of the nature mentioned above are encouraged by the State; and that too at the cost of public money.

It is much more important to avoid misinterpretation of historical facts for giving impetus to tendencies of segregation and disintegration. Rational and dispassionate analysis of history does not mean that it should be allowed to be throttled by writers having no proper sense of history.

As regards the tribabls of M. P. and other states, it may be clearly stated that during their past history of thousands of year, they have been an integral part of Indian culture and they have never thought of this culture as anything alien to theirs. It is a matter of pride for this country that a genuine idea of cultural synthesis among the people of various regions has permeated through out the long hisiory of this land.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समीक्षा

गुप्तकालीन अभिलेख—ले० प्रो० श्रीराम गोयल, प्रकाशक, कुसुमाजलि प्रकाशन, रंजन बिल्डिंग, पी०एल० शर्मा रोड, बेगमब्रिज, मेरठ–२५०००१, पृष्ठ १९ + ३८५ तथा ३५ अभिलेखों के फलक, १९८४, मूल्य ३७५ रुपये।

प्रोफेसर श्रीराम गोयल भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों एवं विद्वानों के लिए अपरिचित नाम नहीं हैं जिनकी लगभग एक दर्जन पुस्तकें एवं पचासों शोधप्रबन्ध उन्हें एक इतिहासकार के रूप में स्थापित कर चुके हैं। उनका शोध ग्रंथ **'ए हिस्ट्री आव दि इम्पीरियल गुप्तज'** देश एवं विदेश में सर्वत्र प्रशंशित हो चुका है। इसका कारण प्रो० गोयल का इतिहास के मूल स्रोतों पर अधिकार है। मुद्राशास्त्र एवं अभिलेखकी उनके प्रिय विषय रहे हैं। इधर उन्होंने अभिलेखों पर विशेष अध्ययन प्रकाशित करना प्रारम्भ किया है। दो वर्ष पूर्व उन्होंने **'प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह'** प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने पूर्वगुप्त कालीन अभिलेखों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत पुस्तक इसी अध्ययन की अगली कड़ी है।

प्रो० गोयल ने इस पुस्तक में ५९ अभिलेख गुप्त सम्राटों के प्रकाशित किए है। इन अभिलेखों को एक स्थान पर एकत्र करके उनका सम्पादन एवं विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करना अपने आप में एक महत्वपूर्ण कार्य है। लेखक ने प्रत्येक अभिलेख का अध्ययन तीन भागों में किया है। प्रथम भाग में लेख का विस्तृत परिचय प्राप्ति-स्थल, भाषा, लिपि, वर्तनी, तिथि, लेखक, उद्देश्य, अध्ययन का इतिहास, संदर्भ ग्रन्थ सूची आदि सहित दिया गया है। दूसरे अंश में लेख का मूल पाठ, पाठटिप्पणियाँ, कठिन शब्दों के अर्थ, अनुवाद तथा व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ हैं। तीसरे भाग में उस अभिलेख का महत्व राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक, प्रशासकीय आदि दृष्टियों से बताया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का अध्ययन सभी के लिए, विशेष रूप से विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी एवं लाभप्रद सिद्ध होगा। अब तक अधिकांश लेखों के अनुवाद ही प्रकाशित होते रहे हैं तथा कुछ के महत्व पर भी प्रकाश डाला गया है। किन्तु अपने प्रयास में प्रो० गौयल ने कठिन शब्दों एवं वाक्यांशों के अर्थ भी दिये हैं तथा पहले के विद्वानों ने उनका क्या अर्थ किया है तथा वे स्वयं उसे कैसा समझते यह भी तर्क सहित बताया गया है। अनेक विषयों एवं मुद्दों पर उनकी अपनी पैठ एवं राय है और लेखक ने उनकी अभिव्यक्ति में संकोच नहीं किया है।

लेखों को सम्पादित करने के पहले पूर्वपीठिका के दोनों खण्डों में लेखक ने गुप्तसम्वत् तथा गुप्त इतिहास, राजक्रम तथा तिथिक्रम की संक्षिप्त रूपरेखा दी है। गुप्तलेखों के अन्त में बंगाल से उपलब्ध दान-पत्रों से ज्ञात प्रशाशकीय व भूमि व्यवस्था पर एक परिशिष्ट भी है।

इसके अतिरिक्त लेखक ने 'गुप्तकाल के अन्य महत्त्वपूर्ण अभिलेख' के अर्न्तगत आटविक प्रदेशः उच्च कल्प तथा परिव्राजक वंश के २, दशपुर प्रदेशः गुप्तों के सामन्तों के लेख के अर्न्तगत ५, हूणों के अभिलेख के अर्न्तगत ४, दशपुर प्रदेश के औलिकर वंश के ४, वाकाटकों के ३ एवं २ प्रकीर्ण लेख भी सम्मिलित किए हैं। इनका चयन गुप्त काल के इतिहास की पूर्णता को ध्यान में रखकर किया गया है। लेकिन इनका केवल मूल पाठ ही दिया गया हैं कोई अनुवाद अथवा पाठ-टिप्पणी आदि नहीं दी गई है। लेकिन इससे पुस्तक की महत्ता कम नहीं होती।

ऊपर हम कह चुके हैं कि अनेक विषयों पर प्रो० गोयल के अपने विचार हैं तथा उन्होंने उनको स्थापित करने के लिए तर्क प्रस्तुत किए हैं। उदाहरण के लिए वे प्रसिद्ध मेहरौली लेख को समुद्रगुप्त का मानते हुए वे 'चन्द्र' एवं 'समुद्रगुप्त' को अभिन्न मानते हैं। यहाँ हम तर्कों के विस्तार में न जाकर केवल यह इंगित करना चाहते हैं कि इस मत से सहमत न न होते हुए भी तर्कों की सबलता को स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार प्रो० गोयल द्वारा प्रस्तुत की गई यह पुस्तक हिन्दी में इस विषय पर लिखी गई अबतक की सबसे महत्वपूर्ण एवं परिपूर्ण पुस्तक है जिसके लिए लेखक बधाई के पात्र हैं।

ठा० प्र० व०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'Decipherment of 'Shell Script' by Prof. B. N. Mukherjee, in *Bulletin of Museums and Archaeology in U. P.*, No. 31, June, 1983, pp. 1-46 and 12 plates; Price Rs. 6.00.

भारतीय अध्येताओं को शंखलिपि की जानकारी विगत १५० वर्षों से थी, किन्तु अभी तक यह अबूझ पहेली थी। प्रो० ब्रतीन्द्रनाथ मुखर्जी के निर्देशन में कलकत्ता विश्व विद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति के उच्च अध्ययन केन्द्र में डा० आर० सोलोमान ने १९७६–७७ में इसी विषय पर काम किया था लेकिन वह भी इसको पढ़ सकने में असमर्थ रहे। १९८० में उन्होंने *Shell Inscriptions* नामक पुस्तक कलकत्ता से प्रकाशित की जिसमें केवल शंख लिपि के अभिलेखों की सूची तथा संक्षिप्त विवरण ही प्रस्तुत किया जा सका था।

लेकिन यह एक सुखद संयोग की बात है कि लखनऊ में दिनांक १० मार्च १९८३ को प्रो० ब्रतीन्द्रनाथ मुखर्जी को लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित एक पाषाण अश्व का निरीक्षण करते समय उस पर उत्कीर्ण शंखलिपि के एकाध अक्षर पढ़ने में आ गये। वे इस अश्व की पीठ पर उत्कीर्ण अक्षरों को एक तिपाई पर चढ़कर विभिन्न कोणों से देख रहे थे कि अचानक कुछ अक्षर उनके समझ में आ गये तथा उन्होंने इस पर 'श्री महेन्द्रादित्य' लेख पढ़ लिया। शंखलिपि के ये गुप्त कालीन अक्षर ब्राह्मी लिपि के अक्षरों के ही समान हैं; किन्तु उनको अत्यधिक अलंकृत कर दिया गया है एवं एक कोण पर झुके हुए बनाया गया है। इन अलंकरणात्मक रेखाओं में से वास्तविक अक्षरों को खोज निकालना वास्तव में एक चमत्कार की बात है। प्रो० मुखर्जी इस काम में सफल हुए, इसके लिये वे बधाई के पात्र हैं। एक वार्ता के दौरान उन्होने बताया कि वे अब तक लगभग डेढ़ दर्जन लेखों को पढ़ चुके हैं। वास्तव में सामान्य अक्षरों वाली लिपि के लेखों के पाठोद्धार में भी काफी समय लगता है फिर शंख-लिपि के अलंकरणात्मक रेखाओं के मध्य से वास्तविक अक्षरों को पहचान कर उनका सार्थक अर्थ लगाकर पाठोद्धार करना बड़ा दुष्कर एवं श्रमसाध्य कार्य है। आशा है प्रो० मुखर्जी इस कार्य को पूरा करने में सफल हो सकेंगे।

लखनऊ संग्रहालय का यह पाषाण अश्व प्रथम कुमारगुप्त द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की प्रतिमा है। इस पर प्रो० मुखर्जी ने 'श्रीमहेन्द्रादित्य' पढ़ा है जो प्रथम कुमारगुप्त की उपाधि थी। यह लेख घोड़े की पीठ पर उत्कीर्ण है। इसके साथ अश्व के दाहिने पुट्ठे पर भी शंखलिपि में लेख है जिसका पाठ 'विचूर्णित श्रीपुत्र' किया गया है। प्रो० मुखर्जी का कहना है कि यहाँ पर 'श्रीपुत्र' शब्द 'अज' या बकरे के लिये आया है जिसका चित्र भी वहाँ अंकित है। किन्तु मुझे यह दिखाई नहीं पड़ा। वैसे 'श्रीपुत्र' का अर्थ अश्व भी होता है इसलिये इससे कोई अन्तर नहीपड़ता।

प्रो० मुखर्जी ने इस लिपि को पढ़कर मार्ग प्रशस्त कर दिया है और इस प्रकार एक लिपिशास्त्रीय रहस्य को सुलझा कर उन्होने जो कार्य किया हैं उसके लिये वे साधुवाद पात्र हैं।

ठा० प्र० व०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१. अथ हेमाद्रिपुराणोक्तः काशीखंड सहितो महासंकल्पः

संपादकः गंगाधर देवः *

श्रीमन्महागणाधिपतये नमः। लक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः। उमामहेश्वराभ्यांनमः वाणीहिरण्यगर्भाभ्यां नमः। शचीपुरंदराभ्यां नमः। मातापितृभ्यां नमः। इष्टदेवताभ्योनमः। कुलदेवताभ्योनमः। ग्रामदेवताभ्योनमः। स्थानदेवताभ्योनमः। वास्तुदेवताभ्योनमः। विश्वेश्वरादि समस्त विश्वदेवताभ्योनमः। सर्वेभ्योदेवेभ्यो विप्रेभ्योगुरुभ्योगोभ्योनमोनमः। एतत्कर्म-प्रधानदेवताभ्योनमः। विश्वेशं माधवं ढुंढिंदंडपाणिंच भैरवम्। वंदे काशीं गुहाँगंगां भवानीं मणिकर्णिकाम्।। सुमुखश्चैकदंतश्च कपिलोगजकर्णकः। लम्बोदरश्च विकटो विघ्ननाशो विनायकः।। धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः। द्वादशैतानि नामानि यः पठेत् शृणुयादपि।। विद्यारंभे विवाहेच प्रवेशे निर्गमे तथा। सग्रामे संकटे चैव विघ्नस्तस्य नजायते।। शुक्लांबरधरंदेवंशशिवर्णचतुर्भुजम्। प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशांतये।। अभीप्सितार्थं सिध्यर्थपूजितोयः सुरासुरैः। सर्वविघ्नहरस्तस्मै गणाधिपतयेनमः।। सर्वमंगलमांगल्येशिवेसर्वार्थसाधिके। शरण्ये त्र्यंबकेगौरि नारायणि नमोस्तुते।। सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममंगलम्। येषां हृदिस्थो भगवान् मंगलायतनो हरिः।। तदेव लग्नं सुदिनं तदेव। तारावलं चंद्रबलं तदेव। विद्याबलं दैवबलं तदेव। लक्ष्मीपते तेंघ्रियुगं स्मरामि। लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः। येषामिंदीवरः श्यामो हृदयस्थो जनार्दनः।। विनायकं गुरुं भानुं ब्रह्माविष्णुमहेश्वरान्। सरस्वतीं प्रणम्यादौ सर्व कार्यार्थसिद्धये।। यत्रयोगेश्वरः कृष्णो यत्रपार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम।। अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। स्मृतेः सकल कल्याणं भाजनं यत्र जायते। पुरुषं त्वमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम्।। सर्वेष्वारब्धकार्येषु त्रयस्त्रिभुवनेश्वराः। देवादिशतु नः सिद्धिं ब्रह्मेशानजनार्दनाः।।

विष्णवे नमः। इह च सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीमत् परमपुरुषपरमेश्वर सकलगुणनिधान अतिसुंदर अतिरमणीय जगदाह्लादकारक आनन्दघन कन्दर्पकोटि लावण्यैकदेश प्रसन्नमूर्ति जगत् अज्ञाननिवारक कौस्तुभोद्भासित वक्षस्थल निर्मल निर्मम निरीह निराकार ओंकारगम्य पूर्णानन्द अनेक ब्रह्माण्डाधीश्वरस्य भगवतो वेद पुरुषस्य स्वस्ति श्रीमत् समस्त जगदुत्पत्ति स्थितिलय कारणस्य रक्षाचक्षा विचक्षणस्य प्रणतपारिजातस्य अच्युतानन्दवीर्यस्य श्रीमत् आदिनारायणस्य अचित्य आपपरिमित शक्त्याध्रियमाणस्य महाजलौघ मध्ये वायुवेगेन परिभ्रममाणानाम् अनेक कोटि ब्रह्माण्डानाम् एकतमेऽस्मिन् महति ब्रह्माण्डगोलके तत्वज्ञानावभासमाने श्रीसच्चिदानन्द रूपाधिष्ठिते, अव्यक्त महदहंकार पृथिव्यप्तेजीवाय्वाकाशात् एकैकापेक्षया दशदशोत्तरा वर्णेरावृत्ते तदंतर्वर्तिनि चतुर्दशभुवनतलान्तर्गतेऽस्मिन् इलावर्ते ब्रह्माण्ड खण्डयोर्मध्ये आधारशक्ति श्रीवाराह कूर्मानन्त अष्टदिक कारिणामुपरि प्रतिष्ठिते, तन्मध्यवर्ति संस्थाविशेष विराजमान सकलजगदानन्द अभयंकर चतुर्भुज सकल सुरासर सिद्धचारण विद्याधरादि वन्दित पंचवक्त्रप्रभृतिभिर्नाथैः सनाथीकृत अतल वितल सुतल नितल रसातल महातल तलातल सप्तपातालस्योपरितले धूर्लोक भुवर्लोक स्वर्लोक महर्लोक जनलोक तपोलोक सत्यलोक चतुर्दशभुवन कलाकमनीय तावद्योतमान श्रीविष्णोः मत्स्य कूर्म वराह नृसिंह वामन परशुराम दाशरथीराम श्रीकृष्ण बुद्ध कल्किदशानामवतारेषु नवमे महापुरुष अप्रमेयपराक्रम त्रिविक्रमेण अवनिक्रमणसमय पद नखनिर्भिन्नोर्ध्वकटाहप्रसवन् मंदाकिनी भोगवती गंगापर्यायपरिलसत् ब्रह्मजलविमलीकृत सुभगांतर्देशविशेषे तन्ममध्ये श्रीमत् शेषनागपर्यायोपलक्षित भगवत् परमपुरुषानन्दमूर्ति सहस्रफणामण्डल वर्तमानपक्षान्तरस्वशक्त्यवस्थित पंचाशत्कोटि योजन विश्वंभरामण्डले ऐरावत पुण्डरीक वामन कुमुदाजन पुष्पदन्त सार्वभौम सुप्रतीकाख्य दिक्दन्ति शुण्डादण्डोत्तंभिते अमरावती भोगवती नयनवती सिद्धवती गांधर्ववती लंकावती यशोवतीत्यादि पुण्यपुरीप्रतिष्ठिते इन्द्र अग्नि यम निर्ऋति वरुण वायु कुबेर ईशान ब्रह्म अनन्तादि

* वेदाध्यापकः श्री रामानुजसंस्कृतमहाविद्यालय, वाराणसी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दश दिग्देवता प्रतिष्ठिते पंचाशत्कोटियोजन परिमित लवणोदधिपरिवृते स्वनामानिर्वचनीय विशेषभ्राजमान जंबूद्वीप तावत् योजनसंख्या परिमिते इक्षुरसोदधि वेष्टित स्वनामानिर्वचन प्लक्षद्वीप तावत् योजनसंख्या परिमिते सुरोदधिवेष्टित शाल्मलीद्वीप तावत् योजनसंख्यापरिमिते घृतोदधिलक्षित कुशद्वीप तावत् योजन संख्यापरिमिते क्षीरसागर समभिवृत क्रौंचद्वीप तावत् योजन संख्या परिमिते अतिकमनीय दध्युदधि परिवेष्टित शाकद्वीप तावत् योजनसंख्यापरिमिते विराजमान अतिविशद् विलसत् शुद्धोदकोदधि वेष्टनाह्लादित प्राणिविशेष संसर्गपरिस्फुरत् कांति विशेष समलंकृत पुष्करद्वीपेति सप्तधा स्वनामविशेषप्रकाशमान स्वरूपे लोकालोक गिरिवरवलयित विभ्राजमान परितोदेशविशेषे तन्मध्यवर्तिनि दक्षिणत उत्तरापवर्ग हिमालय हेमकूट निषध नीलाचल श्वेतगिरि श्रृंगगिरि मर्यादिते भारतवर्षे, किम्पुरुष हरिरम्य हिरण्मयोत्तर कुरुवर्षादि षट्क शोभमान पश्चिमतः पूर्वापवर्ग माल्यवत् गंधमादन केतुमाल भद्राश्व वर्षद्वय समन्विते, नैमिषारण्य दण्डकारण्य धर्मारण्य अर्बुदारण्य पवित्रारण्य चंपकारण्य बदरिकारण्य दशारण्य ब्रह्मारण्येति नवारण्यानां मध्ये नैमिषारण्ये, इन्द्र-खण्ड रुक्मखण्ड ताम्रखण्ड गभस्ति खण्डेति नागखण्ड सौम्यखण्ड गांधर्वखण्ड चारणखण्ड भारत खण्डेति नवखण्डात्मके महामानस सरोवराकर पंचाशत्कोटि योजन भूमण्डलस्योपरिस्थिते, मेरु निषध रजतकूट शुभ्रकूट श्रीकूट हिमालय नीलाचल गंधमादन मंदर विंध्याद्रि श्वेतगिरि श्रीशैल सप्तश्रृंग माल्यवान् देवगिरि कैलास चित्रकूट अर्बुदाचलादि महीधर समलंकृते, भरतखण्डे, हरिवर्ष किंपुरुषवर्ष भारतवर्ष कुरुवर्ष भद्राश्ववर्ष इलावृतवर्षादीनांमध्ये भारतवर्षे हिरण्मय मेरु महीधर प्रकाशमान अंतश्चतुस्त्रिंत्सहस्त्र योजनविस्तरे जम्बूद्वीपे स्वाम्यवती कुरुक्षेत्र सुरसरित् गंगा यमुना कावेरी कर्मनाशा वेत्रवती गोदावरी विपाशा सरयू चन्द्रभागा गंडकी सरस्वती नर्मदादि नदी तथा ब्रह्मपुत्र सिन्धु शोणादि नदविशेष विराजमाने पुष्कर प्रयागादि निखिल जनपावन परमभागवतोत्तम शौनकादि सेव्यमान तीर्थवर विराजिते, अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका द्वारावतीत्यादि मुक्तिप्रद स्थले आर्यावर्ते तदंतर्गत सकललोक हित कारक तपोधन गोतम भरद्वाज मार्कण्डेय नारद पराशर व्यास शुकादि सेवित ब्रह्मावर्तैकदेशे अशेषब्रह्मर्षिकृत वसतिके कुमारिकाक्षेत्रे महानद्याः श्रीमद् भागीरथ्यादि सप्त महा अनन्त कोटि कल्प स्थिर स्थायि देहदर्शनमात्र मुक्तिप्रदान्यतमाया नर्मदाया दक्षिणे उत्तरे वा तटे (काशीखंडे विशेषः) गंगातीरे श्रीमद् विश्वेश्वरपरिपालित राजधान्यां समस्त नन्दि भृंग्यादि गणैः काल भैरवादिभिः भैरवगणैः अशेष अमरैः व्यासादिभिः समस्तऋषिभिः सेवितायां प्रवेशमात्रात् अनेक जन्मार्जित अशेष अघौघ निवृत्ति कारिण्याम् ईप्सित फलप्रदायिन्यां वाराणस्यां श्रीमहानद्या उत्तरवाहिन्या गंगायाः पश्चिमेकूले धनुषाकार गंगावधि असीवरुणयोः पश्चिमदिकस्य देहलीविनायक पृष्ठदिक्स्थ कालाक्षि विनायकयोश्च अंतस्थित सोमसूर्यान्वयि भूपप्रतिष्ठापित असंख्यातलिंगोपेते पंचविंशत क्रोशमित पंचक्रोशाख्य तीर्थस्थित अनेकलिंगैः अनेकगणैः अनेकगौरीभिश्च अभिरक्षिते एकयोजनस्वर्गभूम्यावेष्टित मध्यमेश्वरमारम्य देहली विनायक पर्यन्त संस्थापित सूत्र भ्रामणेन संजात रेखा मध्यवर्तिनि पूर्वस्मिन् गंगापारे कालाक्षरण भद्रकालेय कालकंपनाभिषगणचतुष्टय अभिरक्षिते दक्षिणे असीपार व्यवस्थित कर्दमालि प्रविग्रह वीरभद्र नल स्थूलकर्ण महाबाहु परिरक्षिते पश्चिमे देहलीपार्श्वस्थित विशालाक्ष महाभीम कुंभोदर महोदर अभिरक्षिते उत्तरे वरुणा पार्श्वस्थित नन्दिषेण पंचाल खरपाद करण्ड नैरानन्द गोपिकाभिश्च अभिरक्षिते सालोक्यादि क्रमेण सालोक्य सारूप्य सानिध्य सायुज्याधि भुक्ति मुक्तिषु सालोक्य मुक्तिप्रदे श्रीमद्काशीक्षेत्रे तदन्तर्वर्ति असी वरुणा जान्हवी पाशपाणिविनायकमध्यवर्तिनि सारूप्यादिक्रमेण सारूप्यमुक्तिप्रदे वाराणसीक्षेत्रे तन्मध्यवर्तिनि विश्वेश्वरस्य प्रथम प्रदक्षिणक्रमेण मणिकर्णिकेश्वरादि पञ्चत्रिंशद्देवताविराजिते द्वितीय प्रदक्षिण क्रमेण त्रिसंध्येश्वरादि दशदेवता विराजिते, तृतीय प्रदक्षिणक्रमेण चण्डिचण्डेश्वर प्रभृति देवतात्रयविराजिते, चतुर्थं प्रदक्षिणक्रमेण राजराजेश्वरादि देवतात्रय विराजिते पंचम प्रदक्षिणक्रमेण परान्नेश्वरादि देवताचतुष्टय विराजिते षष्ठ प्रदक्षिणक्रमेण मार्कण्डेश्वरादि देवताद्वय विराजिते सप्तम प्रदक्षिणक्रमेण पंचमण्डप सहित गंगेश्वरादि पंचदश देवता विराजिते तन्मध्यवर्ति मणिकर्णिकेश्वर ब्रह्मेश्वर भारभूतेश्वर विराजिते तथा गोकर्ण घंटाकर्ण गणाभिरक्षिते तथा छागवक्र भीषण शंकुकर्ण द्रुमिचण्ड गणाभिरक्षिते सायुज्यमुक्तिप्रदे अंतर्गृहक्षेत्रे एवं चतुर्विधक्षेत्रे सोमेश्वर वायुकोणस्थ आयोध्याक्षेत्र उत्तरादि वरुणापर्यन्तस्थित मथुराक्षेत्र असो संभेद कोणस्थ मायाक्षेत्र बिंदुमाधवमारम्य कृतिवासेश्वर पर्यन्त कांचीक्षेत्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वृद्धकालेश्वरादारम्य कृत्तिवासेश्वर पर्यन्तस्थित अवन्तिकाक्षेत्र शंखोद्धार प्रदेशस्थित द्वारकाक्षेत्र इति षट्पुरी परिसेविते कुरुक्षेत्र स्थाण्वीश्वर नैमिषादि अष्टषष्टि आयतन अधीश संसेविते विशालाक्षी ललिता विश्वभुजादि अनेकगौरी परिरक्षिते ओंकारेश्वर त्रिलोचनेश्वर महादेवादि त्रिचतुर्दश लिंग विराजिते असी संगमादि पंचमहातीर्थ समन्विते पंचनद दशाश्वमेध मणिकर्णिकादि महातीर्थत्रय विराजिते लोलार्क उत्तरार्क साम्बार्कादि द्वादशादित्य सेविते आदिकेशव ज्ञानकेशव ताक्ष्यर्केशवादि अनेक केशव परिसेविते विदारनृसिंह लक्ष्मीनृसिंह निर्वाण नृसिंहादि अनेक नृसिंहसेविते यज्ञवाराहादि अनेक वाराहैः शेष माधवादि अनेक माधवैः अनन्तवामनादि अनेक वामनैः पंचोत्तरशतनारायणैः आदिगणलिंगैश्च संसेविते एकोत्तरशत जलशायिभिः त्रिंशत्कमठ मूर्तिभिः त्रिंशत् मत्स्य मूर्तिभिः अष्टोत्तर शत गोपाल मूर्तिभिः असंख्यात बुद्धमूर्तिभिः त्रिंशत्परशुराममूर्तिभिः एकोत्तरशत रघुनाथमूर्तिभिः एकोनपंचाशत् बलराम मूर्तिभिः संसेविते ढुंढिराजादि षट्पंचाशत् गणपति परिपालिते भगीरथविनायकादि भक्तस्थापितविनायकैः शंकुकर्णेश्वरादि गणलिंगैः परापरेश्वरादि महर्षि लिंगैः, पूर्वसागरेश्वरादि सागरेश्वरैः सनकेश्वरादि महायोगीश्वरैः अत्रीश्वरादि सप्तर्षिलिंगैश्च संशोभिते धुंधुमारेश्वरादि राजर्षि लिंग समन्विते कपालमोचनादि कुण्डैः ज्ञानवाप्यादि वापीभिः लिंगकूपादि कूपैः उत्तरहंस तीर्थादि तीर्थैश्च शतद्वयतीर्थ समन्विते असितांगादि अष्टभैरवैः कालभैरवसहितैः आदित्येश्वरादि नवग्रहेश्वरैः दक्षेश्वरादि अष्टलिंगैः आग्नीध्रेश्वरादि एकादश लिंगैः मुखनिर्मालिकादि नवगौरीभिः शैलपुत्रीत्यादि नवदुर्गादिभिः परिरक्षिते ढुंढिराजादि पंचमहाविनाकैः मंदाकिन्यादिस्रोतिकाभिः अविमुक्तेश्वरादिप्रथमषडंगैः विश्वेश्वरादि द्वितीय षडंगैः ओंकारेश्वरादि तृतीय षडंगैः विष्णुपादोदकादि चतुर्थ षडंगैश्च विलसिते पंचायतन पीठादि अनेक पीठ समन्विते मुक्ति मंडपादि पंचविध मण्डपयुते अविमुक्तक्षेत्रे आनंदवने महाशुभश्मशाने गौरीमुखे अविमुक्तेश्वरादि त्रिकंटक विराजिते हरिश्चन्द्रमंडप गंगाकेशव स्वर्गद्वार ज्योतीरूपेश्वर स्वर्णनदी मध्यवर्ति पंचशत हस्तमित मणिकर्णिका महातीर्थे मध्यान्ह स्नानार्थ समागत षष्टिकोटिशत देवर्षि प्रभृति विलसिते गंगाहृदये समस्त तीर्थ देवतानां सन्निधौ विश्वेश्वरादि समस्त काशीखण्डोक्त देवतानां सन्निधौ च। श्रीमत् सकल जगदाधारस्य आदिनारायणस्य महाविष्णोः नाभिकमलोद्भुतस्य सकल जगत्स्रष्टुः परार्धद्वय जीविनो ब्रह्मणः प्रथम परार्धे प्रथम प्रमाणकलेः पार्थिवकल्प, कौर्मकल्प, अनन्तकल्प, नृसिंहकल्प प्रियकल्प श्वेतवाराहकल्प, अमरकल्पेति सप्त कल्पानां मध्ये श्वेत वाराह कल्पे प्रथम पक्षे प्रथम दिने अन्हो द्वितीये यामे तृतीये मुहूर्ते चतुर्दश मन्वन्तराणां मध्ये स्वायंभुव स्वारोचिष उत्तम् तामस रैवत चाक्षुष षट् मनुनाम् अतिक्रम्यमाणे सम्प्रति वैवस्वत मन्वन्तरे युगानां त्रिघ्ने याते अष्टाविंशतितमे कलियुगे प्रथमचरणे आदिविष्णोः मत्स्यादि दशावतारेषु बौद्धावतारे ततोऽष्टाविंशतितमे प्रथम चतुर्युगान्तरे कलियुगे चतुर्लक्ष द्वात्रिंशत् सहस्राणां व्यतिक्रान्तानां शालिवाहनशके श्रीमन्नृप विक्रमार्क समयातीत संवत् अमुक सहस्र अमुक शत-अमुक तमे वर्षे अमुक नाम्नि संवत्सरे अमुक अयने (दक्षिणायणे उत्तरायणे वा) श्रीमन्मार्तण्डमण्डले वसन्तादि षट् ऋतुषु अमुक ऋतौ प्रभवादि षष्टि संवत्सराणां मध्ये अमुक नाम संवत्सरे चैत्रादि द्वादश मासानां मध्ये अमुक मासे कृष्णशुक्लयोर्मध्ये अमुक पक्षे पंचदशतिथीनां मध्ये अमुक तिथौ सप्तवासराणां मध्ये अमुक वासरे सप्तविंशति नक्षत्राणां मध्ये अमुक नक्षत्रे, सप्तविंशति योगानां मध्ये अमुक योगे सप्तकरणानां मध्ये अमुक करणे अमुक लग्ने, अमुक मुहूर्ते, अमुक राशिस्थिते चन्द्रे, अमुक राशि स्थिते श्री सूर्ये, अमुक राशिस्थिते शनौ, अमुक राशिस्थिते श्री देवराज गुरौशेषेषु ग्रहेषु यथायथा राशिस्थान स्थितेषु सत्सु एवं ग्रहगुण विशेषण विशिष्टायां शुभपुण्यदिने, पुण्यकाले, पुण्यदेशे च गोत्रः (ज्ञानाभावे काश्यपः) शर्म वर्म गुप्त नाम अहं [स्त्री चेत् अमुक नाम्नि अहं] मम अमुक कार्य सिद्धि द्वारा श्री परमेश्वर प्रीत्यर्थम् अमुक कर्म करिष्ये।

॥ इति महासंकल्पः ॥

२. अनंतश्री विभूषितैः करपात्रि नाम्ना प्रसिद्धैः हरिहरानन्द सरस्वती स्वामिपादैः कृतः सारभूतः संकल्पः।

गोत्र····· ····· सर्वेषां प्रतिनिधिभूतः अहम्। धर्म प्रधानके भारत धर्मस्यजयः अधर्मस्यनाशः प्राणिषु सद्भावना विश्वस्य कल्याणं गोवधप्रतिबन्ध पुरस्सरं च धर्मग्लानि अधमभ्युत्थान-निवृत्ति पूर्वक धर्मसंस्थापनार्थम् अमुक कर्म करिष्ये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३. नासिक क्षेत्र निवासी म० म० श्रीधर शास्त्रीवारे कृतः सार्वदेशिकः संकल्पः ।

गोत्रः······ ···· ····अहम् धर्म प्रधानके अस्मिन् भारत भूमण्डले स्थितानां द्विपद चतुष्पदादि समस्त प्राणिवृन्दानां वर्तमान कराल कलिकाल स्वभावतः आभासोपमा छल अधर्म विधर्मादि असदाचार परायणैः उपार्जित दुरित परिपाकवशात् समुत्पन्नानां समुत्पत्स्यमानानां च वेद प्रणाश तत् अश्रद्धाजननास्तिक्य अयाज्ययाजन अपूज्य पूजनादिभिः जनितानाम् अतिवृष्टि अनावृष्टि शलभ शुक मूषक प्रमत्त चौर विजिगीषु राजमण्डल भूकम्प अन्नक्षयादिभिः सम्प्राप्तानां नृपशु तिर्यगादि दारुणमरण धूमकेत्वादि भूत दर्शन स्वराष्ट्रभेदन-परचक्रागमन प्रभृतिभिः कृतानाम् एवमादि देशोप्लव कारकाणां दिव्यान्तरिक्ष भौमोत्पादजन्य महाभयानाम् उपशमनार्थं सनातन धर्माभ्युदय सिध्यर्थं योगक्षेम संसिद्ध्या इह परत्र अभ्युदय-निःश्रेयस साधन द्वारा च श्री परमेश्वर प्रीत्यर्थम् अमुक कर्म करिष्ये ।

४. पं० श्रीकृष्ण वामन देव कृतः वर्तमानः राष्ट्रियः संकल्पः ।

गोत्रः·······अहम् अस्माकं धर्माधारभूते भारतराष्ट्रे विपन्नावस्थायां गतेषु पंचजनात्मक समुदायेषु विशुद्ध राष्ट्रिय चैतन्यप्राप्तिद्वारा सर्वपंथसंप्रदाय समभाव रूपेण सनातन धर्माधिष्ठित भगवदनुशासित लोकशासन स्थापन द्वारा च सर्वेषां भारतीयानां द्विपद चतुष्पदादि समस्त प्राणिजातानां सर्वविध महाभयानां तथा च भारतीयधर्म संस्कृति विरोधिविचारकाणाम् आक्रमणशीलानां राष्ट्राणां भारतवर्षे विविध रूपैः हस्तक्षेपेण समुत्पन्नानां समुत्पत्स्यमानानां विविध महाभयानांच सम्यक् उपशमनार्थं तथैव अन्न वस्त्र निवास ओषधीनां तथा परिवारगत समाजगत राष्ट्रगत जीवनावश्यक वस्तुजातानां पदार्थानां सहज सुलभ रूपेण संप्राप्तये विद्युत् खनिज धातु तैल वाष्प अरण्यगतईंधन पारमाणविक ऊर्जा जलबंध प्रपात नानाविध जलप्राप्ति साधन तथा भूयान जलयान वायुयान अंतरिक्षयान अदृष्टयानादीनां तथा तत्संचारणमार्गाणां संसिद्धये राष्ट्रिय साधनसंपत्तिभिः व्यक्ति चारित्र्य समाजचारित्र्य राष्ट्रिय चारित्र्यादि संप्राप्ति भारत देशस्य समुन्नति पुरुषार्थचतुष्टय सिद्धि द्वारा च श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थम् अमुकदिनात्मक अमुककर्म करिष्ये ।

५. काम्यसंकल्पः

गोत्रः···········अहम् मम आधिव्याधि जराभय भूत भव्य भविष्य उत्पात उपशमन पूर्वक मानुष पूर्णावधि सुखभोगोत्तरं देवपुरी निवास कामः सर्व दुरितापहारि अभीष्ट देवता प्रसन्नार्थं सर्वग्रहकृत वैकृय विघ्नसंघात विघात दुःखस्वप्नादि समस्त अरिष्ट शान्तये अघविध्वंस सिद्धये विष सर्प शस्त्र सरीसृपादि योगिनीकुल भूरिभय निवृत्तये चतुर्वर्ग सिद्धिसाधन सकलमङ्गल सिद्धये च स्व-स्व कर्मवशेन यथा-यथा योनिम् अनुप्राप्तानाम् एकोत्तर शत पूर्वजानाम् उद्धरार्थ तथा गोचरे जन्मकुण्डल्यां वर्षपत्रिकायां राशिकुण्डलिकायां मासकुण्डलिकायां दिवसकुण्डलिकायां च तथा आयुःप्रमाणेन अष्टोत्तरी-विंशोत्तरी-योगिनी-हीनांश-पात्यांश दशानांच तथा मार्तण्डादि ग्रहकृत पीडा उपशान्तिपूर्वक सर्वापत् शान्ति पूर्वक दीर्घायुः विपुल धनधान्य पुत्रपौत्रादि अनवच्छिन्न सत्संततिलाभ ऐश्वर्य आयुरारोग्य सुखसम्पत्ति शत्रुपराजय बहुकीर्ति यशः श्री विद्या विनय जितेन्द्रियत्वादि महा अभीष्टफलानां प्राप्तये च अमुक दिनात्मक अमुक कर्म करिष्ये ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बदायूं जनपद में वर्तमान काल में निम्नलिखित संकल्प सामान्यतः प्रचलित हैं:—

१. ॐ विष्णुर्विष्णुर्विष्णुः । ॐ नमः परमात्मने श्री पुराण पुरुषोत्तमस्य श्री विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्याद्य श्री ब्रह्मणो द्वितीये परार्द्धे श्री श्वेतवाराह कल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टविंशति तमे कलियुगे कलौ प्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भरतखण्डे आर्यावर्तान्तिर्गत ब्रह्मावर्तैक देशे पुण्यप्रदेशे बौद्धावतारे मथुरा मण्डलान्तर्गते[1] (सम्भल, शूकर क्षेत्रे[2]) अमुक (बदायूं) जनपदे अमुक नगरे वर्तमाने यथा नाम सम्वत्सरे (ईश्वर नामके सम्वत्सरे) विक्रमादित्य राज्यतः (२०४१ संख्या के) सम्वत्सरे अमुकायने, महामाङ्गल्यप्रदे मासानामुत्तमे अमुक मासे, अमुक पक्षे, अमुक तिथौ अमुक वासरान्वितायाम् अमुक नक्षत्रे, अमुक राशिस्थिते पूर्वे अमुकामुक राशिस्थितितेषु चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनिषु सत्तसु शुभे योगे, शुभे करणे एवं गुण विशेषेण विशिष्टायां शुभ पुण्य तिथौ सकल शास्त्र श्रुति स्मृति पुराणोक्त फल प्राप्ति काला अमुक गोत्रोत्पन्नः अमुक शर्मा अमुक कार्य सिद्धर्थम् ब्रह्मभोजनं अहं करिष्ये ।

२. ॐ विष्णुर्विष्णुर्विष्णुः । श्रीमद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णु राज्ञया प्रवर्तमानस्य अद्य श्रीब्रह्मणो द्वितीये परार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे, वैवस्वत मन्वन्तरे, अष्टाविंशतितमे कलौ कलियुगे प्रथमचरणे भूःलोके जम्बूद्वीपान्तर्गते भरतखण्डे, अस्मिन वर्तमाने अमुक मासे, अमुक पक्षे, अमुक तिथौ अमुक वासरे अमुक गोत्रोत्पन्न नामाहं विश्वसुख शान्ति करणार्थ समस्त प्राणिनां सुख समृध्यर्थ राष्ट्रोद्धार करणार्थ सत्यहिंसादि सदाचार व्रत पालनार्थ च अमुक कर्म करिष्ये ।

३. ॐ विष्णुर्विष्णुर्विष्णुः । श्री मद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णो राज्ञा प्रवर्तमानस्य तत्सद्य ब्रह्मणोऽह्नि द्वितीयेपरार्द्धे श्री श्वेतवाराह कल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे प्रथम चरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तान्तिर्गत ब्रह्मावर्तैक देशे मथुरा मण्डले, शूकर क्षेत्रे, बदायूं जनपदे, बिसौलीनगरे अमुक मासे, अमुक पक्षे, अमुक तिथौ, अमुक वासरे, अमुक गोत्रोत्पन्नो अमुक शर्माहं श्री भगवदाज्ञया भगवत्कैङ्कर्य रूपं अमुक कार्यं करिष्ये ।

---

१. बदायूं जनपद का आधा तहसील बदायूं, बिसौली, सहसवान तथा गुन्नौर मथुरा मण्डल में है तथा तहसील दातागंज और आधा बदायूं अहिच्छत्र मण्डल में है ।

२. बदायूं-दातागंज शूकर क्षेत्र में, शेष सम्भल क्षेत्र में है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उद्घाटन समारोह

बाएं से : कुलपति प्रो० रत्नशंकर मिश्र (उद्घाटन भाषण करते हुए), प्रो० बी० एन० श्रीवास्तव, डा० ठाकुरप्रसाद वर्मा, श्री मोरोपन्त पिंगले, प्रो० लल्लनजी गोपाल एवं डा० देवीप्रसाद सिंह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समापन समारोह

बाएँ से : पो० कृष्णदत्त बाजपेयी (भाषण करते हुए), प्रो० बी०एन० श्रीवास्तव, शिक्षासचिव, श्री रमेशचन्द्र त्रिपाठी (मुख्य अतिथि), श्री मोरोपन्त पिंगले, डा० देवीप्रसाद सिंह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रेस कान्फरेन्स को सम्बोधित करते हुए

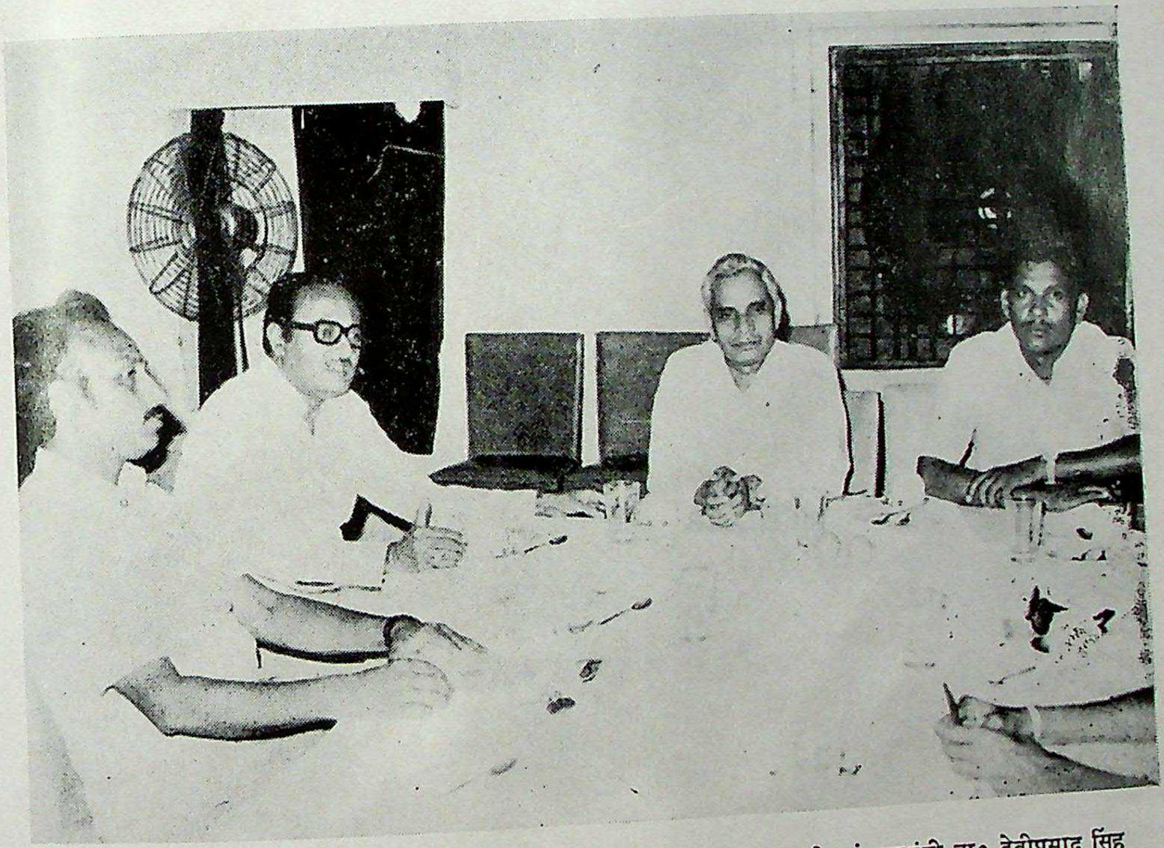

बाएँ से दूसरे संयोजक प्रो० बी० एन० श्रीवास्तव, अध्यक्ष डा० ठाकुरप्रसाद वर्मा एवं महामंत्री डा० देवीप्रसाद सिंह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सप्तम अनुभाग

कार्यवाही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय इतिहास संकलन समिति उ० प्र० महामंत्री की आख्या

१. **भारतीय इतिहास संकलन समिति पत्रिका** का १९८४ अंक **प्रयाग-क्षेत्रीय इतिहास विशेषांक** के रूप में प्रकाशित होने पर उसे देश एवं प्रदेश के विभिन्न भागों में पहुँचाने के लिए आजमगढ़ सुल्लतानपुर एवं उरई की बैठकों में उसकी प्रतियाँ कार्यकर्त्ताओं को दी गयीं। इससे सम्पूर्ण देश एवं प्रदेश में उसका प्रसार सम्भव हुआ। अब केवल थोड़ी सी प्रतियां शेष है।

२. **कानपुर में इतिहास दिवस**—अप्रैल ८४ में अर्मापुर डिग्री कालेज कानपुर में इतिहास दिवस का आयोजन किया गया जिसमें महामंत्री ने इतिहास संकलन समिति के उद्देश्यों एवं कार्यों पर प्रकाश डाला। महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ० यतीन्द्र त्रिपाठी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुए इस कार्यक्रम में कानपुर विश्वविद्यालय से संबंधित अनेक इतिहासज्ञों ने भाग लिया। इसी अवसर पर डॉ० दिनेश चन्द्र सिंह को कानपुर का संयोजक भी मनोनीत किया गया।

३. प्रयाग-सम्मेलन में लिये गये, 'अवध का क्षेत्रीय इतिहास' संकलित करने के लिए लखनऊ विश्वविद्यालय में संगोष्ठी आयोजित करने के निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए लखनऊ में अनेक बैठकें करनी पड़ी जिसमें प्रो० लल्लन जी गोपाल की अध्यक्षता में सम्पन्न बैठक का विशेष महत्त्व है।

४. **लखनऊ में इतिहास दिवस**—प्रो० बी० एन० श्रीवास्तव (आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) के संयोजकत्त्व में दिनांक १२ एवं १३ अगस्त, १९८४ को डिपार्टमेन्ट आफ पब्लिक एडमिनि-स्ट्रेशन में संगोठी सम्पन्न हुई जिसमें देश प्रदेश के विभिन्न भागों से आये लगभग ८० विद्वानों ने भाग लिया।

कार्यक्रम की पूर्व संध्या में दिनांक ११ अगस्त ८४ को संकलन समिति के अध्यक्ष डॉ० टी० पी० वर्मा ने पत्रकारों को सम्बोधित कर संकलन समिति के उद्देश्यों एवं अबतक की प्रगति से अवगत कराया।

१२ अगस्त ८४ को प्रातः ९ बजे से उद्घाटन कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ जिसमें प्रो० बी० एन० श्रीवास्तव एवं डॉ० देवी प्रसादसिंह के स्वागत भाषण के बाद श्री मोरोपंत पिंगले ने विस्तार से संकलन समिति के उद्देश्यों एवं कार्यों पर प्रकाश डाला। लखनऊ वि० वि० के कुलपति प्रो० रत्नशंकर मिश्र ने दीप प्रज्वलित कर कार्यक्रम का उद्घाटन किया। प्रो० मिश्र के उद्घाटन भाषण के बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष प्रो० लल्लन जी गोपाल ने अध्यक्षीय भाषण दिया। महामंत्री डॉ० देवी प्रसाद सिंह के आभार प्रकाशन के साथ उद्घाटन कार्यक्रम समाप्त हुआ।

दोपहर ११-३० से प्रो० कृष्ण दत्त वाजपेयी की अध्यक्षता में प्रथम सत्र प्रारम्भ हुआ जिसमें अवध के क्षेत्रीय इतिहास से संबंधित शोध पत्र पढ़े गये। सायं ३ बजे से द्वितीय सत्र में प्रथम सत्र के बचे हुए शोधपत्र तथा 'आर्य समस्या' से संबंधित शोधपत्र पढ़े गये।

१३ अगस्त ८४ को प्रातः ९ बजे से तृतीय सत्र में 'स्वाधीनता संग्राम में विभिन्न जनपदों का योगदान' से संबंधित शोधपत्र पढ़े गये। सायं ३ बजे से समापन समारोह प्रारम्भ हुआ जिसमें मुख्यअतिथि के रूप में शिक्षा सचिव श्री रमेश चन्द्र त्रिपाठी उपस्थित थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोरखपुर में इतिहास दिवस—लखनऊ-सम्मेलन के निर्णयानुसार 'सरयूपार के इतिहास एवं संस्कृति' से सम्बन्धित सामग्री संकलित करने के उद्देश्य से २५ एवं २६ नवम्बर, ८४ को दिग्विजयनाथ स्नातकोत्तर महाविद्यालय में द्विदिवसीय संगोष्ठी सम्पन्न हुई। डॉ० विजयबहादुर राव एवं डॉ० योगेन्द्र सिंह के संयोजकत्त्व में सम्पन्न हुए इस कार्यक्रम का उद्घाटन परमपूज्य महन्थ श्री अवेधनाथजी महाराज एवं एवं अध्यक्षता प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक (आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय) ने किया। इस संगोष्ठी में पढ़े गये शोधपत्र तथा कार्यवाही अलग से प्रकाशित की जायगी।

देवी प्रसाद सिंह
महामन्त्री

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश
चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन तथा अवध के क्षेत्रीय इतिहास पर संगोष्ठी

प्रो० बी० एन० श्रीवास्तव द्वारा

स्वागत भाषण

कुलपति महोदय, सम्माननीय अतिथियों, देवियों और सज्जनों।

लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास तथा पुरातत्व विभाग और अपनी ओर से मैं आप का सब का स्वागत और अभिनन्दन करता हूँ। हम विशेष रूप से उन विद्वानों के ऋणी हैं जो अवध क्षेत्र के गौरव पर प्रकाश डालकर हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए यहाँ उपस्थित हुए हैं। यह भी एक सुखद संयोग ही है कि यह संगोष्ठी लखनऊ में हो रही है जो उत्तर भारत की सांस्कृतिक तथा शिष्ट परम्परा के लिए प्रसिद्ध रहा है।

इस विशाल देश के धर्म, संस्कृति और कला के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न अंचलों के योगदान के गहन अध्ययन के महत्व के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। अवध के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से कही जा सकती है, क्योंकि अवध नाम ही गौरवशाली अतीत का संकेत करता है, यद्यपि दुर्भाग्य से इसके विषय में हमारा ज्ञान अपूर्ण ही है। इसकी पूर्ति विद्वानों एवं पुरातत्वविदों के द्वारा ही की जा सकती है। इस दृष्टि से भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश के चतुर्थ अधिवेशन के अवसर पर आयोजित प्रस्तुत संगोष्ठी के विषय तथा उसकी महत्ता और उपादेयता स्वयं-सिद्ध है।

अवध का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। परम्परा से इसका सम्बन्ध उन महान् इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के साथ रहा है जो अपनी राजधानी अयोध्या से शासन किया करते थे। यही क्षेत्र हरिश्चन्द्र, भगीरथ और राम जैसे उन गौरवशाली शासकों की कर्मभूमि रहा है, जो हिन्दू संस्कृति तथा विचार-धारा के सर्वोत्तम गुणों से समन्वित थे। इस अंचल का धर्मनिरपेक्ष वैशिष्ट्य इसी से स्पष्ट है कि यहाँ जैन तथा बौद्ध धर्म भी समान रूप से लोकप्रिय थे। एक ओर तो यह क्षेत्र पाँच तीर्थकरों की लीलाभूमि था तो दूसरी ओर यहीं वह शाक्य वंश भी था; जो इक्ष्वाकुओं का ही एक अंग था और जिसने भगवान् बुद्ध को जन्म दिया था। यद्यपि कुछ समय तक इस अंचल की प्रख्यात नगरी अयोध्या का स्थान श्रावस्ती ने ले लिया था तथापि गुप्तवंशीय राजाओं के द्वारा अपने पूर्व गौरव को पुनः प्राप्त करने तक वह नन्दों तथा शुंगों के शासन काल में भी यदा-कदा प्रसिद्धि को प्राप्त करती रही थी।

हिन्दू भारत की अवनति तथा छोटे-छोटे परस्पर विरोधी राजपूत वंशों के अभ्युदय ने कुछ शताब्दियों तक इस अंचल के गौरव को आंशिक रूप से लुप्त कर दिया था। संघर्ष के उस अन्धकारपूर्ण काल में भी इस अंचल में विचारों की उदारता की विशेषता बनी रही। यही कारण है कि यहाँ एक ओर कबीर तथा अनेक मुसलमान सन्तों ने जहाँ इस्लाम तथा हिन्दू धर्मों के बीच एक धार्मिक सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया था वहीं दूसरी ओर अयोध्या में ही रहकर महात्मा तुलसीदास ने हिन्दू धर्म के आदर्शों को पुनरूज्जीवित किया था। भाषा विज्ञान के क्षेत्र में भी इस अंचल का योगदान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यहाँ एक ओर तो हिन्दी की अवधी बोली का विकास हुआ, जिसमें महाकवि तुलसीदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य की रचना की थी और दूसरी ओर लश्करी बोली उर्दू को यहाँ वह कोमलता तथा प्रांजलता प्राप्त हुई जो लखनवी सभ्यता (तहजीब) का एक अंग बन गयी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनेक शताब्दियों की निद्रा के पश्चात् अवध ने पुनः अंगड़ाई ली और अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में अवध के नवाबों के संरक्षण में संस्कृति तथा कला के क्षेत्र में वह पुनः सजीव हो उठा। उसकी दोनों राजधानियों फैजाबाद और लखनऊ और उनके निकटवर्ती स्थान सुन्दर कलाकृतियों से सुशोभित हो गये। सौभाग्य से वे आज भी सुरक्षित हैं और हमें उनपर गर्व है। संगीत, नृत्य, अभिनय और चित्रकला जैसी ललितकलाओं के क्षेत्र में नवाबों, विशेष रूप से अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह, का बहुत महत्त्वपूर्ण तथा स्मरणीय योगदान रहा है। अंग्रेजों के द्वारा उन्हें अपदस्थ कर दिये जाने तक यह परम्परा चलती रही।

अवध का यह अंचल युगों से कला तथा स्थापत्य के क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण रहा है। दुर्भाग्य से यहाँ के स्मारकों को काल, प्रकृति और मनुष्य के निष्ठुर प्रहारों का सामना करना पड़ा। टीलों के रूप में इनके भग्नावशेष सम्पूर्ण अंचल में बिखरे पड़े हैं। अवध के अंचल के सम्बन्ध में ठीक ही कहा गया है कि यदि इसकी धरती को भली-भाँति उलटा-पलटा जाय तो हमारे अतीत पर विशेष प्रकाश पड़ सकता है। विभिन्न स्थलों पर किये गये उत्खननों ने यहाँ की संस्कृति और सभ्यता को ऐतिहासिक काल की सीमाओं से दूर ढकेल दिया है। इन भग्नावशेषों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है जिससे उनका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व हमारे और आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रह सके।

अवध के गौरवशाली अतीत का बहुत कुछ उन परम्पराओं के रूप में शेष है जो हमारे इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। मैं इस विद्वत्समाज का ध्यान इस तथ्य की ओर भी आकृष्ट करना चाहता हूँ कि आधुनिक उन्नति के इस युग में ऐतिहासिक स्थानों तथा टीलों से सम्बद्ध परम्परायें तीव्र गति से विस्मृत होती चली जा रही हैं, क्योंकि नई पीढ़ी उनका मूल्य नहीं समझ रही है। यद्यपि जिले के गजेटियरों में इन अनेक परम्पराओं का उल्लेख है जो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थानों से सम्बद्ध हैं, तथापि ग्रामीण अंचलों में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनमें निहित तथ्यों के संग्रह, सामंजस्य और खोज की आवश्यकता है। न केवल विभिन्न विश्वविद्यालयों के इतिहास विभागों में कार्यरत अपितु अन्य क्षेत्रों में कार्य करने वाले शोधकर्ताओं को भी इसमें जुट जाने की आवश्यकता है। इस प्रकार के कार्यों से आंचलिक इतिहास के अध्ययन के प्रति रूचि उत्पन्न होगी जिससे अज्ञात किन्तु रोचक तथ्यों और स्थानों पर प्रकाश पड़ सकेगा और हमें अवध के अतीत तथा वर्तमान को भली-भाँति समझने में सहायता प्राप्त होगी।

देवियों और सज्जनों! मैं इस संगोष्ठी में होने वाले विचार-विनिमय के सम्बन्ध में पहले से कुछ भी कहना नहीं चाहता हूँ। मैंने केवल इस संगोष्ठी की संक्षिप्त रूपरेखा तथा तथा उसके औचित्य पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। मेरा विश्वास है कि यहाँ पर उपस्थित विशिष्ट विद्वानों का योगदान महत्त्वपूर्ण होगा।

एक निवेदन मैं सम्मानीय प्रतिनिधियों से भी करना चाहूँगा। हम लखनऊ में आप सबके प्रवास को अधिक सुखद बनाना चाहेंगे। हमारा विश्वास है कि हमारी भावनाये उन न्यूनताओं की पूर्ति कर सकेंगी जो हमारे प्रयत्नों के बाद भी रह गयी है।

इन शब्दों के साथ इस ऐतिहासिक नगरी में मैं आप सबका पुनः हृदय से स्वागत करता हूँ। इतनी देर तक आप लोगों ने जिस धैर्य से मुझे सुना है उसके लिए मैं आप सबका विशेष आभारी हूँ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुलपति प्रो० रत्नशंकर मिश्र द्वारा

उद्घाटन भाषण

प्रो० गोपाल, प्रो० श्रीवास्तव, देवियों तथा सज्जनों !

मैं इस संगोष्ठी के आयोजकों का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे इस विद्वत् समाज में उपस्थित होने का सुअवसर प्रदान किया है, जो अवध के समृद्ध अतीत के सम्बन्ध में विचार-विनिमय के लिए उपस्थित हुए हैं। मेरे लिए इस अंचल की उस गरिमामयी उपलब्धियों तथा परम्पराओं के विषय में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है जिन्होंने इतिहास के प्रारम्भ से ही उन धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और कलात्मक विचारों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है और जिन्होंने समस्त देशवासियों के जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है। एक शताब्दी से भी अधिक पहले होने वाले प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में जिन वीर स्त्री पुरुषों ने बलिदान दिया है उनके कार्यों का उल्लेख भी मैं नहीं करना चाहता हूँ। इसका उत्तरदायित्व तो यहाँ पर उपस्थित आप सब विद्वानों तथा भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश के सदस्यों पर है, जिन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास तथा पुरातत्व विभाग के सहयोग से यहाँ अपने चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन का आयोजन किया है। यह भी प्रसन्नता की बात है कि प्राचीन भारतीय इतिहास तथा पुरातत्व विभाग ने इस संगोष्ठी का आयोजन उस समय किया है जब लखनऊ विश्वविद्यालय अपनी हीरक जयन्ती मना रहा है।

विद्वानों तथा जिज्ञासुओं के लिए आयोजित संगोष्ठीयाँ तथा सम्मेलन ज्ञानार्जन के नवीन आयाम प्रस्तुत करते हैं। विचार-विनिमय के माध्यम होने साथ-साथ इनसे अनुसन्धान-कर्ताओं तथा विद्वानों को उस ज्ञान की परीक्षा करने का भी अवसर प्राप्त होता है जिसका संचय वे बड़ी लगन और परिश्रम से करते हैं और जिसका उद्देश्य अतीत और वर्तमान के बीच सम्बन्ध स्थापित करना होता है। इस प्रकार के विचार-विनिमय की महत्ता स्वयं-सिद्ध है, क्योंकि हमारा बहुत सा अतीत अज्ञात है और वह विभिन्न अंचलों में दबा अथवा बिखरा हुआ पड़ा है। इस दृष्टि से आप लोगों के द्वारा जिस विषय का चयन किया गया है वह अत्यन्त सुसंगत है और मेरा विश्वास है कि आप लोगों के विद्वत्तापूर्ण योगदान से अवध के गौरव के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की वृद्धि होगी।

मुझे भलीभाँति ज्ञात है कि जो इतिहासवेत्ता यहाँ उपस्थित हुए हैं उन्हें इस संगोष्ठी में प्रस्तुत विषय तथा उससे सम्बद्ध प्रश्नों पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त समय प्राप्त न हो सकेगा। किन्तु हमारा सौभाग्य है कि इस संगोष्ठी में उत्तर भारत के विशिष्ट इतिहासवेत्ता उपस्थित हैं और मुझे विश्वास है कि वे संक्षेप में ही अपने परिपक्व तथा विस्तृत अध्ययन और अनुसन्धान का सार प्रस्तुत कर सकेंगे।

भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश के चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन और इस संगोष्ठी में आपका स्वागत करते हुए मैं आयोजकों से आशा करूँगा कि वे आप लोगों को इस संगोष्ठी तक ही सीमित न रखेंगे, अपितु वे आप लोगों को इस ऐतिहासिक नगरी के दर्शन का भी समय प्रदान करेंगे।

अन्त में मैं लखनऊ विश्वविद्यालय तथा अपनी ओर से आपका हृदय से स्वागत करता हूँ। हम आपके लखनऊ प्रवास को अत्यधिक सुखद बनाने का प्रत्येक सम्भव प्रयास करेंगे किन्तु हमारी अपनी सीमायें हैं। यदि यहाँ के प्रबन्ध से आप सन्तुष्ट हो सके तो इसका समस्त श्रेय प्रो० बी० एन० श्रीवास्तव, उनके विभागीय सहयोगियों, विद्यार्थियों और शिक्षेणत्तर कर्मचारियों को ही प्राप्त होगा, जिन्होंने इस संगोष्ठी का आयोजन करने के लिए अथक परिश्रम किया हैं। मुझे आप सबके बीच में उपस्थित होकर प्रसन्नता हुई है और मैं भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश के चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर आयोजित इस संगोष्ठी का सहर्ष उद्घाटन करता हूँ और इसकी सफलता की कामना करता हूँ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक १

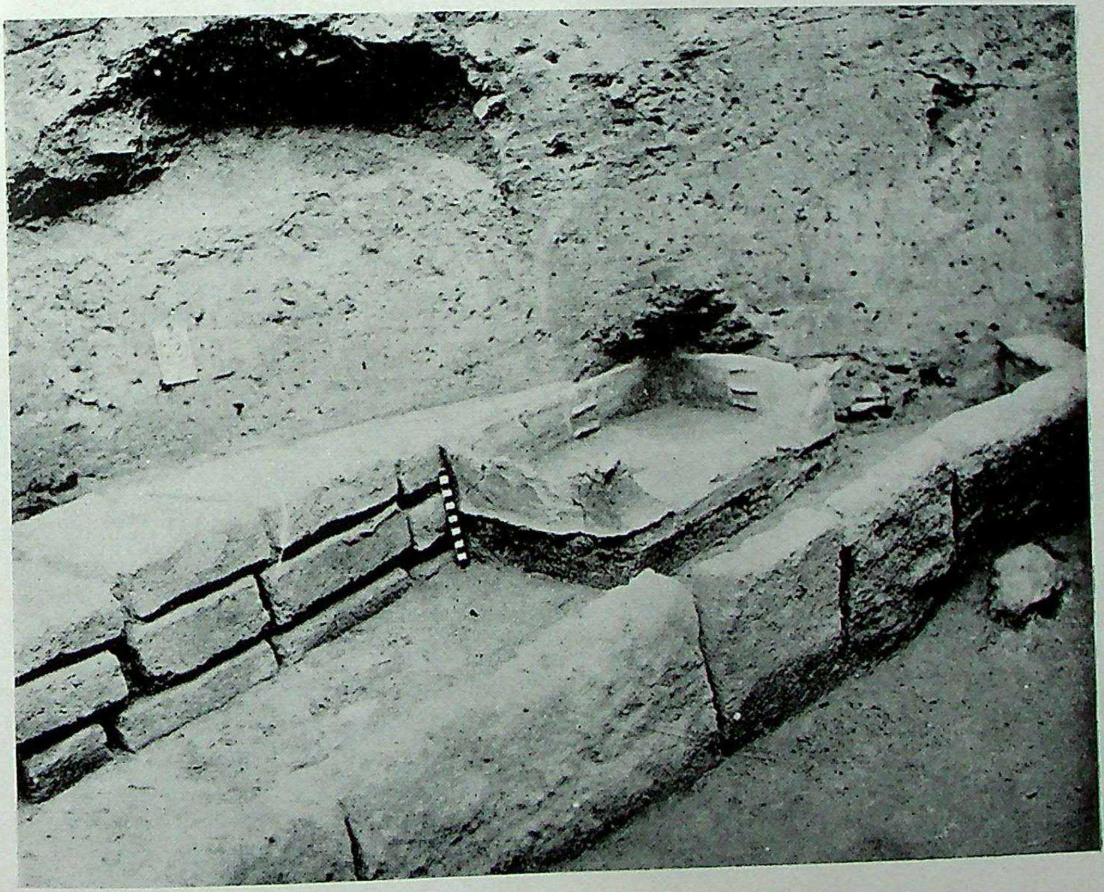

जाजामऊ उत्खनन से प्राप्त मिट्टी का पूजा सरोवर

(क) तुर्कपट्टी सूर्य प्रतिमा

(ख) तुर्कपट्टी सूर्य प्रतिमा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

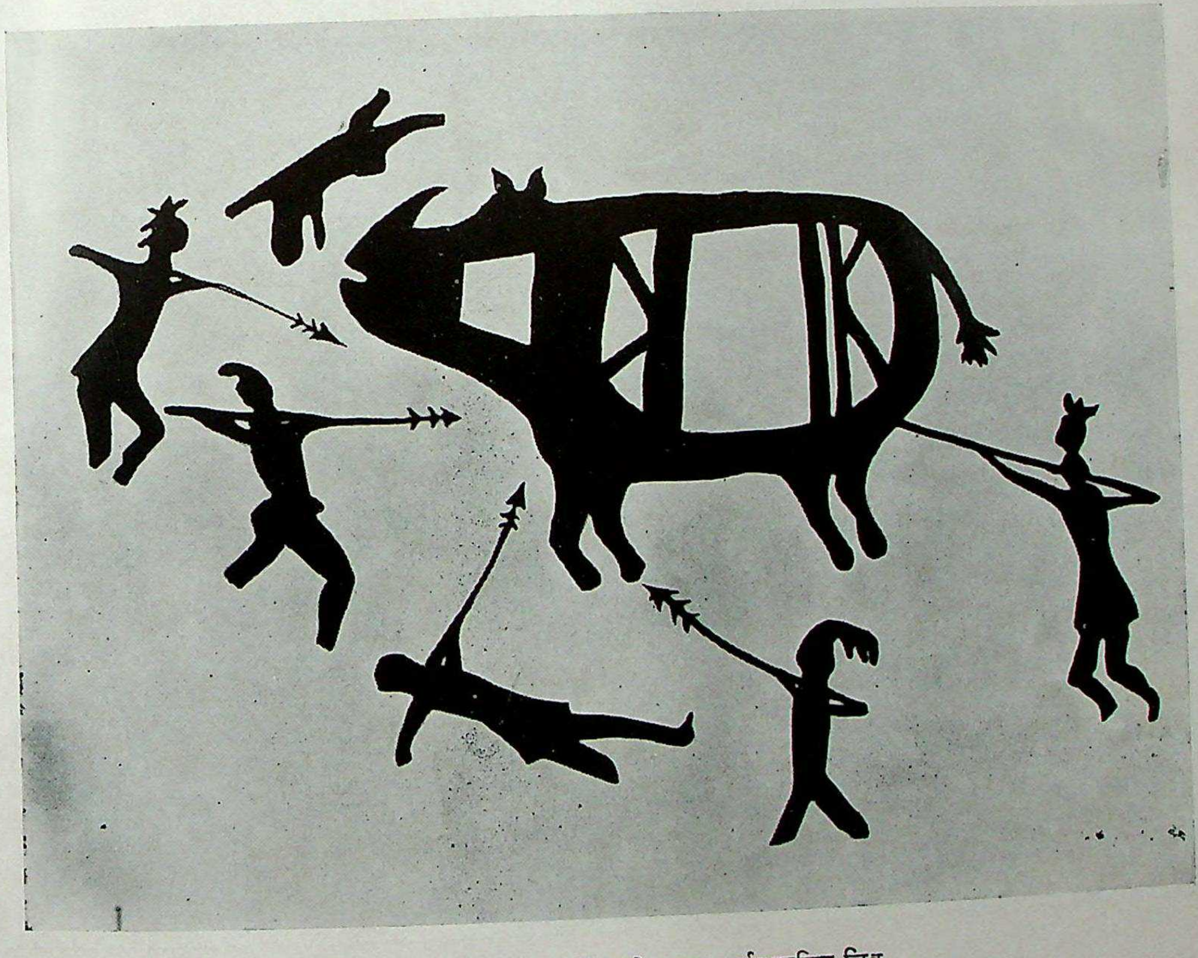

(क) घोडमंगर शैलाश्रय में आखेट दृश्य, पूर्वप्रकाशित चित्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक ४

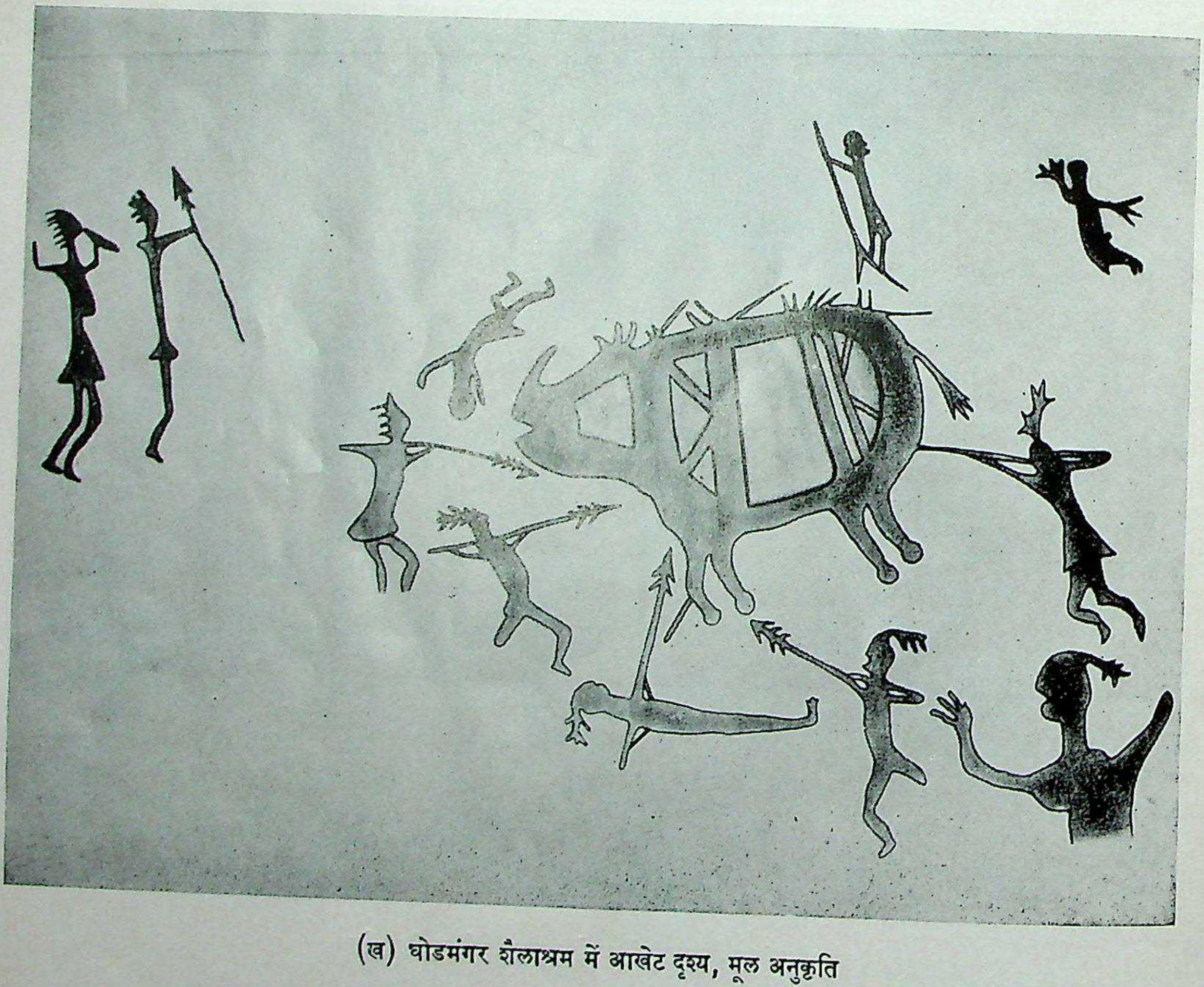

(ख) घोडमंगर शैलाश्रम में आखेट दृश्य, मूल अनुकृति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हार्दिक शुभ कामनाओं सहित :

डॉ० निवास : 81137
फोन : चेम्बर : 81187
सेन्टर : 20538

V D C

VISHAL DIAGNOSTIC CENTRE

Mahakali Mandir, Shastri Nagar,
KANPUR-208005

(*A Unique Diagnostic Complex*)

☐ X-RAY ☐ E. C. G. ☐ PATHOLOGY

विशाल परीक्षण केन्द्र

महाकाली मन्दिर, शास्त्री नगर,
कानपुर-208005

बीणा पब्लिसिटी, लखनऊ

हार्दिक शुभकामनाओं सहित,

'कोई यदि मुझे पूछे कि मानवी अन्तःकरण तथा बुद्धि की परिपूर्णता एवं शक्ति किस देश में चरम सीमा तक पहुँची है ? संसार के गूढ़तम रहस्यों-प्रमेयों का सूक्ष्मतम विश्लेषण किस देश में हुआ है ? प्लेटो, कांट आदि के दर्शन पढ़ने के बाद भी अध्ययन योग्य प्रमेय किस देश में सुलझाये गए हैं ? तो मैं त्रिबार उत्तर दूंगा "हिन्दुस्थान में" ।

—मैक्समूलर (जर्मन विद्वान)

गणेश जलपान गृह

गोलघर-गोरखपुर

बीणा पब्लिसिटी, लखनऊ-४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूरभाष : ३८३५

सरस्वती शिशु मन्दिर प्रकाशन

लाल दरवाजा, कृष्णगंगा, मथुरा (उ० प्र०)

वस्तु भण्डार मूल्य सूची १९८४-८५

क्र०	पुस्तक	विवरण	कक्षा	मूल्य
१.	संस्कृत सोपान	भाग १	(कक्षा द्वितीय)	२.००
२.	संस्कृत सोपान	भाग २	(कक्षा तृतीय)	२.००
३.	संस्कृत सोपान	भाग ३	(कक्षा चतुर्थ)	२.००
४.	संस्कृत सोपान	भाग ४	(कक्षा पंचम)	२.००
५.	आंग्ल भाषा प्रवेशिका		(कक्षा द्वितीय)	४.००
६.	आंग्ल भाषा बोध	भाग १	(कक्षा तृतीय)	३.५०
७.	आंग्ल भाषा बोध	भाग २	(कक्षा चतुर्थ)	३.५०
८.	आंग्ल भाषा बोध	भाग ३	(कक्षा पंचम)	३.५०
९.	अक्षर ज्ञान		(कक्षा शिशु)	५.००
१०.	गौरव गाथा		(कक्षा चतुर्थ)	५.००
११.	इतिहास गा रहा है		(कक्षा पंचम)	५.००
१२.	आचार्य शिष्य संवाद		(कक्षा पंचम)	५.००
१३.	वन्दना		(कक्षा तृतीय, चतुर्थ, पंचम)	१.२५
१४	गणित बोध		(कक्षा द्वितीय)	४.००
१५.	गणित ज्ञान	भाग १	(क्षक्षा तृतीय)	६.००
१६.	गणित ज्ञान	भाग २	(कक्षा चतुर्थ)	६.००
१७.	गणित ज्ञान	भाग ३	(कक्षा पंचम)	६.००
१८.	रामायण की कथायें		(कक्षा द्वितीय)	४.००
१९.	महाभारत की कथायें		(कक्षा तृतीय)	४.००
२०.	सुलेख मार्ग दर्शिका		(कक्षा चतुर्थ, पंचम)	२.५०
२१.	तूलिका	भाग ३	(कक्षा तृतीय)	५.००
२२.	तूलिका	भाग ४	(कक्षा चतुर्थ)	५.००
२३.	तूलिका	भाग ५	(कक्षा पंचम)	५.००
२४.	पाठ्यक्रम			२.००
२५.	सर्वांगीण बाल विकास	(लेखक डॉ० सीताराम जायसवाल)		५०.००.

नियमावली :—

१. ५०) रु० से अधिक की पुस्तकों पर २०% वर्तन (कमीशन) दिया जायेगा ।
२. आर्डर के साथ १५% धन अग्रिम आना आवश्यक है। शेष धन वी. पी. या बैंक द्वारा लिया जायेगा ।
३. राष्ट्रीयकृत बैंक से ही आप बिल्टी मँगायें उसका नाम, पता अवश्य लिखें ।
४. रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें । बिल्टी वापिस आने पर सम्पूर्ण खर्च पार्टी को देना होगा ।
५. रेलवे से माल न पहुँचने पर पार्टी को ही क्लेम करना होगा ।
६. ट्रान्सपोर्ट से माल मँगाने वाले को बिल का पूरा धन अग्रिम भेजना होगा । सामान उधार नहीं दिया जायेगा । बिका हुआ माल वापस नहीं होगा ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवध क्षेत्र के इतिहास पुनर्लेखन एवं संकलन

हेतु किये जा रहे सद्प्रयासों के लिए

पोलर पंखों के निर्माता एवं वितरक

की ओर से

हार्दिक शुभकामनायें

पोलर

पंखे

निवेदक :

निल्सा मार्केटिंग (प्रा०) लि०

तोपखाना बाजार (मेस्टन रोड)

कानपुर-२०८००

वीणा पब्लिसिटी, लखनऊ-४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Made out of th Finest Materials

MANGALORE
GANESH
BEEDIES

Smokers cannot afford to miss them

DAILY SALES EXCEED 8 CRORE BEEDIES

Head Office :

MANGALORE GANESH BEEDI WORKS

Vinoba Road, Mysore-570005

Telephone : 2 0 2 4 1 □ Telegram : "AROMA"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय इतिहास संकलन समिति
परिवार

आपके सहयोग के लिए आभारी है

१. श्री मंगल सेन, ठेकेदार,
द्वारा श्री हरवंस लाल,
४/२७८, विष्णुपुरी, कानपुर १०००)

२. डा० सोमनाथ शुक्ल,
११८/२४३, कौशलपुरी, कानपुर १०१)

३. डा० विष्णुकान्त श्रीधर,
११८/१९३, कौशलपुरी, कानपुर १०१)

४. श्री रामप्रकाश गुलाटी,
शिवकुटी, १२०/९२, लाजपत नगर, कानपुर १०१)

५. श्री एन० एन० गोखले,
७, कुञ्ज विहार, कौशलपुरी, कानपुर १०१)

६. श्री शुक्ल जी,
दर्शनपुरवा, कानपुर १०१)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश

विश्वविद्यालयीय समितियों के संयोजक

१. लखनऊ विश्वविद्यालय क्षेत्र
प्रो० बी० एन० श्रीवास्तव
७, कैंमरन रोड, बादशाह बाग
लखनऊ

२. इलाहाबाद विश्वविद्यालय क्षेत्र
प्रो० सिद्धेश्वरी नारायण राय
२९, लाजपत राय रोड,
नया कटरा, इलाहाबाद

३. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय क्षेत्र
प्रो० पुरुषोत्तम सिंह
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-५

४. गोरखपुर विश्वविद्यालय क्षेत्र
डॉ० विजय बहादुर राव,
२६, क, हीरापुरी कालोनी,
विश्वविद्यालय परिसर,
गोरखपुर-२७३००१

५. अवध विश्वविद्यालय क्षेत्र
डॉ० बाँके बिहारी मणि
श्रीराम जानकी मंदिर (गोरखपुर वाले)
लक्ष्मण घाट, अयोध्या
फैजाबाद

६. अवध विश्वविद्यालय इतिहास संकलन समिति
डॉ० रामकिशोर श्रीवास्तव, अध्यक्ष
विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग,
का० सु० साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
फैजाबाद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh